1 भुवनेश्वर और 'ताँबे के कीड़े'

जीवन परिचय

भुवनेश्वर की रचनाओं में जीवन की विसंगत स्थितियों की गहरी पहचान मिलती है। उनके जीवन के बारे में पढ़ने पर ऐसा महसूस होता है कि यह विसंगति उनके दुखद जीवन से उपजी है। जीवन के यथार्थ को उन्होंने नजदीक से भोगा था। वे व्यवहार कुशल व्यक्ति नहीं थे इसलिए परिस्थितियों के साथ समझौता नहीं कर सके।

भुवनेश्वर का जन्म उत्तर प्रदेश के शाहजहाँपुर जिले में 1910 ई. में हुआ था। उनके पिता का नाम ओंकार बख्श था। अभी भुवनेश्वर डेढ़ साल के ही थे तभी उनकी माता का देहांत हो गया। उनके लालन-पालन की जिम्मेदारी उनकी सौतेली माता पर आ गई। यहाँ से उनके दुखद जीवन की शुरुआत हुई। अभावों से भरी जिंदगी और परिवार में उपेक्षित जीवन ने उनके व्यक्तित्व को सामान्य नहीं रहने दिया। यद्यपि भुवनेश्वर को अपने चाचा महामाया प्रसाद से काफी स्नेह मिला, लेकिन वह उनके घावों को भरने के लिए नाकाफी था। जब भुवनेश्वर चौदह वर्ष के थे, तभी उनके चाचा का भी देहांत हो गया। आर्थिक अभाव और परिवार में उपेक्षित महसूस करने वाले भुवनेश्वर को आखिरकार घर छोड़ना पड़ा। पारिवारिक अंकुश के अभाव में वे स्वच्छंद और स्वेच्छाचारी हो गए। यही उनकी आवारगी का कारण बना।

उनकी प्रारंभिक शिक्षा शाहजहाँपुर में हुई। इंटरमीडिएट तक की शिक्षा उन्होंने बरेली में प्राप्त की। उच्च शिक्षा के लिए वे इलाहाबाद आ गए। साहित्य में उनकी गहरी रुचि थी। यद्यपि वे मेधावी छात्र थे, लेकिन पाठ्य पुस्तकों में उनका मन कम ही रमता था। अपने छात्र जीवन में ही उन्होंने हिंदी के अलावा अंग्रेजी और उर्दू साहित्य का पर्याप्त अध्ययन कर लिया था।

उनकी आरंभिक रचनाएँ प्रेमचंद की पत्रिका 'हंस' में प्रकाशित हुई। उनका संबंध प्रेमचंद से भी रहा। कुछ अर्से तक वे 'प्रगतिशील लेखक संघ' से भी जुड़े रहे। पढ़ाई छोड़ने के बाद उन्होंने इलाहाबाद और लखनऊ को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। रोटी कमाना उन्हें शायद जीवन का सबसे कठिन और नीरस काम लगता था। उनके विषय में फैली कई तरह की

बातों ने उन्हें मशहूर बनाया। वे एक-साथ ही आवारा, जीनियस, पागल सभी समझे जा रहे थे। मृत्यु से लगभग दो साल पूर्व उनकी मानसिक अवस्था अत्यंत चिंतनीय हो गई। 1957 ई. में बनारस की एक धर्मशाला में वे मृत पाए गए। भुवनेश्वर की मृत्यु एक बेचैन जीवन का त्रासद अंत था।

साहित्यिक योगदान

भुवनेश्वर की रचनाशीलता की मूल समस्या थी जीवन में व्याप्त विषमताओं से उपजे कटु यथार्थ को साहित्य में किस तरह प्रस्तुत किया जाए। वे यदि एक ओर सामाजिक यथार्थ की जटिलता को अक्षुण्ण रखते हुए साहित्य में व्यक्त करना चाहते थे तो दूसरी ओर वे व्यक्ति के अंतर्मन में निहित उलझनों, अंतर्विरोधों को भी उतने ही महत्व और प्रभावकारी रूप में प्रकट करने के इच्छुक थे। यह किसी भी रचनाकार के लिए चुनौतीपूर्ण काम था। भुवनेश्वर ने इसके लिए कहानी और एकांकी नाटक विधाओं को चुना। एक विधा के रूप में एकांकी नाटक का रचनात्मक प्रयोग करने में वे इतने दक्ष थे कि आज उनकी पहचान नाटककार के रूप में ही ज्यादा है। एकांकी और कहानी के अलावा उन्होंने कविता और आलोचना के क्षेत्र में भी लेखन किया। उनका साहित्यिक बोध जीवन की निरर्थकता को केंद्र में रखकर गतिशील हुआ था। उनका बौद्धिक संसार बड़ा ही कठोर और मर्मपूर्ण था। प्रेमचंद ने उनके बारे में लिखा था, "भुवनेश्वर प्रसाद जी में प्रतिभा है, गहराई है, दर्द है, पते की बात कहने की शक्ति है, और मर्म को हिला देने वाली वाक्चातुरी है।"

हिंदी एकांकीकारों में भुवनेश्वर की अपनी विशिष्ट पहचान है। उनकी समानता किसी दूसरे एकांकीकारों से नहीं हो सकती। भुवनेश्वर पर इब्सन, बर्नार्ड शॉ, डी.एच. लारेंस जैसे प्रख्यात लेखकों का प्रभाव था। वे फ्रायड की मान्यताओं से भी प्रभावित थे। एकांकी नाटकों को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थितियों पर उनकी अद्भुत पकड़ है, उनको वे पैनेपन और सूक्ष्म व्यंग्य के जरिए व्यक्त करते हैं। उनके पात्रों में बौद्धिक जटिलता है। वे प्रायः किसी-न-किसी मनोग्रंथि के शिकार होते हैं। उनकी अधिकांश एकांकियों में स्त्री-पुरुष संबंध, विवाह, प्रेम आदि से संबंधित मसलों को उठाया गया है। इसमें कितना सामाजिक पर्यवेक्षण से उपजा है और कितना पश्चिम साहित्य का प्रभाव है, इसका अनुमान लगाना मुश्किल है। इतना ज़रूर है कि आधुनिक जीवन की पहचान में वे सबसे आगे रहे। उन पर पश्चिम के एब्सर्ड नाटकों का प्रभाव भी माना जाता है। लेकिन प्रख्यात एब्सर्ड नाटक भुवनेश्वर के एकांकी नाटकों के बाद ही प्रकाशित हुए हैं। वस्तुतः द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की जिन स्थितियों ने एब्सर्ड नाटकों की रचना को संभव बनाया, लगभग वैसे ही स्थितियों से उपजी मानसिकता के प्रभाव में हिंदी का तत्कालीन लेखक भी था।

भुवनेश्वर का पहला एकांकी नाटक 'श्यामा' के नाम से 'हंस' के दिसंबर 1933 अंक में प्रकाशित हुआ था। इसके बाद भी कई एकांकी नाटक इस पत्रिका में प्रकाशित हुए। भुवनेश्वर द्वारा लिखे गए प्रमुख एकांकी नाटक निम्नलिखित हैं :

एक सम्यहीन साम्यवादी (1934)
रहस्य - रोमांच (1935)
लॉटरी (1936)
मृत्यु (1936)
रोशनी और आग (1941)
ताँबे के कीड़े (1946)
इतिहास के केंचुल (1948)

इस बीच उन्होंने तीन नाटकों 'आजादी की नींद', 'जेरूसलम' और 'सिकंदर' की रचना की। भुवनेश्वर की प्रवृत्ति धीरे-धीरे सामाजिक नाटकों से ऐतिहासिक नाटकों की ओर हो रही थी।

1935 ई. में उनका एकांकी संग्रह 'कारवां' प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक ने उनको लेखक के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। इसकी समीक्षा लिखते हुए प्रेमचंद ने कहा था, " 'कारवाँ' हिंदी साहित्य के इतिहास में एक नई प्रगति का प्रवर्त्तक है, जिसमें बर्नार्ड शॉ और आस्कर वाइल्ड का सुंदर समन्वय है।" भुवनेश्वर जीवन में व्याप्त बनावटीपन और हिपोक्रेसी को अपने लेखन का विषय बनाते हैं। उनके नाटकों में दो तरह के पात्र हैं। एक वे जो बाहर से आदर्शवादी नज़र आते हैं लेकिन जिनमें अनेक दुर्बलताएँ - कपटीपन और मिथ्याचारिता व्याप्त हैं। दूसरी तरह के पात्र वे हैं जो अंतर्मन से आदर्शवादी हैं, लेकिन परिस्थितियों ने जिनको कमज़ोर बना दिया है। वे अपनी रचनाओं में मनोवेगों को गहनता और सूक्ष्म विश्लेषण के साथ प्रस्तुत करते हैं। भुवनेश्वर के यथार्थवाद में नग्न सच्चाई झलकती है। उनके नाटकों में दिए गए रंग संकेतों पर पश्चिम के यथार्थवादी रंगमंच का प्रभाव साफ तौर पर देखा जा सकता है।

भुवनेश्वर ने कविताएँ भी लिखी थीं। कुछ कविताएँ उन्होंने अंग्रेजी में भी लिखीं। लेकिन एकांकी नाटकों के बाद उनकी कहानियों पर ही अधिक चर्चा हुई। उनकी कहानियों पर अतियथार्थवाद का प्रभाव नज़र आता है। 'भेड़िए' उनकी प्रख्यात कहानी है। 'मौसी' कहानी को प्रेमचंद ने अपने प्रतिनिधि कहानी संग्रह में स्थान दिया था। 'सूर्यपूजा' एक अन्य महत्वपूर्ण कहानी है। भुवनेश्वर ने निराला पर आलोचनात्मक निबंध भी लिखे थे। कह सकते हैं कि भुवनेश्वर एक प्रतिभाशाली लेखक थे, लेकिन परिस्थितियों ने उन्हें अपना सर्वोत्तम रचने का अवसर नहीं दिया।

रचना के बारे में

'ताँबे के कीड़े' भुवनेश्वर की प्रतिनिधि एकांकी है। इसका रचनाकाल 1945-46 ई0 है। अमृतराय ने नवंबर 1946 में 'हंस' में इसे प्रकाशित किया था। पश्चिम में जिसे एब्सर्ड नाटक के नाम से जाना जाता है उस शैली में यह नाटक लिखा गया है। नाटक में आज की समाज व्यवस्था पर तीख व्यंग्य किया गया है। इस नाटक के पात्र विभिन्न प्रवृत्तियों और मनोवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जीवन की अर्थहीनता के वाहक ये बेचैन पात्र बदलाव के लिए उत्सुक भी नज़र आते हैं। वे यदि एक ओर पुरानी आस्था को नष्ट करना चाहते हैं तो नये का निर्माण भी करना चाहते हैं।

'ताँबे के कीड़े' में न कोई कथा है और न मंच विधान। मंच के नाम पर काला परदा और झुनझुना लिए हुए अनाउंसर स्त्री है। यह नाटक अजीब, शिथिल और गतिहीन लग सकता है। लेकिन एक बार नाटक का सूत्र हाथ में आने के बाद नाटक के अर्थ और प्रभाव से पाठक (और दर्शक) अछूता नहीं रहता। भय और मृत्यु का प्रतिरोध करने का सबसे सशक्त ढंग है : जीवन को जीने लायक बनाना। नाटक का पूरा संघर्ष आदमी को मशीन नहीं बनने देने के लिए है।

इस एकांकी नाटक में कोइ गंभीर कथानक नहीं है। पात्रों की आपसी बातचीत में ही नाटक विकसित होता है। बातचीत में भी कोई तारतम्य नहीं प्रतीत होता। नाटककार का विरोध आधुनिक जीवन की बंधी हुई पद्धति से है। रचना की नाटकीय संवेदना जीवन के बारे में भ्रम टूटने से पैदा होती है। यदि सही भाषा का चुनाव किसी कृति की सफलता का मापदंड माना जाए तो 'ताँबे के कीड़े' एक अद्वितीय रचना है। सतह से अर्थहीन प्रलाप की तरह लगने वाली नाटक की भाषा मानवीय संवेदना के गहरे अनुशासन तथा तीखी अनुभूति से उपजी है। आवाज, चीख और ख़ामोशी का भी अत्यंत अर्थपूर्ण प्रयोग हुआ है। विसंगतवादी रंगमंचीय शैली में लिखा गया यह नाटक दृश्य बंध और दृश्य सज्जा में यथार्थवादी है। नाटक की भाषा हिंदुस्तानी और कहीं-कहीं अंग्रेज़ी शब्दों का भी प्रयोग मिलता है।

शब्दावली

साफा :पगड़ी
शोख : गहरा चमकदार
बेसरोसमान : बिना समान के
आदि मुहूर्त : प्रारंभिक क्षण
एक पत्थर : जड़ता (प्रतीकार्थ)
एक पत्ती : गतिशील भाव (प्रतीकार्थ)
एक शब्द : अभिव्यक्ति क्षमता (प्रतीकार्थ)

जीवन का हसीन संगमरमर : अंतरात्मा (प्रतीकार्थ)
काँच के बीज : कृत्रिम संवेदना के प्रतीक
ईजाद : आविष्कार
पायदार : मजबूत (टिकाऊ)
बादल : भाव (प्रतीकार्थ)
सूरज : बुद्धि (प्रतिकार्थ)
आईना : बुद्धि की छाया (प्रतीकार्थ)
अंधा कुआँ : अंतस्चेतना का अंधेरापन (प्रतीकार्थ)
तहजीबयाफ्ता : शिष्टतापसंद
रिक्शा : निरर्थकता का प्रतीक (मिथ ऑफ सिसिफस की तरह)
मसरूप : कार्यरत
सीटी बजाना : सृजन की आकांक्षा (प्रतीकार्थ)
काँच का सूटर : बाह्य परिस्थितियों के साथ अंतरंग नहीं होना। अनुभवहीनता का बोध होना।
लम्हे : क्षण
मुकम्मिल : संपूर्ण
न्यूरोटिक : मानसिक रोगी

व्याख्या के लिए प्रमुख अंश

1. हम खुद नियम और मनुष्य को कायल कर देते हैं। और हमारे अंदर के अंधकार से शक्ति फूट पड़ती है।

   अना. : **(झुनझुना बजाकर)** हम अपनी आत्मा से रचते हैं, और शरीर से नाश कर देते हैं। कि हम फिर अपने सत्य से उसे सजायें।

   (स्क्रीन के पीछे की आवाजें)

   आओ, हम इसे किसी बाजार में बेच लें। मृत्यु और नाश की इस निर्दय कैमिस्ट्री को क्षण भर के लिए खत्म कर दें, कि हम इन आँखें तरेरते सवालों से बच सकें। हम वही भूली हुई भाषा याद करते रहते हैं ... एक पत्थर, एक पत्ती, एक शब्द!

2. बादलों ने सूरज की हत्या कर दी, सूरज मर गया। मैं दूसरों का बोझ ढोता हूँ। मेरे रिक्शे में आईने लगे हैं। आईने में मैं अपना मुँह देखता हूँ। सूरज नहीं रहा। अब धरती पर आईनों का शासन होगा। आईने अब उगने और न उगने वाले बीज अलग-अलग कर देंगे।

3. मैं एक थका हुआ अफसर हूँ, **(ऊँघा हुआ सा)** मैं बहुत थक गया हूँ। अंधे कुएँ में... जैसे एक-एक करके चीजें जमा हो जाती हैं। कुएँ की डोर....मरी हुई सूखी बिल्ली....बेबी का जाँघिया-टूटा कनस्टर...वैसे ही.... वैसे ही थकान मेरे अंदर जमा हो गई है एक अवसाद और थकान।

4. **(डरकर, नहीं,)** मैं यह सब नहीं करूँगा। तुम ऐसे गैर-रियाज़ शब्द क्यों बोलती हो? मथना ! मैं नहीं जानता कैसे, लेकिन यह जानता हूँ कि यह बात खूबसूरती से कही जा सकती है। नहीं, मैं एकाबरगी शरीर को दिमाग के बंधनों से अलग कर दूँगा। मैं लड़ूँगा, मैं शहीद हो जाऊँगा, मैं अजनबियों की भाषा बोलूँगा **(जैसे वह डूब रहा हो)** मैं सूरज का गला घोंट दूँगा।....मैं.....मैं....

5. **(हिकारत से हँसते हुए)** तुम जानती हो, भय छोड़ देने से क्या होगा? तब मैं कुछ मिटा नहीं सकता, नाश नहीं कर सकता। मुझे बरबस सृजन.... करना होगा **(रुआँसा होकर)**.... और फिर तब हमारी आत्मा और शरीर के मंथन से जो निकलेगा, वह हमें मार डालेगा। हमारा अंत कर देगा। तुम बूढ़ी हो जाओगी। जीवन-क्रीड़ा नन्हीं सी रतन-जड़ी रिस्टवाच की तरह जम जाएगी।

6. **(जोशीली स्पीच)** मैं इसके खिलाफ लड़ूँगा। मैं आंदोलन करूँगा और उन्हें तोड़ूँगा। मैं आलमगीर लड़ाइयाँ करूँगा। देखों मैं क्या करता हूँ। मैं बड़ी-बड़ी लाइब्रेरियों में आग लगा दूँगा। मैं शहरों और पर्वतों को स्याही की बूँद की तरह नक्शे से पोंछ दूँगा। यह आदमी है, जानवर नहीं है। यह केवल अंधा-कुआँ है....मेरी बीबी बादलों में रहती है, पागल आया हम सबको बचाएगी।

व्याख्या का उदाहरण

अभी तो दो मिनट का एक नाच गाना और है। ... और न जाने इस गाने से अंत करने में नाटक लिखने वाले का क्या मतलब है? मेरी समझ से तो पूरे नाटक में ही कुछ हल नहीं होता। पूछे जाने पर नाटक लिखने वाला शायद कुछ ऐसा कहेगा कि 'जिंदगी और नाटक का प्राब्लम ... एक ही है। यानी लम्हे को मुकम्मिल कर देना। विरोध और विद्रोह को एक स्वर करना और उसमें एक केंद्रीय महत्व यानी सेंट्रल सिगनीफिकेंस हासिल करके उसका दर्शकों पर एक फीका असर उपजाना, कि वह उनकी बुद्धि, विचार और नज़र को उकसाए।'

संदर्भ-संकेत

हिन्दी एकांकीकारों में भुवनेश्वर का स्थान प्रमुख है। उनकी एकांकी आधुनिक संवेदना के निकट है। उनकी रचनाओं में आधुनिक जीवन के विसंगतिबोध का नीरव स्वर सुनाई पड़ता है। जीवन की जड़ होती हुई संवेदना के प्रति उनमें गहरी चिंता का भाव है।

उपर्युक्त अंश 'ताँबे के कीड़े' शीर्षक एकांकी में से लिया गया है। इसका प्रकाशन काल 1946 ई. है।

यह अंश नाटक के अंत में स्त्री अनाउन्सर द्वारा नाटक पर टिप्पणी से लिया गया है। महिला अनाउन्सर के इस संवाद में नाटकीय मर्म का रहस्य छुपा हुआ है। भरतवाक्य के रूप में नाटकीय उद्देश्य को यहाँ रखा गया है। नाटककार की चिंता यहाँ नाटक को न समझने के प्रति है।

व्याख्या-संकेत

नाटक खत्म नहीं हुआ है। नाटक जीवन के साथ-साथ चलता रहता है। इसलिए समाप्त नहीं होता। नाटक के अंत को सरस बनाने के लिए नाटक के अंत में नाच गाना रखा गया है। उस गाने में लय नहीं है। जिस तरह से जीवन से लय की समाप्ति हो चुकी है, उसी तरह से नाटकीय लय भी खो गई है। नाटक और जीवन दोनों समानांतर चलते हैं। दर्शक के मन में जो खीझ और सवाल पैदा होंगे, उसकी चिंता नाटककार में है। वह स्वयं उससे आशंकित है। जिन्दगी की उद्देश्यहीनता और निरर्थकता की छाया नाटक पर भी पड़ती है। जीवन में समस्या का हल नहीं समस्या की शुरुआत होती है।

जिन्दगी का हिस्सा होने के कारण दोनों की समस्या में समानता है। क्षण को संपूर्णता में जीना। इसे अस्तित्ववादियों ने अपनाया था। जीवन को क्षण में बाँटकर उसका आस्वादन करना। नाटक में एक क्षण दूसरे क्षण से मिलकर संपूर्णता में कुछ सृजन करते हैं। जीवन क्षण में ठहरा हुआ नहीं क्षणों के युग्म में कुछ रचता हुआ होता है। ब्रेख्त ने एपिक थियेटर के सिद्धान्त में पहली बार दर्शक को नाटक में हस्तक्षेप करने का संकेत दिया था। दर्शक की बुद्धि को प्रेरित करना, नाट्यमंचन के दौरान उसको सचेतन रखना उसका उद्देश्य था। यहाँ भुवनेश्वर नाटक के संपूर्ण सामाजिक उद्देश्य का बोध कराते हैं। नाटक मात्र मनोरंजन के लिए नहीं है। उसका कुछ उद्देश्य है तो यही कि, नाटक के केन्द्रीय कथ्य से दर्शक-समाज की बुद्धि को सक्रिय रखना है। इसी अर्थ में नाटक सामाजिक विधा है, जिसका प्रभाव सीधा होता है।

भुवनेश्वर में न्यूरोटिक होने के दर्प और पीड़ा का अहसास है। सृजन में कुछ न कुछ नया होता है। जो हमारी पुरानी मान्यताओं, आस्थाओं और रूढ़ियों पर प्रहार करता है। एक महत्वपूर्ण रचना वह नहीं है जो एक ढाँचा और एक पद्धति का निर्माण करती है। अपितु वह है जो हमारे बने बनाये प्रतिमानों को तोड़ देती है। इसीलिए तो कबीर के यहाँ जब ज्ञान की आंधी चलती है तो कुछ नहीं बचता एक-एक खंभा गिर जाता है। जमाने की समझदार निगाहें उन्हें भी न्यूरोसिस कह सकती है। परंतु यह सच है ऐसे आत्म विश्वासी लोगों में ही कुछ नया रचने की ताकत होती है। हमारे जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी

शायद यही है कि हम पद्धतियों, रूढ़ियों और सीमाओं के बीच जीने के आदी हो गए हैं। नये विचार से हम भय खाते हैं। उसे अपनाने से घबड़ाते हैं। अपनी सीमाओं और मर्यादाओं का ढाँचा खड़ा करने की अपेक्षा क्रांतिकारी विचार को ही पागलपन करार दे देते हैं। गैलेलियों का उदाहरण बड़ा अच्छा है। उसे सच बोलने के लिए जीवन का बलिदान देना पड़ा। समाज की इन व्यवस्थाओं और व्यवहारों से ऊब कर नाटककार कहता है कि पूरे नाटक में मतलब नहीं है, वह हमें केवल भरम में डाल रहा है।

इस पूरे प्रसंग में नाटककार का एक उद्देश्य निहित है। वह नाटक का उद्देश्य समझाने के साथ-साथ हमें विचारों के खुलेपन में ले जाता है। वह किसी भी रूढ़ि के खिलाफ है। व्यक्तित्व का आकार इतना छोटा नहीं होना चाहिए कि उसमें हमारे नये भाव बोध को जगह न मिल सके।

नाटक की व्याख्या इसी विचार क्रम में करनी चाहिए।

विशेष-संकेत

नाटकीय मौन का कुछ सार्थक प्रयोग देखने को मिलता है।
नाटककार ने नाटक में भाषण कला शैली का अच्छा प्रयोग किया है।
बोलचाल के अंग्रेजी और उर्दू के शब्दों का प्रयोग किया गया है।

सहायक पुस्तकें

हिन्दी नाटक : बच्चन सिंह, राजकमल प्रकाशन लि., नई दिल्ली
भुवनेश्वर की रचनाएँ - डॉ. शुकदेव सिंह
भुवनेश्वर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व - राजकुमार शर्मा

मूल पाठ : एकांकी

ताँबे के कीड़े

पात्र

महिला अनाउंसर
रिक्शेवाला
थका अफसर
एक परेशान रमणी
एक मसरूफ पति
कुछ लड़के
पागल आया

(यह नाटक ड्राइंगरूम के लिए ही है।)

एक दीवार से जरा हटाकर काला स्क्रीन खड़ा किया गया है जिसके बराबर अनाउंसर **(जिसे स्त्री ही होना चाहिए)** खड़ी है। अनाउंसर के कपड़े रंग-बिरंगे होते हैं। एक फूलदार ड्रैसिंग गाऊन, रेशमी साफा और एक शोख चौड़े कमरबंद से काम चल सकता है। उसके हाथ में एक बड़ा-सा तिब्बती लामाओं का-सा झुनझुना है।)

अना.: **(हाथ के झुनझुने को हिलाकर)** अकेले और बेसरोसामान हम इस संसार में आए।

स्क्रीन के पीछे से कुछ गंभीर मर्दानी आवाज़ें :

कौन-कौन यहाँ सदा अकेला नहीं रहा? किस किस ने अपने पड़ासी का चेहरा पहचाना?

स्त्री : किसने-किसने अपनी आत्मा में जीवन के आदि मुहूर्त को सिसकते-सुबकते नहीं सुना?

अकेले और बेसरो-सामान हम भूले हुए रास्ते खोजते हैं। हम अपना खोया हुआ भाई तलाश करते हैं, जो बचपन में घर छोड़कर चला गया है। एक पत्थर, एक पत्ती, एक शब्द...जिसके पीछे एक अनजानी और अनहोनी शुरूआते हैं।

(अनाउंसर झुनझुना हिलाती है, आवाज़ें रुक जाती हैं।)

अना. : हम सवाल उठाते हैं.....

(स्क्रीन के पीछे की आवाज़ें)

हम खुद नियम और मनुष्य को कायल कर देते हैं। और हमारे अंदर के अंधकार से शक्ति फूट पड़ती है।

अना. : **(झुनझुना बजाकर)** हम अपनी आत्मा से रचते हैं, और शरीर से नाश कर देते हैं। कि हम फिर अपने सत्य से उसे सजायें।

(स्क्रीन के पीछे की आवाजें)

आओ, हम इसे किसी बाजार में बेच लें। मृत्यु और नाश की इस निर्दय कैमिस्ट्री को क्षण भर के लिए खत्म कर दें, कि हम इन आँखें तरेरते सवालों से बच सकें। हम वही भूली हुई भाषा याद करते रहते हैं ... एक पत्थर, एक पत्ती, एक शब्द!

अना. : **(झुनझुना हिलाकर)** हम सवालात पैदा करते हैं। **(झुनझुना हिलाकर)** जो समय और ऋतुओं का दर्पण दमकते हुए हीरों की तरह काट देते हैं। सवालात जो वीरान सड़कों पर छिपे हुए जालों की तरह बिछे रहते हैं।)

(झुनझुना)

हम मृत्यु को निरुत्तर कर देते हैं।

(जोर से झुनझुना बजाती है)

मृत्यु हमारे सिरहानें लोरियाँ गाती है। हम अपनी जानें खतरे में डाल सकते हैं, पेंशनें नहीं।

गांग

(अब बत्तियाँ बुझाई जा रही है। एक मिनट में पूरा अंधेरा हो जाता है, सिर्फ अनाउंसर एक फीकी फुटलाइट में काली स्क्रीन के सामने दमकती रहती है।)

अना. : **(गंभीर स्वर)** जीवन का संगमरमर ।

जीवन का हसीन संगमरमर।

जीवन का घायल सगमरमर।

खून बहता हुआ संगमरमर।

(झुनझुना)

(स्क्रीन के पीछे)

एक आवाज : **(पुरुष)** यहाँ क्या हर वक्त पानी बरसता है? यह कैसी घटा उमड़ रही है!

दूसरी : भीग जाएँगे, मर जाएँगे, हम इस तरह अपनी जानें खतरे में नहीं डालेंगे।

तीसरी : तुम बिस्तर में ही रहो, तुम्हें जुकाम है, तुम्हें निमोनिया भी हो सकता है।

(स्त्री की आवाज)

निमोनिया तो बहुत साधारण है, क्यों क्या मुझे पैंडीज डिज़ीज नहीं हो सकती है?

(एक आया की आवाज)

बाबा ! **(पुकारती है)** जान बाबा, मशालची बाबा....तुम घर से कितनी दूर निकल जाते हो। मैं कब से तुम्हारा सूटर तुम्हें ढूँढ रही हूँ।

(स्त्री की आवाज)

हम तो यहाँ खड़े-खड़े अकड़ गए, कितनी जोर से पानी आया है, मेरे सारे बीज सड़ जाएँगे।

(एक और आवाज)

हमारी सबसे नई ईज़ाद। काँच के बीज। इनको बराबर नहीं बोना पड़ता। एक बार बोओ, हज़ार बार काटो। यह सड़ते नहीं। उगने से इंकार नहीं करते।

(अनाउंसर झुनझुना बजाती है)

अना. : सीसे के बीज काँच के बीजों से ज्यादा पायदार होते थे।

(रिक्शे की घंटी की आवाज)

रिक्शेवाला : बादलों ने सूरज की हत्या कर दी, सूरज मर गया। मैं दूसरे का बोझ ढोता हूँ। मेरे रिक्शे में आईने लगे हैं। आईने में मैं अपना मुँह देखता हूँ। सूरज नहीं रहा। अब धरती पर आईनों का शासन होगा। आईने अब उगने और न उगने वाले बीज अलग-अलग कर देंगे।

थका अफ़सर : मैं एक थका हुआ अफसर हूँ, **(ऊंघा हुआ सा)** मैं बहुत थक गया हूँ। अंधे कुएँ में...जैसे एक-एक करके चीजें जमा हो जाती हैं। कुएँ की डोर....मरी हुई सूखी बिल्ली....बेबी का जाँघिया-टूटा कनस्टर...वैसे ही....वैसे ही थकान मेरे अंदर जमा हो गई है एक अवसाद और थकान।

रि.वा. : **(तेज़ी से)** आह, अफ़सर ! आगे देखकर चलो।

(टकरा जाता है) आह ! तुमने मेरा एक आईना तोड़ दिया।

(अनाउंसर हँसती है - झुनझुना बजाती है।)

(स्त्री की आवाज)

साधारण और अलसाई मैं ऊब गई हूँ। मेरा मन उचट गया। मैं सारा संसार मथूँगी अपने अंदर बाहर, सब मथूँगी। लेकिन चुपके से जैसे किसी को मालूम न हो।

(कुछ रुककर - जैसे किसी ने कुछ कहा - एक धीमा स्वर) 'कितनी प्यारी है, है तुम्हारी हंसी.... चाँदनी सी'....

नहीं, मेरी हँसी में न सूरज है न चाँद। मुझे यह सब सोचने का वक्त नहीं है। मुझे बहुत कुछ करना है

(धीमे से) मुझे....तुम्हें भी मथना है।

(कुछ अस्पष्ट आवाजें। अनाउंसर भी अपना झुनझुना हिला रही है, पर उससे कोई आवाज नहीं निकलती।)

नहीं.....नहीं.....सँवारने का काम भी मेरा ही है।

(धीरे से) मेरा सिर्फ काम है मथना, सृजन जिस बेरहम कानून से होता है, यह तुम जानो। आह, इस बालक के चेहरे पर तो झुर्रियाँ हैं। इसकी हँसी में तो मधुमक्खियाँ हैं।

(अनाउंसर हँसती है और झुनझुना बजाती है।)

(उसी स्त्री की आवाज)

तहजीबयाफ्ता सर्दी में आदमी की फीलिंग्स भी जम जाती है। जानते हो तुम स्वीटहार्ट, इतनी देर से तुमने जो कुछ कहा, मैंने कुछ सुना ही नहीं। शब्द तो बड़े सुंदर थे - बिलकुल बच्चों की तरह।

एक मस. पतिः इसीलिए तो मैं शराब पीता हूँ। मैं सोचता हूँ अभी जाकर पियूँगा, पीता जाऊँगा, पीता जाऊँगा, पीता जाऊँगा....जब तक कि मैं फिर से एक बच्चा न हो जाऊँ....फिर तब शायद जो मैं कहूँगा, वह तुम्हें समझना ही पड़ेगा।

स्त्री : देखो, तुम अपनी आत्मा मथते क्यों नहीं, तुम अपना शरीर क्यों नहीं मथते....

मस. पति : **(डरकर)** नहीं, मैं यह सब नहीं करूँगा। तुम ऐसे गैर-रियाज़ शब्द क्यों बोलती हो? मथना ! मैं नहीं जानता कैसे, लेकिन यह जानता हूँ कि यह बात खूबसूरती से कही जा सकती है। नहीं, मैं एकबारगी

शरीर को दिमाग के बंधनों से अलग कर दूँगा। मैं लड़ूँगा, मैं शहीद हो जाऊँगा, मैं अजनबियों की भाषा बोलूँगा **(जैसे वह डूब रहा हो)** मैं सूरज का गला घोंट दूँगा।....मैं.....मैं.....

(अनाउंसर हँसती है और झुनझुना बजाती है।)

(एक परेशान रमणी का स्वर)

ओफ़ ! तुम्हारा इंतज़ार करते-करते तो हम बूढ़े हो चले थे। यदि तुम्हारा सात बजे आने का वायदा है। यह क्या? तुम्हारा चेहरा क्यों उतरा है? तुम क्या बीमार हो? डर गए हो कहीं? क्या बात है? तुमने कहीं कुछ देखा है?

म. पति : मैंने कुछ देखा है जरूर, लेकिन इस वक्त मालूम होता है, मैंने देखा नहीं, सिर्फ़ सुना है।....

(अनाउंसर स्क्रीन से सटे हुए स्टूल पर बैठ जाती है।)

....मैंने सुना कि इन बादलों से कोई निकल कर मुझसे बातें करने लगा। तभी हुई बेलाग बातें -- जैसे कोई मन ही मन घुटने वाला आदमी पहली बार शराब पीकर करता है....

परे. रमणी : तब तुमने क्या किया।

मस. पति : मैंने, मैंने कुछ नहीं किया। मैंने थोड़ी-सी शराब और पी ली और निर्मला के घर गया। ऐसे ही जरा-सा दिल बहलाने।

परे. रमणी : किसका, अपना या निर्मला का? तुमने फिर शराब पी, तुममें कोई कैरेक्टर नहीं है। तुम आदमी से खींचे जाने वाले रिक्शे पर भी बैठ सकते हो....तुम तो लड़खड़ा रहे हो।

(रिक्शे की घंटी। अनाउंसर झुनझुना काली स्क्रीन से टिकाकर आडीटोरियम में बैठ जाती।)

परे. रमणी : रिक्शेवाले, जल्दी ले चलो। साहब की तबियत ठीक नहीं है।

रि. वा. : **(घंटी बजाता है, जैसे अभी जगा है)**

मस. पति : वहाँ दूर ऊनी बादलों में।

रि. वाला : अहा ! तुम भी वैसी ही बातें कहते हो। अभी तो थके हुए अफ़सर ने इससे कहा कि यह अंधा कुआँ नहीं है, यह रिक्शा है। मेरे रिक्शे में शीशे हैं। पागल आया ने मेरा एक शीशा तोड़ डाला। नहीं-नहीं !

परे. रमणी : **(रिक्शे वाले से)** किससे कहा तुमने कि यह कुआँ है?

रि. वाला : **(घंटी बजाते हुए)** किसी से नहीं। मैं जरा कुछ सोचता सा बहुत थक गया था, अभी मैंने ऐसा देखा। एक अफ़सर मेरे पास आया, वह बहुत थका हुआ था। कुछ सोचकर वह भी शायद बेहोश हो गया था।

परे. रमणी : अच्छा आगे देखो...!

(रिक्शे की घंटी)

परे. रमणी : **(पति से)** तुम निर्मला के घर गए थे, निर्मला ने मेरे बारे में कुछ कहा था? मुझे पूछा?

मस. पति : **(स्वप्निल)** निर्मला ने कहा? निर्मला ने कुछ नहीं कहा। निर्मला ही तो बादलों में चली गई थी.... तुमने सुना.... मुझे आज लगा, निर्मला ऊनी बादलों में रहती है। .... ऊनी बादलों में।

(अना. आडीटोरियम से लपककर झुनझुना बजा देती है। आवाज़ें रुक जाती हैं।। वह फिर झुनझुना बजाती है....कुछ लड़के हँसते शोर मचा रहे हैं। (थका हुआ अफसर भी वही है)

थका अ. : मैं अफ़सर हूँ, लेकिन बहुत थक गया हूँ।
जवानी में मैंने हज़ारों खोपड़े चटकाये हैं अब सिर्फ़ उँगलियाँ चटकाता हूँ - कभी-कभी मज़ाक भी चटका लेता हूँ। अंग्रेज़ी जानते हो ?.... 'क्रैक ए जोक' क्रैक ए पिन।'

(लड़के हँसते हैं)

थका अ. : अच्छा बच्चों, अब एक पहेली बूझो **(ताली बजाकर मंदु लहजे में)**.....कालेज के बच्चों, बूझो - क्या तुम ऐसी चिड़िया का नाम बता सकते हो, जो उमड़ती निडर घटाओं के बीच नाचती है, जिसके पर में आठ रंग होते हैं... पर....जो कुत्ते की तरह भौंकती है।

ए.ल. : (रुआँसा) नहीं।

थका अ. : **(खुशी से तालियाँ पीटकर नाचने लगता है)** तुम नहीं बता सकते, तुम अभी बच्चे हो। मैं जानता था, तुम नहीं बता सकोगे।....अरे, मोर....मोर,....मोर तुम नहीं जानते?....मोर....

ए.ल. : **(कड़क कर)** लेकिन मोर भौंकते कहाँ हैं?

(परेशान रमणी की हँसी उभरती है)

थका अ. : **(गंभीर)** यही तो भेद है, और नहीं तो तुम बूझ न लेते। और इसमें मज़ाक ही क्या था?

परे मरणी : **(जैसे भौंककर)** मुझे नहीं मालूम, मैंने तुमसे शादी क्यों की।

अनाउंसर झुनझुना बजाती है। अब वह गंभीर हो जाती है। रमणी हँस रही है - भयानक हँसी, अनाउंसर झुनझुना जोर-जोर से बजाती है। रमणी की हँसी धीरे-धीरे मधुर हो जाती है। तब अनाउंसर आडीटोरियम में आकर बैठ जाती है। स्त्री का अब बोलना शायराने लहजे में - डूबा-डूबा सा है।

परे. रमणी : मेरी तरफ देखो। तुमने कभी मेरे बारे में यह नहीं सोचा कि मैं बादलों से निकलकर आई हूँ या बादलों में रह सकती हूँ। तुम निर्मला ही के बारे में यह बातें सोच सकते हो। मेरे लिए तुम....

मस. प. : मैं सोचता कहाँ हूँ। सुनता हूँ.....और खुद देखता हूँ, मैं देखता हूँ, मैं सिर्फ देखता हूँ।.... बहुत-सी बातें देख लेता हूँ। और बाद में मेरी कोशिश यह रहती है कि जो मैंने देखा है, कोई भी, खासकर..... तुम न देखो। और इसलिए जो मैं देख लेता हूँ, उसे फ़ौरन फोड़ना चाहता हूँ।....मैं.....मैं तुमसे प्रेम जो करता हूँ।

परे. रमणी : क्यों? अगर मैं देख लूँगी, तो क्या होगा?

मस.प. : **(बड़ी सहूलियत से)** नहीं, मैं चाहता हूँ कि तुम सिर्फ सुनो.....तुम सुन लोगी तो मेरा अंत हो जाएगा बिलकुल इस तरह !

परे. रमणी : **(बिना डरे)** क्यों, तुम हमेशा इस तरह बात क्यों करते हो ? तुम इतने....

मस. प. : क्योंकि मैं इतना डरा हुआ हूँ। तुमने ठीक कहा.... देखो, मैंने सुन लिया न।

पा. आया : **(दूर से)** बाबा, जान बाबा....! मशालची बाबा ! तुम खेलने बड़ी दूर चले जाते हो। .... तुम्हारे सूटर में कीड़े लग रहे हैं।

पागल आया की आवाज से पति चौंक पड़ता है।

मस. प. : नहीं.....मुझे ज़रूर नाश करना चाहिए। मैं अपना डर दबा सकता हूँ, लेकिन मैं उसे उखाड़ फेंकना चाहता हूँ।..... क्या मुसीबत है संसार में भय के नाश करने का मतलब है संसार का नाश करना।

परे. रमणी : लेकिन तुम भय पैदा ही क्यों करते हो? मालूम होता है, तुम सिर्फ भय ही भय खाते हो, तुम मुझे कुछ बतलाते क्यों नहीं?

मस. प. : **(हिकारत से हँसते हुए)** तुम जानती हो, भय छोड़ देने से क्या होगा? तब मैं कुछ मिटा नहीं सकता, नाश नहीं कर सकता। मुझे बरबस सृजन...करना होगा **(रुआँसा होकर)**... और फिर तब हमारी आत्मा और शरीर के मंथन से जो निकलेगा, वह हमें मार डालेगा। हमारा अंत कर देगा। तुम बूढ़ी हो जाओगी। जीवन-क्रीड़ा नन्हीं सी रतन-जड़ी रिस्टवाच की तरह जम जाएगी।

(रिक्शे की घंटी)

परे. रमणी : लेकिन फिर भी?

मस. प. : नहीं, मुझे नाश करना ही पड़ेगा। लड़ना पड़ेगा इस बेमतलब, बेमानी और अनन्त शुरुआत के खिलाफ़। एक-एक पत्ती, एक-एक शब्द और एक-एक पत्थर के खिलाफ।

एकबारगी जोर की आवाज़ें, जैसे रिक्शे से गिरने की होती है अनाउंसर जल्दी से जाकर झुनझुना उठा लेती है। उसे बजाती भी है, लेकिन कोई असर नहीं होता। एक खास गोल-माल हो जाता है। परेशान रमणी, मसरूप पति, रिक्शेवाला, सब एक साथ बोलते हैं या बीच में पागल आया की भी आवाज 'मशालची बाबा' दूर से सुनाई देती है। अनाउंसर गाँग देती है तब कहीं गोल-माल खतम होता है।

थका अ. : मैं बेहद थका हुआ हूँ। मेरा रोम-रोम चूर हो रहा है और आपने इसे गिरा दिया और फिर मारा। मैं सीटी बजाता हूँ। देखता हूँ, उसे बजा सकता हूँ या नहीं।

परे. रमणी : यह देखता नहीं था, और मैं हमेशा देखती हूँ। यह देखता नहीं था।

मस. प. : मैंन देखा और अपनी जीवन-संगिनी से बताया, मैंने उसे कायल कर दिया कि बिना नाश किए बताया जा ही नहीं सकता।

अनाउंसर हँसती है झुनझुना बजाती है

थका. अ. : तुमने जरूर समझा दिया होगा और इस रिक्शेवाले का तुम नाश करना चाहते थे। तुमने क्या शब्द कहा था?

मस. प. : **(बदला हुआ स्वर)** कौन? हम नहीं ! तुम हमको क्या समझते हो? यह आदमी देखता नहीं था। आगे देखकर नहीं गया। ठोकर लग गई। मैं नाश करता हूँ।

रि. वाला : **(गर्व से)** नहीं, हमको पीछे से ठोकर लगाई गई, मैंने रिक्शे के आईने में साफ देखा। शायद वह ठोकर अब तक दिखाई दे रही हो।

थका. अ. : मैं सीटी बजाऊँगा। मैं अपनी ताकत सीटी बजाने में खत्म कर दूँगा।

परे. रमणी : नहीं, रुको, सीटी मत बजाओ.... हमारी तरफ देखो.... मैं कभी कुछ पैदा करती।

मस. प. : मैं हर वक्त सोते जागते देखता हूँ और रचता हूँ.... और कायम करता हूँ.....

परे. रमणी : बात यह है कि यह हमारे पति बड़े मसरूप रहते हैं। कभी-कभी यह अपने दिमाग को आराम देने के लिए ऊटपटांग बातें करने लगते हैं - बिलकुल पागल आया की तरह। **(बात टालने की कोशिश में)** पागल आया को आपने देखा है? वह कहती है, उसने 200 किताबें लिखी है? वह देखती नहीं है। वह सिर्फ ढूंढ़ती है। बस, यकीन मानें, सिर्फ ढूँढ़ती है न जाने क्या - और कहाँ, **(धीरे से)** लेकिन मुझे डर है - वह तुमको ही ढूँढ़ रही है।

थका अ. : मुझे इससे कोई मतलब नहीं, लेकिन आपने यह रिक्शा लिया, इस जाड़े-पाले में, ओले में इसे दौड़ाया और फिर धीरे या लापरवाही से चलने पर अपनी ऊँची एड़ी से आपने इसे ठोकर मारी। वह गिर गया....शायद इसका एक पैर ही बेकार हो....यह रचना और नाश करना दोनों है। तुमने एक रिक्शेवाले का नाश किया और तुमने सौ पैदा किए.....

मस. पति : लेकिन मैंने ठोकर नहीं मारी, तुम यह कहोगे शायद?

परे. रमणी : मैंने ठोकर मारी ! यह देखता नहीं था, यह क्यों नहीं देखता ! यह रोज नहाता क्यों नहीं है? ओह यह बहुत गंदा है ! **(गश-सा आ जाता है)**

मस. पति : अब तुमने देखा, देखने और न देखने में क्या फर्क है। **(बहुत धीरे)** आओ, हम इसकी सीटी का नाश कर डालें, जल्दी ! आओ आओ, सौदा कर लें। ओह ! फिर मैं तुम्हें बादलों में रहने की इजाजत दे दूँगा। मैं कभी **(संभालते हुए)**....तुम्हारी रची हुई कोई चीज नहीं करूँगा।

थका अ. : **(रोक कर)** यह क्या घुसपुस कर रहे हो? आप जानती हैं कि एक कानून है, जिसमें उन लोगों को सजा मिलती है, जो जानवरों के साथ खासकर सवारियों में जुतने वाले जानवरों के साथ बेरहमी करते हैं **(सीटी बजाता है)।**

परे. रमणी : **(गुस्से में)** तुम क्या इस आदमी को जानवर बना दोगे? यह रिक्शेवाला कोई बैल है या घोड़ा?

(अनाउंसर झुनझुना बजा देती है)

मस. पति : **(जोशीली स्पीच)** मैं इसके खिलाफ लड़ूँगा। मैं आंदोलन करूँगा और उन्हें तोड़ूँगा। मैं आलमगीर लड़ाइयाँ करूंगा। देखो मैं क्या करता हूँ। मैं बड़ी-बड़ी लाइब्रेरियों में आग लगा दूँगा। मैं शहरों और पर्वतों को स्याही की बूँद की तरह नक्शे से पोंछ दूँगा। यह आदमी है, जानवर नहीं है। यह केवल अंधा-कुआँ है....मेरी बीबी बादलों में रहती है, पागल आया हम सबको बचायेगी।

पा. आया. : **(पागल जोश में)** अहा, मिल गया, बाबा, जान-बाबा.....मशालची बाबा.....मिल गया.... लेकिन तुम घर से बहुत दूर निकल आये हो.....तुम्हारा सूटर.....

पागल आया और मसरूप पति दोनों सुबकने लगते हैं, जैसे वही दोनों मिल गए हों।

म. पति :
प. आया : थका हुआ अफ़सर मर गया, रिक्शेवाले ने उसे मार डाला। अफसर को रिक्शेवाले ने अपने आईनों से मार डाला। अब यह जो सामने खड़ा हुआ है, न थका हुआ है और न अफ़सर।

परे. रमणी : **(जैसे वह एकबारगी भूल गया हो)** मेरे अंदर घनी थकावट बस गई है।

थका अ. : **(जैसे डूब रहा हो)** जिस तरह एक अंधे कुएँ में **(छटपटाता सा)** मरी हुई सूखी बिल्ली, चमकीली वार्निश के टीन..... किताबों के वरक..... **(गिर पड़ता है)**

पा. आया : रिक्शेवाले ने कितना अच्छा नाश किया। मेरी ख्वाहिश है कि हम उसके स्टेचू बनाएँ। उसकी जाली आटोग्राफ बेचने के लिए कम्पनियाँ खड़ी करें.....

लेकिन मशालची बाबा.....तुम घर से कितनी दूर निकल आए हो, ओह तुम्हारा सूटर कीड़ों ने खत्म कर दिया है।

एक स्वर : हमारी सबसे ताजी ईज़ाद, काँच के सूटर। इनको सिर्फ ताँबे के कीड़े खा सकते हैं - **(कुछ रुककर)** ..... हमारी इससे भी ताजी ईज़ाद- ताँबे के कीड़े।.....यह बुलाने से बोलते और हँसने से हँसते.....ताँबे के कीड़े !

रोशनी हो जाती है। अनाउंसर इठलाती हँस रही है। झुनझुना कमरबंद में अटका लेती है।

अना. : नहीं, अभी खत्म कहाँ हुआ? अभी तो दो मिनट का एक नाच गाना और है।....और न जाने इस गाने से अंत करने में नाटक लिखने वाले का क्या मतलब है? मेरी समझ से तो पूरे नाटक में ही कुछ हल नहीं होता। पूछे जाने पर नाटक लिखने वाला शायद कुछ ऐसा कहेगा कि 'जिंदगी और नाटक का प्राबलम....एक ही है, यानी लम्हे को मुक्म्मिल कर देना। विरोध और विद्रोह को एक स्वर करना और उनमें एक केंद्रीय महत्व यानी सेंट्रल सिगनीफिकेंस हासिल करके उसका दर्शकों पर एक फीका असर उपजाना, कि वह उनकी बुद्धि, विचार और नज़र को उकसाए। **(हँसी)**

लेकिन यह सब बेबात की बातें हैं। सभी न्यूरोटिक इसी तरह की बातें करते हैं। मेरी समझ में इस नाटक का लेखक न्यूरोटिक है। हमें जो रुचता नहीं, जो हमारे विचारों के साँचे में अँटता नहीं, उसे हम न्यूरासिस न कहें तो क्या कहें....इस पूरे नाटक में कोई मतलब नहीं है, वह हमें खाहमखाह भरम में डाल रहा है।

झुनझुना निकालकर बजाती है और शर्मायी हँसी हँसती है। स्क्रीन के पीछे से रिक्शेवाला, जो पैर में घुँघरू बाँधे है, दर्शकों को जोकरों की तरह हँसाने की कोशिश कर रहा है। औरों के खड़े हो जाने पर वह आगे आकर अपना गाना और नाच शुरू कर देता है। गाना

किसी भी भद्दी लय में गाया जा सकता है और नाच उछल-कूद से अधिक कुछ नहीं है।

रि.वाले का गीत : -

बीबी बोले नाहीं,
बोले नाहीं,
कुंडा खोले नाहीं,
हमसे बोले नाहीं !

रोती लय में : उमड़ रही बरसात रे !

लहरे में : बीबी बोले नाहीं, बोले नाहीं,
बोले नाहीं, बोले नाहीं,
बीबी बोले नाहीं....!

अनाउंसर लाल सिंदूर होकर हँसी से लोटपोट हो जाती है और बड़ी भली मालूम हो रही है।

2. नुक्कड़ नाटक : 'औरत'

'औरत' नुक्कड़ नाटक की रचना दिल्ली स्थित जन नाट्य मंच ने सामूहिक रूप से की थी। इस नाट्य संस्था के संस्थापकों और कार्यकर्त्ताओं में सफदर हाशमी का नाम प्रमुख है। सफदर हाशमी जन नाट्य मंच (जनम) के ही एक अन्य नाटक 'हल्ला बोल' का प्रदर्शन करते हुए कुछ गुंडों द्वारा मारे गए थे।

नुक्कड़ नाटक नाटक की एक ऐसी विधा है जो कई अर्थों में नई है और जिसमें रंगमंचीय नाटक और लोक नाट्य रूपों दोनों की विशेषताओं का इस्तेमाल किया जाता है। नुक्कड़ नाटक ऐसे नाटक को कहते हैं जिसमें नाटक मंडली जनता के बीच जाकर बिना किसी बाहरी तामझाम के अपना नाटक पेश करती है। अंग्रेजी में नुक्कड़ नाटक को 'स्ट्रीट प्ले' इसीलिए कहा जाता है क्योंकि उसे किसी भी गली, रास्ते और चौराहे पर पेश किया जा सकता है। जैसे मदारी सड़क पर मजमा लगाकर तमाशा पेश करता है, उसी तरह से नुक्कड़ नाटक भी पेश किया जाता है।

वैसे तो यह नाट्य विधा पुरानी है लेकिन हिंदी में इस विधा का उद्‌भव 1967-77 के दौरान हुआ। यह वह समय था जब देश में राजनीतिक-सामाजिक स्थितियाँ काफी संघर्षपूर्ण थीं। इससे जनसंघर्षों का दौर शुरू हुआ। इसी की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति नुक्कड़ नाटकों के रूप में भी हुई।

स्वतंत्रता आंदोलन के आखरी चरण में जन नाट्य संघ (इप्टा) ने जिस जन कला का विकास किया था, उससे नाटक के क्षेत्र में यानी लेखन और रंगकर्म दोनों क्षेत्रों में युगांतरकारी परिवर्तन दिखाई देने लगा था। इप्टा की नाट्य मंडलियाँ संपूर्ण भारत वर्ष में अपने नाटकों का प्रदर्शन कर यह उदाहरण पेश कर चुकी थीं कि जनता के बीच संस्कृति, साहित्य और कला को कैसे पहुँचाया जाता है। जन साधारण के ऊपर हो रहे अन्याय और उत्पीड़न से कला का रूप कैसे बदलता है और किस प्रकार लाखों-करोड़ों अनपढ़, अशिक्षित किसानों, मजदूरों और महिलाओं की चेतना में गुणात्मक परिवर्तन लाया जा सकता है।

जनता की राजनीतिक और सांस्कृतिक ज़रूरतों को एकसूत्र में पिरोकर नये नाट्य रूप और रंगकर्म की अगवानी जनकला के सर्वथा नये प्रयोग और नाटक के क्षेत्र में गतिरोध

तोड़ने के लिए नई पहलकदमी की शुरुआत जन नाट्य मंच नामक संस्था के गठन से हुई। 1973 में सफदर हाशमी ने दिल्ली में जनम की शुरूआत की। शुरू में जनम ने रंगमंच आधारित बड़े नाटक ही पेश किए जिनमें 'भारत भाग्य विधाता' और 'बकरी' के सफल मंचन शामिल थे। जनम ने पहला नुक्कड़ नाटक 'मशीन' तैयार किया। इसका लेखन 1978 में हुआ और इसके लेखन में जनम का पूरा समूह शामिल था। इस नाटक का निर्देशन सफदर हाशमी ने किया। जनम के बाद के सभी नुक्कड़ नाटकों के लेखन और निर्देशन में सफदर हाशमी की सक्रिय और नेतृत्वकारी भूमिका थी।

पिछले लगभग तीन दशकों ने नुक्कड़ आंदोलन का राष्ट्रीय स्तर पर विस्तार हुआ है। इसे जन-जन तक पहुँचाने के काम में जी-जान से जुटी अनेक नाट्य मंडलियाँ हैं। 1980 के बाद इप्टा को जब दोबारा सक्रिय किया गया तो उससे प्रेरित होकर दर्जनों नाट्य मंडलियाँ बनीं। भागलपुर की 'दिशा', दिल्ली की 'निशांत', पंजाब में सक्रिय 'जन नाट्य इकाई', बिहार में प्रांतीय स्तर पर सक्रिय 'जन सांस्कृतिक मोर्चा' आदि नाट्य मंडलियों ने नुक्कड़ नाटक के लेखन तथा रंगकर्म में वैविध्य तथा कलात्मक परिपक्वता की अनेक मिसालें कायम की हैं। इस दौरान लिखे हुए कुछ प्रमुख और लोकप्रिय नुक्कड़ नाटक इस प्रकार हैं :

> मशीन, औरत, हल्ला बोल, गाँव से शहर तक, हत्यारा, पुलिस चरित्रम्, राजा का बाजा (जनम, दिल्ली); जंगीराम की हवेली (गुरुशरण सिंह); रोटी नाम सत है (हरीश भदानी); गिरगिट (रमेश उपाध्याय); जनता पागल हो गई है (शिवराम); मुझे बोलने दो (राजेश कुमार); नयी बिरादरी (स्वयं प्रकाश); डेढ़ बीघा ज़मीन (राजेंद्र मंडल) आदि।

नुक्कड़ नाटक के साथ जुड़ा अहम सवाल यही है कि खुले स्थान पर बिना किसी साज-समाज के प्रदर्शित होने वाले इन गैरमंचीय रंगकर्म को नाटक माना जाए या नहीं? चरित्रों, घटनाओं, आकृतियों, भंगिमाओं, आंगिक अभिव्यक्तियों आदि की अनुकृति, उनके पुनर्सृजन, उनकी भ्रांति उत्पन्न करने वाली आवृत्ति से नाट्यकला का गहरा ही नहीं बल्कि अविच्छिन्न संबंध है। नुक्कड़ नाटक का रंगकर्म नाट्य कला के इस प्रधान उपादान के बिना संभव ही नहीं है। दूसरी बात यह है कि दर्शक और अभिनेता के बीच का रिश्ता नाटक की तरह ही, यहाँ भी है। कहना चाहिए कि प्रेक्षागृहों में प्रस्तुत होने वाले मंच नाटक के कलाकारों से दर्शक समुदाय की दूरी बनी रहती है। लेकिन नुक्कड़ नाटक में ऐसी कोई दूरी होती ही नहीं। इस संदर्भ में प्रसिद्ध नाट्य समीक्षक जयदेव तनेजा का कथन उद्धृत करना उपयुक्त होगा। उनका कहना है, "सदियों से सुरक्षित, विशिष्ट और निश्चित स्थान (मंच) को छोड़कर बीच मैदान में आते ही नाटक का व्याकरण, मुहावरा, तेवर, अंदाज और सौंदर्यबोध एकदम से बदलने लगता है। यह नाटक सज्जा और प्रकाश

के सभी साधनों का परित्याग करके - अयथार्थ को यथार्थ बनाकर दिखाने के परंपरावादी भ्रमजाल को तोड़कर कलाकार नामक एक अति संवेदनशील सामाजिक इकाई तथा दर्शक नामक दूसरी मानवीय एवं सामाजिक इकाई को एक-दूसरे के आसपास लाकर खड़ा कर देता है, जिससे वे अपने आपसे और अपने परिवेश से जीवंत साक्षात्कार कर सकें।

नुक्कड़ नाटक अभिनेयता, रंग-विधान, वेश-भूषा, प्रस्तुति-अवधि आदि दृष्टियों से रंगमंचीय नाटकों से भिन्न होता है। दर्शकों के बीच जाकर नुक्कड़-चौराहों पर प्रस्तुत किया जाने वाला नाटक बहुत लंबा नहीं हो सकता। इसलिए आमतौर पर नुक्कड़ नाटक की अवधि 30-40 मिनट ही होती है। न इसमें भड़कीली वेशभूषा हो सकती है, न मंच सज्जा का तामझाम। एक अर्थ में नुक्कड़ नाटक संकेतों से काम लेता है। वह वेशभूषा में मामूली परिवर्तन से, पात्र की बाह्य और आंतरिक स्थितियाँ बदल देता है। इसी तरह बहुत अधिक पात्रों की प्रस्तुति संभव न होने के कारण नुक्कड़ नाटक थोड़े कलाकारों से ही विभिन्न पात्रों का काम ले लेता है। नुक्कड़ नाटक के संवादों में कई तरह के प्रयोगों की गुंजाइश रहती है। गीत, संगीत, कविता के प्रयोग पर भी बल रहता है। वस्तुतः नुक्कड़ नाटक गंभीर और जनोन्मुखी ध्येय को लेकर जनता के बीच जनता द्वारा खेले जाने वाली विधा है।

'औरत' नाटक की रचना

'औरत' जन नाट्य मंच द्वारा 1983 में प्रकाशित किया गया। इस नुक्कड़ नाटक की रचना और प्रस्तुति प्रकाशन से पहले हुई थी। इस नाटक से पूर्व 'मशीन', 'गाँव से शहर तक', तथा 'हत्यारा' का मंचन जन नाट्य मंच द्वारा हो चुका था। यह सही है कि विशाल जन समुदाय तक अपने विचारों को पहुँचाने के लिए 'औरत' नाटक की सृष्टि हुई है लेकिन यह नाटक औरत की गहरी अंतर्व्यथा को प्रस्तुत करने की कलात्मक कोशिश भी है। औरत की जो तस्वीर उपभोक्तावादी समाज में पेश की जाती है उससे अलग हटकर नारी का चित्र यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

सफदर हाशमी का स्पष्ट विचार था कि नाटक मंडली के सदस्य परस्पर बहस करके, साथ ही जनवादी संगठनों और आंदोलनों के नेतृत्व से विचार-विमर्श करके एक सुदृढ़ और गहरी समझ बनने के बाद अपनी सामूहिक रचना शक्ति से ही अच्छे-अच्छे नाटक तैयार कर सकते हैं। 'औरत' नाटक की रचना इसी प्रक्रिया में हुई। सफदर ने अपने साथियों के साथ मिलकर इसे रचा था।

श्रमशील औरत के जीवन की वास्तविकताओं को इस नाटक में कई कोणों से देखने की कोशिश की गई है। मेहनत करती औरत, शोषण की चक्की में पिसती औरत और पुरुष

मानसिकता की शिकार औरत का रूप वही नहीं है जो पूँजीवादी-उपभोक्तावादी समाज में पेश किया जाता है। वर्गों में बँटे समाज में हर वर्ग की औरत शोषण और उत्पीड़न का शिकार होती है। लेकिन गरीब स्त्री को स्त्री होने के साथ-साथ गरीब होने की पीड़ा भी झेलनी पड़ती है। नाटक के अंत में शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ आवाज को बुलन्द किया गया है। जब तक संगठित होकर औरत अपने अधिकार के लिए संघर्ष नहीं करेगी तब तक वह इसी तरह प्रताड़ित होती रहेगी। समाज के सृजन में नारी की सबसे बड़ी भूमिका होती है परंतु उसके महत्व को नहीं समझा जाता है। औरत की स्वतंत्रता नये समाज का स्वप्न है परंतु औरत की स्वतंत्रता का यह मतलब नहीं है कि उसे उपभोग की वस्तु के रूप में देखा जाए। औरत और पुरूष के भेद को मिटाकर औरत को समान दर्जा देने का संदेश नाटक का मर्म है। बिना किसी ताम-झाम के 'औरत' नाटक को सैकड़ों बार गली चौराहे पर प्रस्तुत किया गया है। यह इस नाटक के रंगमंचीय महत्व को प्रतिपादित करता है।

यह नाटक स्त्री के विभिन्न रूपों की संघर्षशील गाथा प्रस्तुत करता है। मेहनतकश परिवार की नारी चाहे वह बच्ची हो, लड़की हो, पत्नी हो, माँ हो, उसे कदम-कदम पर शोषण और उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है। उसे भाई की तुलना में अधिक काम करना पड़ता है। उसकी पढ़ने-लिखने और आगे बढ़ने की आकांक्षाओं का गला घोंट दिया जाता है। कारखानों में उसे कम वेतन और छंटनी का शिकार होना पड़ता है। ससुराल में दहेज के लिए प्रताड़ित किया जाता है। सड़कों पर स्त्री होने के कारण उसे अपमानित होना पड़ता है। उसका सौंदर्य और यौवन उपभोग के लिए है। एक इंसान के रूप में उसकी कीमत कुछ भी नहीं है। स्त्री जीवन की इन्हीं विडंबनाओं को नुक्कड़ नाटक की विषय वस्तु का आधार बनाया गया है। खास बात यह है कि नाटक स्त्री की जिजीविषा, संघर्षशीलता और भविष्य के प्रति गहरी आशा का संदेश देते हुए समाप्त होता है।

इस नाटक की भाषा बोलचाल की है। यही कारण है कि उसमें ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है जिसे समझने में दिक्कत नहीं होती। भाषा में नाटकीय लय को इस प्रकार संयोजित किया गया है, कि अभिनेता अपने अभिनय में उन्हें अनेक प्रकार की अर्थ छाया दे सकता है। भाव के अनुकूल भाषा का मिज़ाज़ बदलता है। भाषा और भाव भंगिमा का गहरा रिश्ता 'औरत' नाटक में मौजूद है। भाव परिवर्तन बडे तेजी से होते हैं जो नाटकीय गति की तीव्रता को सृजित करते हैं। नाटक में कथा की तीव्रता को कलात्मक ढंग से संयोजित किया गया है। नुक्कड़ नाटकों की तरह इसमें भी अभिनय स्थल वृत्ताकार होने चाहिए, जिसे पाँच-सात अभिनेताओं के साथ बिना किसी ताम-झाम के आसानी से प्रस्तुत किया जा सके। शिल्पगत निपुणता की अपेक्षा नाटकीय मर्म की पहचान नुक्कड़ नाटक का प्रमुख उद्देश्य है। वह मर्म जनता तक संप्रेषित हो और उसे उद्वेलित करे।

शब्दावली

बैन : बोली
खूने जिगर : लहुलुहान हृदय
बेहया : लज्जाहीन
नासूर : घाव
पगार : वेतन
फ्रीज : स्थिर हो जाना
खाविन्द : पति
चाइल्ड साइकोलोजी : बच्चों की मानसिकता
इम्पोर्ट-एक्सपोर्ट : आयात-निर्यात
दिहाड़ी : मजदूरी

व्याख्य के लिए प्रमुख अंश

1. जो अपने हाथों से फैक्ट्री में
भीमकाय मशीनों के चक्के घुमाती है
वह मशीनें जो उसकी ताकत को
ऐन उसकी आँखों के सामने
हर दिन नोंचा करती है
एक औरत जिसके खूने जिगर से
खूँखार कंकालों की प्यास बुझती है,
एक औरत जिस का खून बहने से
सरमायेदार का मुनाफा बढ़ता है।

2. मैं खुद भी एक मजदूर हूँ
मैं खुद भी एक किसान हूँ
मेरा पूरा जिस्म दर्द की तस्वीर है
मेरी रग-रग में नफरत की आग भरी है
और तुम कितनी बेशर्मी से कहते हो
कि मेरी भूख एक भ्रम है
और मेरा नंगापन एक ख्वाब
एक औरत जिसके लिए तुम्हारी बेहूदा शब्दावली में
एक शब्द भी ऐसा नहीं
जो उसके महत्व को बयान कर सके।

3. बाप के भाई के और खाविन्द के

ताने तिश्नों को सुनना तमाम उमर।
बच्चे जनना सदा, भूखे रहना सदा, करना मेहनत हमेशा कमर तोड़ कर
और बहुत से जुलमों सितम औरत के हिस्से आते हैं
कमजोरी का उठा फायदा गुण्डे उसे सताते हैं।
दरोगा और नेता-वेता दूर से यह सब तकते हैं
क्योंकि रात के परदे में वह खुद भी यह सब करते हैं।
औरत की हालत का यह तो जाना माना किस्सा है
और झलकियाँ आगे देखो जो जीवन का हिस्सा है।

व्याख्या का उदाहरण

जो अपने हाथों से फैक्ट्री में
भीमकाय मशीनों के चक्के घुमाती है
वह मशीनें जो उसकी ताकत को
ऐन उसकी आँखों के सामने
हर दिन नोंचा करती है
एक औरत जिसके खूने जिगर से
खूँखार कंकालों की प्यास बुझती है,
एक औरत जिस का खून बहने से
सरमायेदार का मुनाफा बढ़ता है।

संदर्भ-संकेत

जन नाट्य मंच द्वारा लिखे गए नुक्कड़ नाटक 'औरत' का यह आरंभिक अंश है। यह एक ईरानी कविता की पंक्तियाँ हैं जिसकी लेखिका मर्जिया उस्कुई अहमदी है जिसका प्रयोग इस नाटक में किया गया है। इस नाटक के लेखन और प्रस्तुति में प्रख्यात रंगकर्मी सफदर हाशमी की सक्रिय भूमिका थी। इस नाटक का उद्देश्य समाज में स्त्री की वास्तविक दशा का करुण चित्र प्रस्तुत कर जागृति पैदा करना है ताकि उनका शोषण और उत्पीड़न न हो और वे स्वयं इसके विरुद्ध संगठित होकर संघर्ष करने के लिए आगे आएँ।

व्याख्या-संकेत

नुक्कड़ नाटक की विधा की विशिष्टता को ध्यान में रखते हुए इस अंश की व्याख्या करें। औरत की समस्या को नाटककार ने मात्र राजनीतिक दृष्टि से नहीं देखा है। बल्कि उसे सामाजिक संदर्भ के व्यापक परिप्रेक्ष्य और सामाजिक अनुभवों की जटिल संरचना के बीच रख कर देखा है।

इन पंक्तियों में एक मज़दूर स्त्री के जीवन का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया गया है। कारखाने में काम करने वाली स्त्री जिसमें इतना बल है कि जो फैक्ट्री की भीमकाय मशीनों के चक्के घुमाती है लेकिन वे ही मशीनें उसकी ताकत को 'हर दिन नोचा करती है'। स्त्री जीवन की यह विडंबना है। यह बिंब हमारे समाज के अंतर्विरोधों को उजागर करता है। स्त्री की ताकत से कारखानों में मशीनें चलती हैं (और समाज के रथ का पहिया भी) लेकिन स्वयं उस स्त्री को इस श्रम का कोई लाभ नहीं मिलता। सरमायेदार उसके श्रम का मूल्य हड़प कर अपनी तिजोरिया भरते हैं। मेहनत करते हुए वह स्त्री अपना खून-पसीना बहाती है। वही खून-पसीना मुनाफा बनाकर दूसरों के श्रम पर जीने वालों की प्यास बुझाता है। यही हमारे समाज की त्रासदी है जिन्हें इन पंक्तियों में अत्यंत मार्मिकता के साथ कहा गया है।

इन पंक्तियों में शोषण पर आधारित समाज की वास्तविकता को भी उजागर किया गया है। सभी पंक्तियाँ एक गतिशील बिंब पेश करती हैं जिसमें स्त्री की ताकत और उसका शोषण दोनों एक साथ अभिव्यक्त होते हैं। पूंजीवादी समाज में मेहनतकश लोगों का कैसे शोषण होता है, इस सत्य को आधार बनाकर इन पंक्तियों में मेहनतकश स्त्री की मेहनत, शोषण और संघर्ष को प्रस्तुत किया गया है आप उपर्युक्त बातों के संदर्भ में इन पंक्तियों की व्याख्या कर सकते हैं।

विशेष-संकेत

इन पंक्तियों को पढ़ते हुए आप इसकी भाषा, इसकी काव्यगत विशेषताओं पर विचार करें। क्या इसे समझने में किसी तरह की कठिनाई आती है? क्या इन पंक्तियों का काव्यत्व प्रभावित नहीं करता?

सहायक पुस्तकें

1. सफदर : सहमत प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. हिंदी रंगकर्म : दशा और दिशा : जयदेव तनेजा।
3. बीसवीं सदी में जनकला : सिद्धांत और सृजन, जन नाट्य मंच प्रकाशन, नई दिल्ली।

औरत

पात्र-विभाजन

औरत
सूत्रधार/अभिनेता-1/मज़दूर
अभिनेता-2/पंडित/गुंडा
अभिनेता-3/गुंडा/ससुर/मालिक
अभिनेता-4/बाप/मजदूर
अभिनेता-5/पुलिस
अभिनेता-6/पति/गुंडा/मजदूर

(गोलाकार अभिनय स्थल। छह अभिनेता एक दूसरे के कंधों पर हाथ रखे वृत्ताकार रचना में घूमते हुए एक छोर से प्रवेश करते हैं। उनके बीच में छुपी एक अभिनेत्री सहित वे केंद्र में आकर रुकते हैं। एक साथ पलट कर दर्शकों की ओर मुंह कर बैठते हैं। अभिनेत्री बीच में खड़ी दिखायी देती है।)

अभिनेत्री : मैं एक माँ
एक बहन
एक अच्छी पत्नी
एक औरत हूँ

अभिनेता-1 : एक औरत जो न जाने कब से
नंगे पांव रेगिस्तानों की धधकती बालू में
भागती.....रही है।

अभिनेत्री : मैं सुदूर उत्तर के गाँवों से आयी हूँ

अभिनेता-2 : एक औरत जो न जाने कब से
धान के खेतों और चाय के बागान में
अपनी ताकत से ज्यादा मेहनत करती आयी है।

अभिनेत्री : मैं पूरब के अंधेरे खंडहरों से आयी हूँ
जहाँ मैंने न जाने कब से
नंगे पाँव

अपनी मरियल गाय के साथ
खलिहानों में
दर्द का बोझ उठाया है।

अभिनेता-3 : उन बंजारों में से
जो तमाम दुनिया में भटकते फिरते हैं
एक औरत जो पहाड़ों की गोद में बच्चे जनती है
जिसकी बकरी मैदानों में कहीं मर जाती है
और बैन करती रह जाती है।

अभिनेत्री : मैं वह मजदूर औरत हूँ

अभिनेता-4 : जो अपने हाथों से फैक्ट्री में
भीमकाय मशीनों के चक्के घुमाती है
वह मशीनें जो उसकी ताकत को
ऐन उसकी आँखों के सामने
हर दिन नोंचा करती है
एक औरत जिसके खूने जिगर से
खूँखार कंकालों की प्यास बुझती है,
एक औरत जिस का खून बहने से
सरमायेदार का मुनाफा बढ़ता है।

अभिनेत्री : एक औरत जिसके लिए तुम्हारी बेहया शब्दावली में

अभिनेता-5 : एक शब्द भी ऐसा नहीं
जो उसके महत्व को बयान कर सके
तुम्हारी शब्दावली केवल उसी औरत की बात करती है
जिसके हाथ साफ हैं
जिसका शरीर नर्म है
जिसकी त्वचा मुलायम है
और जिसके बाल खुशबूदार हैं।

अभिनेत्री : मैं तो वह औरत हूँ

अभिनेता-6 : जिसके हाथों को दर्द की पैनी छुरियों ने
घायल कर दिया है
एक औरत जिसका बदन तुम्हारे अंतहीन

शर्मनाक और कमर तोड़ काम से टूट चुका है।
एक औरत जिसकी खाल में
रेगिस्तानों की झलक दिखाई देती है
जिसके बालों में फैक्ट्री के धुएँ की बदबू आती है।

अभिनेत्री : मैं एक आजाद औरत हूँ (वृत्त के बाहर निकलती है, मुट्ठी तानकर आगे किए हुए, बाकी अभिनेता भी उसके पीछे मुट्ठी ताने एक घुटना टेके एक पैर आगे बढ़ाकर बैठते हैं)

अभिनेता-1 : जो अपने कामरेडों, भाइयों के साथ
काँधे से काँधा मिला कर
मैदान पार करती है

अभिनेता-2 : एक औरत जिसने मजदूर के
मजबूत हाथों की रचना की है
और किसान की बलवान भुजाओं की।
(बाकी अभिनेता वैसे ही बैठे रहते हैं, अभिनेत्री उनके बीच इधर-उधर घूम कर संवाद बोलती है।)

अभिनेत्री : मैं खुद भी एक मजदूर हूँ
मैं खुद भी एक किसान हूँ
मेरा पूरा जिस्म दर्द की तस्वीर है
मेरी रग-रग में नफरत की आग भरी है
और तुम कितनी बेशर्मी से कहते हो
कि मेरी भूख एक भ्रम है
और मेरा नंगापन एक ख्वाब
एक औरत जिसके लिए तुम्हारी बेहूदा शब्दावली में
एक शब्द भी ऐसा नहीं
जो उसके महत्व को बयान कर सके।
(बाकी अभिनेता पलट कर वृत्ताकार आकृति में एक दूसरे की ओर मुंह कर के बैठते हैं।)

अभिनेता-5 : एक औरत जिसके सीने में
गुस्से के फफकते नासूरों से भरा

एक दिल छिपा है

अभिनेता-4 : एक औरत जिसकी आँखों में
आजादी की आग के लाल साये
लहरा रहे हैं।

अभिनेत्री : एक औरत जिसके हाथ
काम करते करते सीख गए हैं
लाल झंडा कैसे उठाया जाता है
(लाल झण्डा उठाती है।)

सूत्रधार : आइये, आपको एक कहानी सुनाएँ, छोटी सी कहानी,
छोटी सी बिटिया की छोटी सी कहानी।

औरत : **(ग्यारह का पहाड़ा दोहराती है)**
[एक अभिनेता उठता है, बाप के अभिनय में]

बाप : मुन्नी....मुन्नी मुन्नी कहाँ मर गयी तू। चिलम भरने को दी थी और अब तक नहीं लौटी।

औरत : **(पास आते हुए)** ग्यारह दूनी बाइस ...

बाप : क्योंरी यह घर है या स्कूल....घंटा भर हो गया काम से आये। कब तक मैं यूं ही बैठा रहूँगा? मुन्नी ...

औरत : बाबा मैं याद कर रही थी। मास्टरजी कहते हैं घर पे पढ़ा करो। समझ न आये तो अपने बाबा से पूछो।

बाप : बाबा से पूछो! बाबा से पूछो तो घर बैठो और काम करो। क्या करेगी स्कूल जा के। तुझे कौन दफ्तर जाना है?

औरत : मास्टरजी कह रहे थे कल किताब जरूर लाना नहीं तो नाम काट देंगे। और कह रहे थे स्कूल की वर्दी धुली हुई होनी चाहिए, इंस्पेक्टर साहब आने वाले हैं।

बाप : हरामजादों को बच्ची का मन बहलाने के सिवा कोई काम है? यहाँ दो जून खाने के दाने नहीं हैं घर में, बरसात आने वाली है और छप्पर अब तक ठीक नहीं करा पाये, इन्हें किताबें चाहिए? धुली हुई वर्दी चाहिये? कल से स्कूल विस्कूल बंद।

औरत : नहीं बाबा मैं स्कूल जाऊंगी.....

बाप : चुप रह, तेरे भाई को स्कूल भेज रहा हूँ उसी में कमर टूटी जा रही है.....

औरत : (रोती हुई) बाबा मैं भी स्कूल जाऊंगी।

बाप : बिटिया घर का काम-काज किया कर..... कोई बच्चीनीहं रह गई। दस साल की होने को आयी, ढींग की ढींग। स्कूल जाएगी....कुछ काम ढूंढ दूंगा तेरे लिए। यह आवारों की तरह उछल कूद बंद कर दे। बड़ा बुरा ज़माना आ रहा है।

औरत : बाबा एक रस्सा ला दो, शाम को खेलने के लिए.....

बाप : इसीलिए कहता हूँ, बच्चों को स्कूल भेजना ही नहीं चाहिए। बच्चों को स्कूल भेजो तो कॉपी-किताब का खर्चा, वर्दी का खर्चा-अब ये खेल-कूद और एक बला हो तो.....

औरत : रस्सा....ला दो बाबा रस्सा.....

बाप : गले में लटका के मर क्यों नहीं जाती कम्बख्त, तेरी मां मर रही है, तू भी मर। पीछा छूटेगा। लड़का है, किसी तरह पाल लूंगा। कहाँ से लाऊं तेरे लिए। तनख्वाह के नाम पे पिछले पाँच साल से एक पैसा नहीं बढ़ा। बढ़ाने की बात भी करो तो सालों ने तालाबंदी की धमकी दे दी और एक तरफ ये हैं....किताब चाहिए, खिलौने चाहिए, चल उठ बासन मांझ, हरामजादी कहीं की! स्कूल जाएगी।

औरत : जाऊंगी, जाऊंगी, जाऊंगी! सुबह-सुबह सारे बच्चे सुंदर कपड़े पहन कर बस में बैठ कर जाते हैं, मैं भी जाऊंगी।

बाप : उन बच्चों की जितनी फीस है उतनी तेरे बाप की पगार है, चल उठ, और लाला से जाकर आटा ले आ।

औरत : बाबा वह आटा नहीं देता।

बाप : अरे आटा क्यों नहीं देता....उधार देता है कोई भीख नहीं देता।

औरत : पर बाबा उसका बेटा कहता है...

बाप : क्या कहता है?

औरत : कहता है... कहता है... अगर उधार में आटा चाहिए तो दुकान बंद होने के बाद अकेले मे आना।

बाप : सूअर का बच्चा! अगर उधार न चुकाना होता... **(बाबा और औरत दोनों अपनी मुद्रा में 'फ्रीज' हो जाते हैं। सूत्रधार उठ कर दर्शकों से सम्बोधित होता है।)**

सूत्रधार : एक दिन बाबा की फैक्ट्री में तालाबंदी हो गयी। लाल झंडा हाथ में लेकर चिल्लाते हैं 'हड़ताल हमारा नारा है'। 'संघर्ष हमारा नारा है।'

औरत : मेरे साथ अब इतना बुरा सलूक नहीं होता। लेकिन बोझ मैं अब भी हूँ। इसीलिए मेरा लगन तय हो गया है। आज फेरे हैं। लड़का भैया की मील में 2000 रु0 महीना तनखा पाता है।
(गाते नाचते बारात का दृश्य। तीन बराती, रामनाम का दौशाला डाले पंडित, दूल्हा, और ससुर। पंडित, औरत का पल्लू दूल्हा की पैंट से बांधता है, गायत्री मंत्र उच्चारण के दौरान दोनों दायरे का चक्कर लगाता है। फेरा पूरा होने पर पंडित के सामने रुकते हैं।)

पंडित : सास-ससुर की आज्ञा मानोगी। पति को साक्षात भगवान जानोगी, पहले उन्हें खिलाओगी, फिर खुद खाओगी। पति ससुर अन्याय भी करें तो उसे न्याय मानोगी, कभी पलट कर उत्तर नहीं दोगी, आँखें सदा नीची रखोगी, घर का काम काज संभालोगी।

[बाकी पात्र दोहराते हैं]

पति : फौरन कोई काम तलाश करोगी, सबेरे ही सब्जी मंडी से साग तरकारी लाओगी। फिर कुएँ से पानी। बाबा का हुक्का भरोगी। झाड़ू-पोंछा, चौका चक्की सब तुम्हीं संभालोगी।

ससुर : इस घर में आराम करने नहीं बोझ बंटाने आई हो। अपनी सास को आराम दोगी। सारा काम संभालोगी।

[बाकी पात्र दोहराते हैं]

पंडित : तथास्तु, **(पंडित, पति और ससुर अपनी-अपनी मुद्राओं में थम जाते हैं। बाकी पात्र बैठ जाते हैं।)**

सूत्रधार : इस तरह गृहस्थी की चक्की में पिसते-पिसते आठ बरस हो गए।
(ससुर, पति तथा पंडित वापस दायरे में बैठते हैं।)

औरत : (घर का काम करते करते) छोटे-छोटे बच्चे हैं। कमजोर गंदे और चीं - - पीं करते हुए। 25 साल की उमर में 40 साल की बुढ़िया लगती हूँ। मुंह अंधेरे जागती हूँ, घर का सारा काम काज करती हूँ। चक्की पर जाती हूँ गेहूँ साफ करने। दोपहर का चौका बर्तन कर फिर काम पर जाती हूँ, शाम ढ़ले लौटती हूँ। फिर सारा काम, ससुरजी के मरने के बाद से ही मेरा आदमी शराबी हो गया। **(पति बैठे-बैठे बोलता है - 'हरामजादी')** रात दिन मारपीट और गाली गलौज करता है। थाने में नाम दर्ज है उसका।

(पति शराब की बोतल लेकर उठता है।)

पति : अरी ओ हरामज़ादी, यह मुन्ना क्यों रोये जा रहा है?

औरत : जाग गया है तुम्हारे दहाड़ने से।

पति : तो चुप करा इसे, नहीं होता तो उठा कर बाहर फेंक दे सुअर के बच्चे को।

(अपनी मुद्रा में फ्रीज़ हो जाता है।)

सूत्रधार : क्या होगा इन 'सुअर के बच्चों' का। दिन भर आवारा घूमते हैं। पढ़ाई लिखाई का कोई प्रबंध नहीं। बड़े होकर अपने बाप पर ही जाना है इन्हें।

औरत : बड़े होंगे तो काम की तलाश में मारे - मारे भटकेंगे, न जाने कहाँ-कहाँ जायेंगे। मुझ से दूर,। मैं हमेशा की अकेली, हमेशा की खामोश किस के सहारे जिऊँगी। चक्की से जवाब मिल गया तो किसके दरवाज़े पर जाऊँगी? हे भगवान, तू ही कुछ कर।

पति : भगवान क्या कर लेगा? उसे क्या पड़ी है तेरी तरफ देखने की? सेठ जी का बंगला पसंद है उसे। सेठानी गोरी चिट्टी है। भोग भी वह अंग्रेजी बोतल का लगाता होगा।

औरत : यह उल्टी सीधी न बको। इसी सबके कारण तो यह हाल है। मंदिर जाते, भले मानस की तरह रहते तो घर की सकल ही कुछ और होती आज।

पति : हरामजादी कहीं की। जबान लड़ाती है (थप्पड़ मारता है। औरत गिर पड़ती है।) आदमी को कहीं आराम ही नहीं। फैक्ट्री से थका मांदा आता है। फैक्ट्री में सुपरवाईजर की भौं - भौं, घर में तेरी। दान दहेज

के नाम पर तो बाप को साँप सूंघ गया था, और बेटी है कि होश ही ठिकाने नहीं है। चल उठ। घर का काम काज कर बड़ी आयी है, हरामजादी। (दोनों दायरे में बैठ जाते हैं। सूत्रधार उठता है।)

सूत्रधार : बाप के भाई के और खाविन्द के
ताने तिश्नों को सुनना तमाम उमर।
बच्चे जनना सदा, भूखे रहना सदा
करना मेहनत हमेशा कमर तोड़ कर
और बहुत से जुलमों सितम औरत के हिस्से आते हैं
कमजोरी का उठा फायदा गुण्डे उसे सताते हैं।
दरोगा और नेता वेता दूर से यह सब तकते हैं
क्योंकि रात के परदे में वह खुद भी यह सब करते हैं।
औरत की हालत का यह तो जाना माना किस्सा है
और झलकियाँ आगे देखो जो जीवन का हिस्सा है।
(औरत दायरे से उठती है, हाथ में कुछ किताबें लिए हुए)

औरत : मैं औरत का एक और रूप हूँ। स्कूल पास किया है मैंने। घर वालों को बहुत मुश्किल से रोज कालेज भेजने के लिये राजी किया है। वहीं जा रही हूँ दाखिला कराने।
(बाकी अभिनेता इंटरव्यू पैनल का दायरा बनाते हैं।)

पहला : ट्रिन.... ट्रिन।

दूसरा : नेक्स्ट।

तीसरा : अगले कैंडीडेंट को अंदर भेजो।
(औरत पैनल के दायें से अंदर आती है। आखिर तक वहीं रहती है)

औरत : नमस्ते।

चौथा : गुड मार्निंग सर कहो।

पांचवाँ : न जाने कहाँ से यह फटीचर उठ कर आ जाते हैं।

छठा : ओह दीज़ रैचिज़।

पहला : हम्म्! तुम्हारे कागजात। **(देती है)**

दूसरा : फ़िजिक्स!

तीसरा : कैमैस्ट्री!

चौथा : बायोलॉजी!

पाँचवाँ : मैथेमैटिक्स!

छठा : हिंदी??!!

पहला : व्हाट इज़ आल दिस?

दूसरा : भई, यहाँ तो मिलिट्री साईंस और चाइल्ड साईकोलोजी में ही सीटें खाली हैं।

छठा : अब तुम्हारा क्या होगा?

औरत : गुड मार्निंग सर, मुझे दाखिल कर लीजिए, मैं फीजिक्स पढ़ना चाहती हूँ।

औरत : मैं फिजिक्स पढ़ के इंजीनियर बनना चाहती हूँ।

दूसरा : तुम्हें मालूम है फिजिक्स की पढ़ाई में कितना खर्चा होता है?

दूसरा : यहाँ तो लिखा है तुम्हारे डैडी को 3500 रुपये महीना मिलते हैं।

छठा : तुम्हें मालूम है यूल ब्राईनर की 'प्रॉब्लम्स ऑफ फ़िजिक्स इन द वाइल्ड वेस्ट।'

चौथा : 500 रुपये की आती है, और यह किताब हर विद्यार्थी को खरीदनी ज़रूरी है।

पाँचवाँ : इसके अलावा जान हैम्बरगर की 'फंडामेंट्ल्स ऑफ फ़िजिक्स इन दि ट्वन्टीथ सेंचुरी' 375 रुपये की आती है।

छठा : कालिज की महीने की फीस 200 रुपये है।

पहला : बिल्डिंग फंड के 400 रुपये।

दूसरा : लैब चार्जिज़ 450 रुपया महीना।

तीसरा : कुल मिलाकर 1050 रुपये।

चौथा : दे पाओगी?

औरत : हाँ जी, कुछ न कुछ करूंगी, ट्यूशन पढ़ाकर दूंगी।

तीसरा : ट्यूशन पढ़ाओगी तो अपनी पढ़ाई कब करोगी (सब हंसते हैं) फेल हो गयी तो कालिज का नाम बदनाम होगा।

पाँचवाँ : खैर तुम्हें दाखिल किया जाता है।

पहला : पर इतना याद रखना इस कालिज के अपने नियम हैं एक परंपरा है।

चौथा : लड़कियाँ लड़कों से बात नहीं करतीं।

पाँचवाँ : लड़कियाँ कैंटीन में नहीं जातीं।

दूसरा : राजनीतिक और हड़तालें बिल्कुल बर्दाश्त नही की जातीं, समझ गयी?

तीसरा : जाओ कल से क्लास में आना।

सब : बाहर फीस जमा कर दो।
(सब अभिनेता बैठते हैं।)

औरत : खैर दाखिला हुआ, पर आज कल लड़कियों के लिए कालिज आना जाना कोई हंसी खेल नहीं है। लगता है पूरा शहर शोहदों और गुन्डों से भरा पड़ा है। लड़की देखते ही भेड़ियों की तरह झपटते हैं। **अभिनेता उछलकर नाचते हैं। काला चश्मा, गले में भड़कीले रूमाल बांधे, पंडित का पार्ट करने वाला पुलिस कैप लगाये, हाथ में छड़ी लिए खड़ा होता है, बाकियों को देख मुस्करा कर ठुमके लगाता है।)**

गुण्डे (गाते हैं) चली गोरी कालिज से घर को चली।
(तीनों उसके साथ छेड़खानी करते हैं।)

औरत : ऐ पुलिस वाले, खड़े दाँत क्या निकाल रहे हो? रोकते क्यों नहीं इन्हें?
(गुंडे पहले डर कर 'पुलिस पुलिस' चिल्लाते भागते हैं। फिर जेब से एक नोट निकाल कर पुलिस वाले को देते हैं। पुलिस वाला पलट कर औरत की तरफ बढ़ता है।)

पुलिस : अरी तमीज से बात कर, बड़ी आई है दरोगन। ऐसी ही सीता है तो घर में बैठ, क्यों भटक रही है गली कूचों में, और यह सब पसंद नहीं तो टैक्सी में आया-जाया कर।

गुण्डे : टैक्सी टैक्सी
(सब अपनी मुद्रा में थम जाते हैं।)

सूत्रधार : यह रोज़ ही होता है, शहरी हंसते रहते हैं। शरीफ आदमी गुंडों से घबराते हैं और पुलिस में तो वर्दीधारी गुंडे ही भरे पड़े हैं।

(पुलिस और गुंडे बैठ जाते हैं)

औरत : कालिज की पढ़ाई किसी तरह राम राम करके खतम हुई, बड़े घरों से आने वाले फर्राटे से अंग्रेजी बोलने वाले लड़के - लड़कियों को अच्छे

नम्बर मिले। मैं रो-धो कर पास हुई तीसरी श्रेणी में। फिर नौकरी की तलाश। एक जगह से इंटरव्यू का बुलावा आया। अंदर गयी तो देखा कल तक कालिज में आवारागर्दी करने वाला एक सेठ का लड़का आरामकुर्सी पर बैठा था, वही मालिक था उस दफ्तर का जहाँ नौकरी निकली थी। लेकिन मैं समझ नहीं पायी कि इंटरव्यू लेने वाला मेरे शरीर में दिलचस्पी रखता था या मेरी डिग्री में।

(पहला गुंडा मालिक बंन कर आता है)

गुंडा : हम्....मिस आपकी तो सैकंड डिवीजन है, कम्प्यूटर में क्या आता है?

औरत : सर मुझे कम्प्यूटर नहीं आता।

गुंडा : तो फिर क्या आता है? दफ्तर के कामकाज का पन्द्रह साल का अनुभव है?

औरत : सर अभी तो मेरी उम्र ही 20 साल की है। वैसे कालिज में, मैंने फ़िज़िक्स और कैमेस्ट्री पढा था। वह सब याद है मुझे।

गुंडा : फ़िज़िक्स? कैमिस्ट्री? फिर तो आप काले को सफेद और सफेद को काला करना जानती होंगी?

औरत : जी? मैं समझी नहीं।

(गुंडा लड़की को अपने आगोश में लेने की कोशिश करता है)

गुंडा : इम्पोर्ट-एक्सपोर्ट का धंधा होता है यहाँ। रोज काले को सफ़ेद और सफ़ेद को काला करना पड़ता है। (औरत थप्पड़ मारती है) आपकी शिक्षा किसी काम की नहीं। आप जा सकती हैं।

(बाकी सब दोहराते हैं, 'आप जा सकती हैं'। पहला गुंडा दायरे में बैठता है।)

औरत : 'आप जा सकती हैं' हर जगह यही जवाब मिलता है, अब इस बी.एस. सी. की डिग्री का क्या करूं?

(सभी पात्र खड़े होकर जुलूस बनाते हैं।)

एक दिन मैंने देखा, नौजवानों का जुलूस। बहुत से लड़के लड़कियाँ। मैं भी उनके साथ शामिल हो गयी।

(जुलूस में जा मिलती है। नारे लगते हैं : बेरोजगारी दूर करो...बेरोजगारी दूर करो...बेरोजगारी दूर करो...)

औरत : अचानक पुलिस आ गयी **(पात्र खुद को लाठियों से बचाने का अभिनय करते हैं)** एक-एक को दस-दस ने दबोच लिया। मुझ पर भी लाठियाँ पड़ीं। औरों के साथ डाल दिया गया जेल में। **(पात्र खड़े होकर हाथ ऊपर उठाये एक जेल के कमरे की तरह खड़े होते हैं। उनके बीच में कैद औरत।)** जानते हैं क्यों? दंगा करने के अपराध में। मैं समझ नहीं पाई कि ऐसा क्यों हुआ। मुहल्ले में बदनामी हुई, बिरादरी में नाक कटी। पर नौकरी के नाम पे वही ढाक के तीन पात। चार दिन जेल काटने के बाद घर आई तो पिता जी कहने लगे-
(बाप का अभिनय करने वाला अभिनेता उठता है।)

बाप : लड़की बदचलन हो गयी है। मैं न कहता था मत भेजो कालिज, बाहर की हवा लगते ही पर निकल आयेंगे। अब मैं बिरादरी को क्या मुंह दिखाऊंगा। ऐसी लड़की को भला, वर कहाँ मिलेगा। हे राम अब तू ही कुछ कर।
(दोनों बैठे जाते हैं। सूत्रधार उठता है।)

सूत्रधार : बीबी हो, माँ हो, या हो वो किसी घर की बेटी।
कालिज में पढ़ने जाती हो, चाहे कोई लड़की।
हर जगह इस समाज में रहती है वह पीछे।
मुंह पर लगे हैं ताले, नज़र उसकी है नीचे।
पर सबसे बुरा हाल है उस बदनसीब का
करके मजूरी जो कि चलाती हो जीविका।
स्कूल में हो, फैक्ट्री में, या हो खेत में
रहती है हमेशा ही जुल्म की चपेट में।
आओ दिखाऊँ तुमको मैं इक ऐसी ही नारी
कि फैक्ट्री में काम जो करती है बेचारी।
(सूत्रधार और दो अभिनेता तथा औरत फैक्ट्री में काम करने का अभिनय करते हैं। मालिक का अभिनय करने वाला अभिनेता आता है।)

मालिक : बुढ़िया, क्या हाथ टूट गए हैं तेरे? हट्टी - कट्टी नजर आती है फिर भी हरामखोरी।
(औरत और ज्यादा जोर से काम करती है।)

मालिक : अरी नहीं है तेरे बस का तो घर बैठ, और सैकड़ों मिल जायेंगे, बाहर लाइन लगाये खड़े रहते हैं।

औरत : सब के बराबर का काम करती हूँ, फिर भी कम दिहाड़ी देते हो। ऊपर से यह डांट डपट, यह कहाँ का न्याय है।

मालिक : जबान चलाती है हरामजादी **(मारने के लिये छड़ी उठाता है)**

सूत्रधार : ए.ए. सेठजी होश में।

दूसरा मजदूर : हाथ न उठाना

तीसरा मजदूर : बहुत बुरा होगा। बताए देते हैं, हाँ।

मालिक : अच्छा बेटा, अभी दिखाता हूँ यहाँ का मालिक कौन है।
ए बुढ़िया बाहर निकल, आज से तेरी नौकरी खत्म।

औरत : नहीं सरकार, ऐसा जुल्म मत करो। मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ। मेरे बच्चे भूखे मर जायेंगे।

सूत्रधार : अरे हाथ क्यों जोड़ती है, क्यों खुद को गिराती है? यूनियन किस काम आएगी, मजाक समझ रखा है जब मरजी जिस को निकाल देंगे। तू अरजी लिख, हम सब तेरे साथ हैं।

औरत : न भैया, यह सब मुझसे नहीं होगा। हमारे यहाँ औरतें चिट्ठी न लिखा करें, बिरादरी में नाक कट जाएगी। मैं जाकर सेठजी से माफी माँग लूंगी, भगवान ज़रूर कुछ करेंगे।

दूसरा : अरी भगवान ही तेरे होते तो इस बुढ़ापे में दो रोटी के लिए यह दिन दिखलाते? तू लड़, हम सब तेरे साथ हैं।

औरत : क्यों मेरे दुश्मन बने हो? तुम्हारा तो काम ही है फिजूल में हुल्लड़बाजी करना। बहाना मिलना चाहिए झगड़े का। मेरे पास न लड़ने की ताकत है न फुरसत। मैं सेठ जी से माफी माँग लूँगी।

तीनों : मान जा।
(औरत दौड़ कर मालिक के पास जाकर पैरों पर गिर पड़ती है)

औरत : सरकार, मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ। मुझसे गलती हो गयी। इन लोगों की वजह से मुझ पर क्यों नाराज होते हो। मेरा पूरा घर बार तुम्हारी ही दया पर जिंदा है। मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ सरकार।

मालिक : बुढ़िया, मुंह से निकली बात पत्थर की लकीर है। कह दिया - नहीं है तेरे लिए नौकरी। जा अपने हिमायतियों के पास, माँग उनसे नौकरी। हिम्मत है तो रखवा दें काम पर।

औरत : सरकार....

मालिक : (चिल्ला कर) चली जा....

तीनों : **(दर्शकों से)** भेडिये से रहम की उम्मीद छोड़ दे।
अपनी इन सदियों पुरानी बेड़ियों को तोड़ दे।
आ चुका है वक्त अब इस पार या उस पार का
राज़ जाहिर हो चुका है असली जिम्मेदार का।
(औरत लड़खड़ाते कदमों से वापस आती है। मज़दूर, औरत को बीच में करके, नारे लगाते हैं)

मजदूर : हर जोर जुलम की टक्कर में संघर्ष हमारा नारा है।

मालिक : ए, यह काम कैसे रुक गया, चलो, काम से लगो। ये मेरा आर्डर है।

सूत्रधार : जब तक इसे काम पर नहीं लोगे काम शुरू नहीं होगा।

मालिक : कह दिया इस बुढ़िया के लिए कोई जगह नहीं है।

तीनों : तो पूरी हड़ताल होगी।

मालिक : अच्छा, यह तेवर है। **(चीखता है)** शेरा, पुलिस **(बाकी तीनों अभिनेता भागे आते हैं, मालिक के इशारे पर तीनों मजदूरों पर वार करते हैं। वह गिरते हैं। औरत झुक कर लाल झंडा उठाती है।)**

औरत : हर जोर जुल्म की टक्कर में संघर्ष हमारा नारा है।
हर जोर जुल्म की टक्कर में....
(सभी अभिनेता उठकर नारा लगाते हैं)

सब : संघर्ष हमारा नारा है।

सूत्रधार : यह वक्त की आवाज है। मिल के चलो
(सब गाते हैं) यह जिंदगी का राज है, मिल के चलो।
मिल के चलो, मिल के चलो, मिल के चलो...

3. प्रताप नारायण मिश्र और 'धोखा'

जीवन परिचय

भरतेन्दु के जीवनकाल में ही लेखकों और कवियों का एक मंडल तैयार हो गया था। इस मंडल के लेखकों ने नवजागरण की भूमिका को पहचाना और उससे साहित्य को समृद्ध करने का प्रयत्न किया। हिंदी साहित्य के नूतन विकास में योगदान किया। सांस्कृतिक जागरण का बोध जो उस समय अंकुरित हो रह था। उसे फलने-फूलने के लिए इन साहित्यकारों ने उर्वर भूमि प्रदान की। भारतेन्दु मंडल के लेखकों ने साहित्य और जीवन के नजदीकी रिश्तों को पहचाना। भारतेन्दु मंडल के साहित्यकारों में प्रताप नारायण मिश्र का नाम प्रमुख है।

बैंसवाड़ा अपनी लोक संस्कृति के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ की लोक संस्कृति का प्रभाव यहाँ जन्म लेने वाले साहित्यकारों पर व्यापक रूप से पड़ा है। सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी और मुल्ला दाऊद में इसका असर देख सकते हैं। इसी बैंसवाड़ा जनपद के एक गाँव जिसका नाम बैजेगांव है, उसी गाँव में 24 सितंबर 1856 ई. को प्रताप नारायण मिश्र का जन्म हुआ था। इनके पूर्वजों का व्यापार बाग लगाना और पशुपालन करना था। इनके पिता संकटा प्रसाद मिश्र ज्योतिष विद्या में पारंगत थे। इन्होंने ज्योतिष विद्या के कारण अपार धन संपत्ति अर्जित की।

प्रताप नारायण जी के पिता की इच्छा थी कि बालक प्रताप को ज्योतिष विद्या पढ़ाई जाय। परंतु इनका मन संस्कृत की पाण्डित्य परंपरा में नहीं लगा। पिता ने उनका दाखिला रामगंज के मिशन स्कूल में करा दिया। पर वहाँ भी उनका मन नहीं लगा। स्वतंत्र और मनमौजी प्रवृत्ति के कारण जहाँ उन्होंने जीवन की मस्ती देखी, वहीं रम जाते थे। 1875 में इन्होंने स्कूली शिक्षा को नमस्कार कर दिया। लेकिन इसी बीच उन्होंने कई भाषाओं की जानकारी हासिल कर ली थी। वे हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू, फारसी, संस्कृत आदि भाषाओं के अतिरिक्त अवधी और ब्रजभाषा के भी पूर्ण जानकार थे। उर्दू और फारसी में वे 'बरहमन' के उपनाम से कविता किया करते थे।

मिश्रजी का गृहस्थ जीवन बड़ा अस्त-व्यस्त रहा। इनके दो विवाह हुए थे। पहला विवाह 18-19 वर्ष की अवस्था में हुआ था। चार-पाँच महीने के बाद ही उनकी पत्नी का देहान्त

हो गया। दूसरा विवाह उन्नाव जिले के पंडित राम सहाय शुक्ल की पुत्री सूरज कुंअरि से हुआ था। मिश्रजी दृढ़ इच्छा शक्ति वाले गृहस्थ कभी नहीं रहे। लापरवाही और धनाभाव ने उनकी पारिवारिक हालत को खस्ता कर दिया था। उनके घर का खर्च मकान किराए से चलता था।

प्रतापनारायण मिश्र के कानपुर वाले घर पर प्रसिद्ध साहित्यकारों का जमघट रहता था। वहाँ 'ब्राह्मण' पत्र के संपादन के विषय और विश्लेषण तथा हिन्दी के प्रसार संबंधी योजनाओं पर बहस होती थी। वे अपने समय के अच्छे लावनी बाज थे। 19वीं सदी के वे समर्पित साहित्य साधकों में से एक थे।

1894 ई. में मिश्र जी ऐसे बीमार पड़े कि फिर कभी स्वस्थ नहीं हो सके। अगस्त 1894 में उनका 38 वर्ष की अवस्था में स्वर्गवास हो गया। वे बड़े ही नेक और जिंदादिल इंसान थे। वे जीवन की तह में छिपे विनोद और मनोरंजन की सामग्री ढूँढ लिया करते थे। उनकी प्रवृति हास्यविनोद की ओर अधिक थी। इनकी रचनाओं को देखने से पता चलता है कि उनका पर्यावरण बोध भी काफी विकसित था। उन्हें न सिर्फ प्रकृति से अपितु पशु, पक्षियों से भी प्रेम था। उनमें देश की वर्तमान दशा और विदेशी शासन के प्रति तीव्र आक्रोश था। वे ऐसे सजग साहित्यकार थे जो कांग्रेस जैसी राष्ट्रीय राजनीतिक संस्था से आजीवन संबद्ध रहे।

साहित्यिक योगदान

समसायियिक जीवन के प्रति जैसी जागरूकता भारतेन्दु युग के साहित्यकारों में मिलती है वैसी अन्य युग में मुश्किल से ही दिखाई देती है। वे नवजागरण दौर के लेखक थे और उसकी प्रायः सभी विशेषताएँ उनके लेखन में दिखाई देती है।

प्रतापनारायण मिश्र के साहित्यिक व्यक्तित्व के तीन प्रमुख रूप हैं - निबंधकार, कवि तथा पत्रकार। इनके कवि व्यक्तित्व में जहाँ ब्रजभाषा की श्रृंगारिक प्रवृत्ति है वहीं लोक प्रवृत्ति के तत्वों की बहुलता भी है। व्यंग्य विनोद के साथ देशीपन की गंध भी इनकी कविता में विद्यामान है। 'प्रेमपुष्पावली' और 'मन की लहर' में उनकी विविध भाषाओं में लिखी गई लावनियों का संकलन है जिसका प्रकाशन 1885 में हुआ था। 'श्रृंगार विलास', 'आल्हादंगल', 'ब्रैडला स्वागत' लोकोक्ति शतक (100 कहावतों पर राष्ट्रीय भाव से युक्त 100 कविताएँ) आदि उनके काव्य संग्रह हैं। इसके अतिरिक्त आपके दो संपादित संकलन भी हैं - 'दीवाने बरहमन' (उर्दू कविताओं का संकलन) तथा 'रसखान शतक'। इनकी कविताओं का एक महत्वपूर्ण संकलन 'प्रताप लहरी' के नाम से प्रकाशित हुआ था।

मिश्र जी अच्छे लावनीबाज थे। लावनी की प्रतियोगिता दो दलों के बीच में होती है। वे लावनी गायन में भी दक्ष थे। उनका अपना मानना था कि हिंदी उत्थान में इससे सहायता मिलेगी। इनके काव्य में लोकजीवन की सहजता है। इनका भावबोध और दृष्टिकोण आधुनिक है।

वे हिंदी के श्रेष्ठ आत्मव्यंजक निबंधकार हैं। उनके निबंध में देश दशा, समाज सुधार, नागरी-हिंदी प्रचार, मनोरंजन आदि सब विषयों पर विवेचन होता था। उनके निबंधों के संग्रह 'निबंध नवनीत' और 'प्रताप पीयूष' प्रताप नारायण ग्रंथावली में संकलित है। 'ब्राह्मण' पत्र उन्होंने विविध विषयों पर गद्य प्रबंध लिखने के लिए ही निकाला था।

प्रतापनारायण मिश्र नाटककार और अभिनेता भी थे। उन्होंने स्वयं भारतेन्दु के कई नाटकों में भूमिका की थी। उन्होंने 1883 ई. में 'भारत एंटरटेनमेंट' कल्ब की स्थापना की। उनके द्वारा लिखित 'कलिकौतुक' रूपक में पाखंडियों और दुराचारियों का चित्र खींचकर उनसे सावधान रहने की ओर संकेत किया गया है। 'संगीत शाकुंतल' लावनी के ढ़ंग पर गाने योग्य पद्यबद्ध नाटक है। मिश्रजी का नाटक 'भारत दुर्दशा' प्रतीकात्मक है जिसमें भारत, कलियुग, आलस्य आदि पात्र हैं। 'हठी हम्मीर' रणथंभौर पर अलाउद्दीन की चढ़ाई का वृत लेकर लिखा गया नाटक है। 'गो संकट' और 'कलिप्रभाव' नाटक के अतिरिक्त 'जुआरी खुआरी' नामक उनका एक प्रहसन भी है।

प्रतापनारायण मिश्र के साहित्य में कलात्मक तराश नहीं अनगढ़ता है। वे जीवन की मौज मस्ती में ही नहीं समाज और परिस्थिति के आत्मज्ञान से भी रचना करते थे। 19 वीं सदी का जो वैचारिक अन्तर्विरोध भारतेन्दु में मिलता है वही अन्तर्विरोध उनमें भी मौजूद था। उनमें स्वदेशी चेतना है लेकिन आज की स्वदेशी चेतना की तरह वह मात्र आडंबर नहीं था। उनकी स्वदेशी चेतना लोक परंपरा से फूटती हुई मालूम पड़ती है।

रचना के बारे में

'धोखा' निबंध का रचनाकाल ठीक तरह से मालूम नहीं होने पर भी उसे 1876-85 के बीच की रचना मान सकते हैं। इस निबंध की रचना से पूर्व वे कवि, नाटकार और पत्रकार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे।

धोखा नामक भाव को समझने के ध्येय से इस निबंध की रचना हुई है। निबंध को जीवन संदर्भों से जुड़े अनुभवों से पुष्ट बनाया गया है। अनुभव और शास्त्र को ध्यान में रखकर 'धोखा' भ्रम, छल आदि के बीच के सूक्ष्म अंतर को बताया गया है। लोक और समाज के मंगल के लिए 'धोखा' की पहचान अनिवार्य मानते है। उनके व्यक्तित्व की उन्मुक्तता उनके निबंध का प्राणतत्व है।

'धोखा' प्रतापनारायण मिश्र का भावपरक निबंध है। सर्वप्रथम उन्होंने धोखा और भ्रम को स्पष्ट किया है। वे मनोभाव को स्पष्ट करने में हिचकते नहीं, उस पर बेबाक टिप्पणी करते हैं। उसे लोक अनुभव से संपृक्त करते हैं। उनके लेखन की आधुनिकता इस बात में है कि वे भाव और विचार का एक पक्षीय विश्लेषण नहीं करके उसके बहुपक्षीय प्रभाव को दिखाते हैं। मनुष्य प्रत्यक्ष में इतना अधिक विश्वास करने लगा है कि उसे अमूर्त भाव और संवेदना जैसे शब्द अजनबी लगने लगेंगे इसकी ओर भी लेखक ने संकेत किया है। इसमें जिन समस्याओं को उठाया गया है वह आधुनिक सभ्यता और आधुनिक मनुष्य की समस्याएँ हैं। उनके मानोभाव संबंधी, निबंधों को देखकर ऐसा लगता है कि रामचंद्र शुक्ल के मनोभाव संबंधी निबंधों के लिए ज़मीन उन्नीसवीं सदी में बनने लगी थी।

'धोखा' एक मनोभाव को केन्द्र में रखकर लिखा गया निबंध है। भाव की गयात्मकता के महत्वपूर्ण पक्ष को सामने रखा गया है। वे धोखा और ईश्वरीय लीला के भ्रम के बीच साम्य और वैषम्य पर बल देते हैं। लोक अनुभव में प्रचलित उद्धरणों से बात को पुष्ट करते हैं। बुद्धिवाद की अधिकता के कारण सहज जीवन के प्रवाह में जो बाधा उपस्थित हुई उसकी मर्मस्पर्शी पहचान उनमें मौजूद हैं। वे जीवन में निहित रचनात्मक संभावनाओं की खोज करते हैं। सांसारिक जीवन और संबंधों को छोड़कर विराग की ओर अग्रसर होने वाले को वे अपना निशाना बनाते हैं। जीवन की वास्तविकता से सीधा मुकाबला करने की सामर्थ्य पर उन्होंने विश्वास रखा है। बड़े-बड़े वैचारिक प्रश्न और तर्कजाल की उलझन को गहराई में जाकर उन्होंने देखा है। दूसरी ओर यथार्थ और प्रत्यक्ष को वे जीवन का एकमात्र प्रयोजन नहीं बनाते हैं। अमूर्त भाव चाहे गोचर नहीं हो पर उसकी सत्ता पर संदेह करना उचित नहीं है। उनके संबंधों में जीवन के प्रति संतुलित दृष्टिकोण को अपनाने की वकालत की गई है। उन्होंने शाश्वत सनातन सत्य पर व्यंग्य किया है, उसे भी संदेह की निगाह से देखा है। इसमें उन्हें कोई हिचक नहीं दिखाई है। यह उनके आधुनिक होने का प्रमाण है।

शैली की दृष्टि से 'धोखा' विचार प्रधान भावात्मक निबंध है। उनके इस निबंध में अभिव्यक्ति की उन्मुक्तता दिखाई देती है। उनके व्यक्तित्व की सर्वाधिक प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति उनके आत्मव्यंजक निबंधों में ही होती है। भाव के आवेग के साथ उनका व्यक्तित्व साकार हो उठता है। मिश्रजी ने समास शैली का प्रयोग भी जहाँ-तहाँ किया है। उनके निबंध में हास्य है, व्यंग्य है और जिदांदिली है और इसी वजह से उनकी भाषा स्वयं मूर्तिमान हो उठती है। शब्दों में गति आ जाती है। विषय को रूचिकर बनाने के लिए न केवल दृष्टांत एवं मुहावरे का प्रयोग करते हैं अपितु वे रचनात्मक भाषा भी लिखते हैं। उनकी भाषा पूरबी कहावतों और मुहावरों की झड़ी लगा देती है। मिश्रजी में भाषागत दोषों

के रहते हुए भी कह सकते हैं कि वे समर्थ निबंधकार हैं। जीवन और जगत संबंधी चितंन को अपने व्यक्तित्व की संश्लिष्टता से मनोरंजक बनाते हैं।

शब्दावली

बरंच : बल्कि
इद मित्थं : बिल्कुल सही
माया बपुधारी : माया का अवतार
नारि नारि सब एक हैं जस मेहर तस माय : पूर्वी हिंदी प्रदेशों में प्रचलित लोकोक्ति का प्रयोग। जिसका भावार्थ यह है कि नारी के सभी रूप एक से हैं चाहे वह पत्नी हो या माता।
मूंदि गई आंखें तब लाखें केहि काम की : लोकोक्ति का प्रयोग। भावार्थ यह है कि जब जीवन ही नहीं रहेगा तो लाखों की धन-संपत्ति भी किस काम की रहेगी।
मुडियावे : अपने मत्थे लेना
ना हम काहू के कोऊ ना हमारा : 'कवितावली' में तुलसीदास की पंक्ति। जिसका अर्थ है- न मेरा काई है, न मैं किसी के लिए हूँ।
व्यतिक्रम : उलटे क्रम से
अविदित सुख दुख : जिस सुख दुख के विषय में जानकारी न हो
निर्विशेषरूप : परमात्मा, परंब्रह्म
अथच : और भी
ढिच्चर : बखेड़ा
प्राज्ञगण : बुद्धिमान आदमी
संखिया : एक बहुत जहरीली सफेद उपधातु या पत्थर। उससे तैयार भस्म दवा के काम में आता है।
सिंगिया : एक पौधा, यह भी जहरीला होता है और औषधि बनाने में काम आता है।
दोख : दोष (भाषा के पूरबी रूप का प्रयोग है)
हिकमत : कौशल या चतुराई
गुरू गुड़ ही रहा चेला शक्कर हो गया : कहावत का प्रयोग
अक्किल : अक्ल, बुद्धि
भेष : वेशभूषा
गो : इंद्रिय
निरे : निपट
माया मोहनी मन हरन : ब्रह्म की शक्ति का रूप माया माना गया है। सूरदास यहाँ मोहिनी शक्ति मनोहर रूप की चर्चा करते हैं।

गो गोचर जहं लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई : तुलसीदास की पंक्ति है। इंद्रिय या सांसारिक विषय वासनाओं में जिसका मन लग गया हो उस पर व्यंग्य करते हैं। माया को परमज्ञानी ही पहचानते हैं। जो संसारिकता में खोया हुआ है उसे तो उसकी पहचान ही नहीं होती।

व्याख्या के लिए प्रमुख अंश

1. जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है। वह धोखे का पुतला नहीं है तो क्या है? हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय में कोई निश्चयपूर्वक 'इदमित्थं' कही नहीं सकता, जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता वह निर्भ्रम या भ्रमरहित क्यों कर कहा जा सकता है। शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके। पर उसके तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा? और जब वही भ्रम से पूर्ण है तब उसके बनाए संसार में भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ?

2. सच है, भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान के बनाए हुए भव (संसार) में जो कुछ है भ्रम ही है। जब तक भ्रम है तभी संसार है बरंच संसार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं ! और कौन जाने हो तो हमें उससे कोई काम नहीं ! परमेश्वर सबका भ्रम बनाए रखे इसी में सब कुछ है। जहाँ भरम खुल गया वहीं लाख की भलमंसी खाक में मिल जाती है।

3. धोखा खाने वाला मूर्ख और धोखा देने वाला ठग क्यों कहलाता है? जब सब कुछ धोखा ही धोखा है, और धोखे से अलग रहना ईश्वर की भी सामर्थ्य से भी दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न-पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिच्चर-ढिच्चर होने लगे, बरंच रही न जाय तौ फिर **इस** शब्द का स्मरण वा श्रवण करते ही आप की नाक भौंह क्यों सुकुड़ जाती है?

4. परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को सब कुछ उठा दीजिए तो क्या भीख माँग के प्रतिष्ठा, अथवा चोरी करके धर्म खोइएगा वा भूखों मर के आत्महत्या के पाप भागी होइएगा ! यों ही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है, पर यदि कोई संसार का अनिष्ट करता हो, उसे राजा से दंड दिलवाइए वा आप ही उसका दमन कर दीजिए तो अनेक लोगों के हित का पुण्यलाभ होगा।

व्याख्या का उदाहरण

गद्यांशः जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है। वह धोखे का पुतला नहीं है तो क्या है? हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय में कोई निश्चयपूर्वक 'इदमित्थं' कही नहीं सकता, जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता वह निर्भ्रम या भ्रमरहित क्यों कर कहा जा सकता है। शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके। पर उसके तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा? और जब वही भ्रम से पूर्ण है तब उसके बनाए संसार में भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ?

संदर्भ-संकेत

भारतेंदु युग के लेखकों में प्रतापनारायण मिश्र का प्रमुख स्थान है। उपर्युक्त गद्यांश उनके निबंध 'धोखा' से उद्धृत है। धोखा एक मनोभाव है इस पर मिश्रजी ने निबंध में विचार किया है। उपर्युक्त अंश में वे इस शब्द पर ईश्वर संबंधी संकल्पना के संदर्भ में विचार करते हैं। वह संकल्पना क्या है इसे समझते हुए निबंध में कही गई बात का मर्म समझा जा सकता है।

व्याख्या-संकेत

उक्त अंश में लेखक ने साकार और निराकार की संकल्पना पर टिप्पणी की है। भारतीय परंपरा में ईश्वर के दो रूप माने जाते हैं : एक, साकार यानी जो विभिन्न प्राणी रूप धारण कर सकता है जैसे ब्रह्म या विष्णु के विभिन्न अवतारों का उल्लेख किया जाता है। दो, निराकार यानी जिसका कोई रूप, कोई आकार नहीं है। मिश्र जी कहते हैं कि यदि वह निराकार है तो फिर विभिन्न रूप कैसे धारण कर सकता है और यदि वह साकार है तो उसे निराकार कहने का क्या अर्थ। इसी प्रकार ईश्वर को निर्विकार भी कहा गया है यानी वह सभी सांसारिक विकारों से परे है। लेकिन साकार रूप मानने पर अवतार लेता है और विभिन्न लीलाएँ भी करता है। इसी अंतर्विरोध को देखकर लेखक यह प्रश्न उठाता है कि क्या ईश्वर के यह भिन्न-भिन्न रूप देखकर उसे 'धोखे का पुतला' नहीं कहा जा सकता?

दूसरा प्रश्न स्वयं ईश्वर के अस्तित्व के बारे में उठाते हैं। हम सभी जानते हैं कि ईश्वर है या नहीं इसके बारे में सभ्यता के आरंभ से ही विवाद रहा है। आस्तिक और नास्तिक की दो श्रेणियाँ इसी आधार पर बनी है। जो ईश्वर के अस्तित्व को मानते हैं आस्तिक कहलाते

हैं और जो नहीं मानते वे नास्तिक कहलाते हैं। जब ईश्वर का अस्तित्व भी संदेह से परे नहीं है तो उसे निर्भ्रम कैसे कहा जा सकता है या 'उसके बनाए संसार' को भी भ्रम या धोखे से रहित कैसे माना जा सकता है?

उपर्युक्त गद्यांश में मिश्रजी इसी बात पर बल देते हैं कि धोखे से परे कुछ नहीं है न ईश्वर और न यह संसार। इस प्रकार धोखे की सर्वव्यापकता को वे प्रमाणित करते हैं।

विशेष-संकेत

दर्शनशास्त्र में प्रस्तुत संकल्पनाओ का ऐसा सरल और तार्किक विवेचन मिश्रजी के लेखन की खास पहचान है। उसी के अनुरूप उन्होंने शब्दावली और वाक्यों का प्रयोग किया है। आप इस पहलू पर भी टिप्पणी कर सकते हैं।

सहायक पुस्तकें

रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
डॉ. रामविलास शर्मा : भारतेन्दु युग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
देवीशंकर अवस्थी : आलोचना और आलोचना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
डॉ. भगवती प्रसाद शर्मा : नवजागरण और प्रताप नारायण मिश्र, राधा पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

मूलपाठ : निबंध

धोखा

इन दो अक्षरों में भी न जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट से बचना यदि निरा असंभव न हो तौ भी महा कठिन तो अवश्य है। जब कि भगवान रामचंद्र ने मारीच राक्षस को सुवर्ण मृग समझ लिया था तो हमारी आपकी क्या सामर्थ्य है जो धोखा न खायं? बरंच ऐसी ऐसी कथाओं से विदित होता है कि स्वयं ईश्वर भी केवल निराकार निर्विकार ही रहने की दशा में इससे प्रथक् रहता है सो भी एक रीति से नहीं ही रहता, क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक काम सृष्टि का उत्पादन करना है, उसके लिए उसे अपनी माया का आश्रय लेना पड़ता है। और माया, भ्रम, छल इत्यादि धोखे ही के पर्याय हैं, इस रीति से यदि हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है तो अयुक्त न होगा। क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह धोखा खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते है कि माया का प्रपंच फैलाता है वा धोखे की टट्टी खड़ा करता है।

अतः सबसे प्रथक् रहने वाला ईश्वर भी ऐसा नहीं है जिसके विषय में यह कहने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग है, बरंच धोखे से पूर्ण उसे कह सकते हैं, क्योंकि वेदों में उसे 'आश्चर्योस्य वक्ता' 'चित्रन्देवानमुदगातनीक' इत्यादि कहा है और आश्चर्य तथा चित्रत्व को मोटी भाषा में धोखा ही कहते हैं, अथवा अवतार धारण की दशा में उसका नाम माया-बपु-धारी होता है, जिसका अर्थ है - धोखे का पुतला, और सच भी यही है। जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है। वह धोखे का पुतला नहीं है तो क्या है? हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय में कोई निश्चयपूर्वक 'इदमित्थं' कही नहीं सकता, जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता वह निर्भ्रम या भ्रमरहित क्यों कर कहा जा सकता है। शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके। पर उसके तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा? और जब वही भ्रम से पूर्ण है तब उसके बनाए संसार में भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ?

वेदांती लोग जगत् को निरा भ्रम समझते हैं। यहाँ तक कि एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को भली भाँति समझा दिया था कि विश्व में जो कुछ है, और जो कुछ होता है, सब भ्रम है। किंतु यह समझाने के कुछ ही दिन उपरांत उनके किसी प्रिय व्यक्ति का प्राणांत हो गया, जिसके शोक में वह फूट-फूट कर रोने लगे। इस पर शिष्य ने

आश्चर्य में आकर पूछा कि आप तो सब बातों को भ्रमात्मक मानते हैं, फिर जान बूझकर रोते क्यों हैं? उसके उत्तर में उन्होंने कहा कि रोना भी भ्रम ही है। सच है, भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान के बनाए हुए भव (संसार) में जो कुछ है भ्रम ही है। जब तक भ्रम है तभी तक संसार है बरंच संसार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं ! और कौन जाने हो तो हमें उससे कोई काम नहीं ! परमेश्वर सबका भ्रम बनाए रखे इसी में सब कुछ है। जहाँ भरम खुल गया वहीं लाख की भलमंसी खाक में मिल जाती है। जो लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बन कर संसार को सचमुच माया की कल्पना मान बैठते हैं वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि से चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मान के सर्वथा सुखी हो जाने का धोखा खाया करें; पर संसार के किसी काम के नहीं रह जाते हैं, बरंचै निरे अकर्ता, अभोक्ता बनने की उमंग में अकर्मण्य और 'नारि नारि सब एक है जस मेहरि तस माय' इत्यादि सिद्धांतों के मारे अपना तथा दूसरों का जो अनिष्ट न कर बैठें वही थोड़ा है, क्योंकि लोक और परलोक का मज़ा भी धोखे ही में पड़े रहने से प्राप्त होता है। बहुत ज्ञान छांटना सत्यानाशी की जड़ है ! ज्ञान की दृष्टि से देखें तो आपका शरीर मलमूत्र, मांस मज्जादि, घृणास्पद पदार्थों का विकारमात्र है, पर हम उसे प्रीति का पात्र समझते हैं और दर्शन स्पर्शनादि से आनंद लाभ करते हैं।

हमको वास्तव में इतनी जानकारी भी नहीं है कि हमारे शिर में कितने बाल हैं वा एक मिट्टी के गोले का सिरा कहाँ पर है, किंतु आप हमें बड़ा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते हैं तथा हमारी लेखनी या जिह्वा की कारीगरी देख-देख कर सुख प्राप्त करते हैं । विचार कर देखिए तो धन जन इत्यादि पर किसी का कोई स्वत्व नहीं है, इस क्षण हमारे काम आ रहे हैं, क्षण ही भर के उपरांत न जाने किसके हाथ में वा किस दशा में पड़ के हमारे पक्ष में कैसे हो जायं, और मान भी लें कि इनका वियोग कभी न होगा तो भी हमें क्या? आखिर एक दिन मरना है, और 'मूंदि गईं आंखें तब लाखें केहि काम की'। पर यदि हम ऐसा समझ कर सबसे संबंध तोड़ दें तो सारी पूंजी गंवा कर निरे मूर्ख कहलावें, स्त्री पुत्रादि का प्रबंध न करके उनका जीवन नष्ट करने का पाप मुड़ियावें ! 'ना हम काहू के कोऊ ना हमारा' का उदाहरण बनके सब प्रकार के सुख सुविधा, सुयश से वंचित रह जावें ! इतना ही नहीं, बरंच और भी सोच कर देखिए तो किसी को कुछ भी खबर नहीं है कि मरने के पीछे जीव की क्या दशा होगी।

बहुतेरों का सिद्धांत यह भी है कि दशा किसकी होगी, जीव तो कोई पदार्थ ही नहीं है। घड़ी के जब तक सब पुरजे दुरुस्त हैं, और ठीक-ठीक लगे हुए हैं तभी तक उस में खट खट, टन टन आवाज आ रही है, जहाँ उसके पुरजों का लगाव बिगड़ा वहीं न उसकी गति है, न शब्द है। ऐसे ही शरीर का क्रम जब तक ठीक-ठीक बना हुआ है, मुख से शब्द और मन से भाव तथा इन्द्रियों से कर्म का प्राकट्य होता रहता है, जहाँ इसके

क्रम में व्यक्तिक्रम हुआ, वहीं सब खेल बिगड़ गया, बस फिर कुछ नहीं, कैसा जीव?कैसी आत्मा? एक रीति से यह कहना झूठ भी नहीं जान पड़ता, क्योंकि जिसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है उसके विषय में अंततोगत्वा यों ही कहा जा सकता है ! इसी प्रकार स्वर्ग नर्कादि के सुख दुःखादि का होना भी नास्तिकों ही के मत से नहीं, किंतु बड़े बड़े आस्तिकों के सिद्धांत से भी 'अविदितिसुखदुख निर्विशेषस्वरूप' के अतिरिक्त कुछ समझ में नहीं आता।

स्कूल में हमने भी सारा भूगोल और खगोल पढ़ डाला है, पर नर्क और बैकुंठ का पता कहीं नहीं पाया। किंतु भय और लालच को छोड़ दें तो बुरे कामों से घृणा और सत्कर्मों से रुचि न रख कर भी तो अपना अथच पराया अनिष्ट ही करेंगे। ऐसी-ऐसी बातें सोचने से गोस्वामी तुलसीदास जी का 'गो गोचर जहं लगि मन जाई, सो सच माया जानेहु भाई' और भी सूरदास जी का 'मायामोहिनी मन हरन' कहना प्रत्यक्षतया सच्चा जान पड़ता है। फिर हम नहीं जानते कि धोखे को लोग क्यों बुरा समझते हैं? धोखा खाने वाला मूर्ख और धोखा देने वाला ठग क्यों कहलाता है? जब सब कुछ धोखा ही धोखा है, और धोखे से अलग रहना ईश्वर की भी सामर्थ्य से भी दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न-पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिच्चर-ढिच्चर होने लगे, बरंच रही न जाय तो फिर इस शब्द का स्मरण वा श्रवण करते ही आप की नाक भौंह क्यों सुकुड़ जाती है? इसके उत्तर में हम तो यही कहेंगे कि साधारणतः जो धोखा खाता है वह अपना कुछ न कुछ गंवा बैठता है, और जो धोखा देता है उस की एक न एक दिन कलई खुले बिना नहीं रहती है और हानि सहना वा प्रतिष्ठा खोना दोनों बातें बुरी हैं, जो बहुधा इसके संबंध में हो ही जाया करती हैं।

इसी से साधारण श्रेणी के लोग धोखे को अच्छा नहीं समझते, यद्यपि उससे बच नहीं सकते, क्योकि जैसे काजल की कोठरी में रहने वाला बेदाग नहीं रह सकता वैसे ही भ्रमात्मक भवसागर में रहने वाले अल्प-सामर्थी जीव का भ्रम से सर्वथा बचा रहना असंभव है, और जो जिससे बच नहीं सकता उस का उस की निंदा करना नीतिविरुद्ध है। पर क्या कीजिए, कच्ची खोपड़ी के मनुष्य को प्राचीन प्राज्ञ गण अल्पज्ञ कह गए हैं, जिसका लक्षण ही है कि आगा पीछा सोचे बिना जो मुँह पर आवे कह डालना और जो जी में समावे कर उठना, नहीं तो कोई काम वा वस्तु वास्तव में भली अथवा बुरी नहीं होती, केवल उसके व्यवहार का नियम बनने बिगड़ने से बनाव बिगाड़ हो जाया करता है।

परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को सब कुछ उठा दीजिए तो क्या भीख माँग के प्रतिष्ठा, अथवा चोरी करके धर्म खोइएगा वा भूखों मर के आत्महत्या के पाप भागी होइएगा ! यों ही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है,

पर यदि कोई संसार का अनिष्ट करता हो, उसे राजा से दंड दिलवाइए वा आप ही उसका दमन कर दीजिए तो अनेक लोगों के हित का पुण्यलाभ होगा।

घी बड़ा पुष्टिकारक होता है, पर दो सेर पी लीजिए तो उठने बैठन की शक्ति न रहेगी। और संखिया, सींगिया आदि प्रत्यक्ष विष है, किंतु उचित रीति से शोध कर सेवन कीजिए तो बहुत से रोग दोख दूर हो जायेंगे। यही लेखा-धोखे का भी है। दो एक बार धोखा खा के धोखेबाजी की हिकमतें सीख लो, और कुछ अपनी ओर से झपकी फुंदनी जोड़ कर 'उसी की जूती उसी का सिर' कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभवशाली बरंच 'गुरु गुड़ ही रहा चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे। यदि इतना न हो सके तो उसे पास न फटकने दो तौ भी भविष्य के लिए हानि और कष्ट से बच जाओगे।

यों ही किसी को धोखा देना हो तो इस रीति से दो कि तुम्हारी चालबाजी कोई भांप न सके, और तुम्हारा बलिपशु यदि किसी कारण से तुम्हारे हथखंडे ताड़ भी जाय तो किसी से प्रकाशित करने के काम का न रहे। फिर बस अपनी चतुरता के मधुर फल को मूर्खों के आंसू तथा गुरू-घंटालों के धन्यवाद की वर्षा के जल से धो और स्वादुपूर्वक खा! इन दोनों रीतियों से धोखा बुरा नहीं है। अगले लोग कह गए हैं कि आदमी कुछ खो के सीखता है, अर्थात् धोखा खाए बिना अक्किल नहीं आती, और बेईमानी तथा नीतिकुशलता में इतना ही भेद है कि जाहिर हो जाय तो बेईमानी कहलाती है और छिपी रहै तो बुद्धिमानी है।

हमें आशा है कि इतने लिखने से आप धोखे का तत्व यदि निरे खेत के धोखे न हों, मनुष्य हों तो समझ गए होंगे। पर अपनी ओर से इतना और समझा देना भी हम उचित समझते हैं कि धोखा खा के धोखेबाज का पहिचानना साधारण समझ वालों का काम है। इस से जो लोग अपनी भाषा भोजन, भेष, भाव और भ्रातृत्व को छोड़ कर आप से भी छुड़वाया चाहते हों उनको समझे रहिए कि स्वयं धोखा खाए हुए हैं और दूसरों को धोखा दिया चाहते हैं। इससे ऐसों से बचना परम कर्तव्य है, और जो पुरुष एवं पदार्थ अपने न हों व देखने में चाहे जैसे सुशील और सुंदर हों, पर विश्वास के पात्र नहीं है, उनसे धोखा हो जाना असंभव नहीं है। बस, इतना स्मरण रखिएगा तो धोखे से उत्पन्न होने वाली विपत्तियों से बचे रहिएगा। नहीं तो हमें क्या, अपनी कुमति का फल अपने ही आंसुओं से धो और खा, क्योंकि जो हिंदू हो कर ब्रह्मवाक्य नहीं मानता वह धोखा खाता है।

4. रामचंद्र शुक्ल और 'लोभ और प्रीति'

जीवन परिचय

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का जन्म उत्तर प्रदेश में बस्ती जिले के अगौना नामक गाँव में 1884 ई. में हुआ था। इनके पिता का नाम चंद्रबली शुक्ल था। आचार्य शुक्ल के बचपन के पाँच-छह वर्ष अगौना में ही बीते। उनके पिता ने नौकरी कर ली तो उनका परिवार 1891 ई. में हमीर जिले की राठ तहसील चला आया। उनके पिता की नियुक्ति कानूनगो के तौर पर हुई थी। 1893 ई. में आचार्य शुक्ल का परिवार मिर्जापुर आ गया। 1908 ई. तक वे वहीं रहे। उनकी युवावस्था के दिन मिर्जापुर में बीते जिसके प्राकृतिक सौन्दर्य का उनके व्यक्तित्व निर्माण में बड़ा योगदान है।

इनके पिता पर अरबी-फारसी बहुल उर्दू का गहरा संस्कार था जबकि अपनी माता से उन्होंने रामचरितमानस के पाठ भी सुने थे। शुक्लजी की आरंभिक शिक्षा अन्य विषयों के साथ-साथ उर्दू और फारसी में भी हुई। मिर्जापुर आने पर रमईपट्टी मुहल्ले के एंगलो-संस्कृत जुबली स्कूल में उनका नाम लिखाया गया। वहीं से चौदह वर्ष की उम्र में उन्होंने उर्दू के साथ अंग्रेजी लेकर मिडिल पास किया। 1901 में उन्होंने स्कूल फाइनल की परीक्षा पास की। शुक्लजी की पढ़ने में गहरी रुचि थी। अध्यापकों के प्रोत्साहन से उनका अंग्रेजी ज्ञान काफी पुष्ट हो चला था। सोलह वर्ष की आयु में शुक्लजी ने 'एडिसन के ऐस्से ऑन इमेजिनेशन' का 'कल्पना का आनंद' के नाम से हिंदी अनुवाद किया था।

स्कूली शिक्षा पूरी करने के बाद उन्होंने इलाहाबाद में कायस्थ पाठशाला में इंटरमीडिएट में पढ़ने के लिए नाम लिखाया लेकिन पारिवारिक कारणों से लौट आए। 1896 में उनका विवाह हो गया था। आरंभ में उन्होंने कई तरह की नौकरियाँ करने की कोशिश की लेकिन उनमें उनका मन नहीं लगा। उन्होंने अंग्रेजी में अपना पहला निबंध What has India to do 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में प्रकाशित कराया जिसमें भारतवासियों के कर्तव्य और सरकारी नौकरियों के प्रति उनके दृष्टिकोण का पता चलता है । कुछ समय के लिए उन्होंने लंदन मिशन स्कूल में ड्राइंग मास्टर के पद पर भी काम किया। साहित्य संबंधी उनके आलोचनात्मक लेखन पर चित्रकला के प्रति उनके गहरे रुझान का प्रभाव साफ़ देखा जा सकता है।

शुक्लजी का परिचय 'आनंद कादंबिनी' के संपादक और भारतेंदु युग के वरिष्ठ लेखक प्रेमघन से 1896 ई. में हुआ। 1896-97 में आचार्य शुक्ल का हिंदी में पहला संवादात्मक लेख 'भारत और वसंत' आनंद कादंबिनी' में ही प्रकाशित हुआ था। 1903 ई. में प्रेमघन ने उन्हें उसके संपादन कार्य से भी जोड़ लिया।

1919 ई. में वे काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी अध्यापक के रूप में नियुक्त हुए। उस समय उनका वेतन 60 रूपया महीना था। एक बड़े परिवार को चलाने के लिए उन्हें अतिरिक्त श्रम करना पड़ता था। 1936 ई0 में डॉ. श्यामसुन्दर दास के अवकाश प्राप्त करने पर वे विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष बने। मृत्युपर्यन्त इस पद पर बने रहे। दो फरवरी 1941 को आपका निधन हो गया।

साहित्यिक योगदान

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का साहित्यिक योगदान सिर्फ आलोचना तक सीमित नहीं है। उन्होंने हिंदी साहित्य का व्यवस्थित इतिहास लेखन किया जो आज भी उतना ही प्रासंगिक है। आचार्य शुक्ल के लेखन को पढ़ने से कोई भी यह पहचान सकता है कि आलोचक बनने के लिए उन्होंने कितनी गंभीर तैयारी की थी। उन्होंने जहाँ पूर्व और पश्चिम के द्वंद्व के बीच अपनी धरती के सहज विवेक को नहीं खोया, वहीं ज्ञान और संवेदना के वातायन को मुक्त भाव से खुला रखा। उनका दृष्टिकोण वस्तुवादी था। उनमें चिंतन की गंभीरता और सामाजिक दृष्टिकोण की दृढ़ता थी। उनका सामाजिक संस्कार उन्हें जड़ और अतीतोन्मुखी नहीं बनाता बल्कि एक नई दृष्टि से उन्हें अभिसिक्त करता है। वे अपने साहित्य चिंतन से रहस्यवाद और अध्यात्म को हटाकर सहज मनुष्य पर ध्यान केंद्रित करते हैं।

उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुस्तक 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (1929) है। यह इतिहास 'हिंदी शब्द सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया था। समालोचना की पुस्तक 'गोस्वामी तुलसीदास' (1933) स्वतंत्र पुस्तक के रूप में उपलब्ध है। 1923 ई. में तुलसी ग्रंथावली के संपादन के दौरान इस पर विस्तार से उन्होंने लिखा था। जायसी ग्रंथावली (1925) का संपादन करते हुए उन्होंने उसकी महत्वपूर्ण भूमिका लिखी थी जो जायसी के काव्य की समग्र आलोचना प्रस्तुत करती है। 'भ्रमरगीत सार' (1926) का संपादन करते हुए उन्होंने सूरदास के काव्य का सूक्ष्म विवेचन किया।

सैद्धांतिक समालोचना में उनके द्वारा लिखित निबंधों में 'काव्य में रहस्यवाद' और 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' प्रमुख है। इन दो लेखों के अलावा भी साहित्य और आलोचना के सैद्धांतिक पक्षों पर उन्होंने कई महत्वपूर्ण निबंध लिखे जो 'चिंतामणि' के तीनों भागों में

और 'रस मीमांसा' नामक पुस्तक में संग्रहीत है। मनोविकार संबंधी निबंध 'चिंतामणि' भाग-एक में संग्रहीत है।

उन्होंने 'ग्यारह वर्ष का समय' नामक कहानी भी लिखी थी जो हिदीं की आरंभिक कहानियों में से एक है।

रामचंद्र शुक्ल द्वारा किया गया अनुवाद कार्य भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना उनका मौलिक लेखन। हैकल की विश्व प्रसिद्ध पुस्तक 'रिडल ऑफ दि युनीवर्स' का अनुवाद 'विश्व प्रपंच' के नाम से किया था जिसकी लंबी भूमिका भी पठनीय है। एडीसन की पुस्तक 'एस्से ऑन इमेजिनेशन' का 'कल्पना का आनंद' नाम से अनुवाद किया। 'लाइट ऑफ एशिया' का अनुवाद 'बुद्ध चरित' के नाम से किया। इनके अतिरिक्त भी कई महत्वपूर्ण पुस्तकों का अनुवाद उन्होंने किया। आचार्य शुक्ल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि हिंदी साहित्य इतिहास के वैज्ञानिक विश्लेषण में है। उन्होंने इतिहास दृष्टि का निर्माण किया और कार्य-कारण संबंध को विश्लेषण के केन्द्र में रखा। साहित्यिक परिस्थिति के पीछे सक्रिय राजनीतिक-सामाजिक इतिहास को उन्होंने साहित्य विवेचन से जोड़ा। उन्होंने हिंदी समालोचना के लिए काव्यशास्त्र की पुनर्व्याख्या करके उसे फिर से संदर्भवान बनाया। काव्यशास्त्र को वर्तमान बोध और सहृदय के संदर्भ में अर्थवान बनाया। रसवाद से शास्त्रीयता को हटाकर उसे व्यक्ति और समाज, अंतर्जगत और बाह्यजगत, रूप और वस्तु, अनुभूति और विचार जैसे पहलुओं के संदर्भ में विवेचित किया।

शुक्लजी की नजर में निबंध के लेखक अपनी संपूर्ण मानसिक सत्ता के साथ अर्थात बुद्धि और हृदय दोनों को साथ लिये हुए अपने विषय प्रतिपादन में प्रवृत होते हैं। उनकी व्यावहारिक समीक्षा का उत्कृष्ट उदाहरण हमें भक्त कवियों के विवेचन में दिखाई देता है। यद्यपि वे छायावादी काव्य को पर्याप्त सहानुभूति नहीं दे सके लेकिन उन्होंने प्रमुख छायावादी कवियों के काव्य का जो विवेचन प्रस्तुत किया, उसकी आज भी प्रासंगिकता है।

आचार्य शुक्ल ने समस्त रचनाकर्म को सामाजिक और सहृदय के भावात्मक सरोकार से जोड़कर तथा लोकमंगल की कसौटी पर कसकर ही साहित्य सिद्धांतों का व्यवहारिक पक्ष प्रस्तुत किया। नामवर सिंह के शब्दों में "आचार्य शुक्ल की स्वातंत्र्य चिंता सिर्फ साहित्य और साहित्यशास्त्र तक सीमित नहीं है बल्कि उससे ज्यादा गहरी है और क्षेत्र भी अधिक व्यापक है। वस्तुतः इसका संबंध संपूर्ण जाति अथवा राष्ट्र की स्वतंत्र सत्ता से है।" इन्होंने आलोचना को रचना का परजीवी नहीं मानकर उसके साथ विकसित होने वाले रचनाकर्म का दर्जा दिलाया। साहित्य को मात्र मनोविनोद या कलावार्ता के स्तर से उठाकर एक गंभीर नैतिक दायित्वपूर्ण स्तर पर प्रतिष्ठित किया।

रचना के बारे में

आचार्य शुक्ल ने 1912-1918 के दौरान मनोविकार संबंधी निबंध लिखे। ये 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित होते थे। इनमें मानवीय राग - विराग की अनुभूति की विविधता है जिससे साहित्य का मानचित्र निर्मित होता है।

मनोभाव संबंधी निबंधों में आचार्य शुक्ल यह बतलाना चाहते हैं कि साहित्य और मनुष्य के भीतर बहते हुए भाव का स्रोत एक है। वे मनोभावों को हमेशा लोकव्यवहार और नैतिकता की कसौटी पर परखते हैं। मनोभावों का आधार मनुष्य का भौतिक जीवन है। **लोभ और प्रीति** निबंध में जीवन के विविध पक्षों के बीच से यात्रा करते हुए भाव को स्थापित करते हैं।

साहित्य को समझने के लिए भाव का सूक्ष्म विश्लेषण आवश्यक है। एक उत्कृष्ट कोटि की साहित्यिक दृष्टि विकसित करने के लिए भाव की तह में जाना होता है। इसलिए भावों के सामाजिक आधार और उसके सामाजिक परिणाम को दिखाना अनिवार्य होता है। लोभ कहाँ तक सामाजिक विकास में मदद करते हैं और उसके दुष्परिणाम से स्वार्थ केंद्रित मनुष्य किस प्रकार से आत्मज्ञान से शून्य हो जाता है। जबकि प्रीति व्यक्ति के उत्कर्ष में किस प्रकार ऊर्जा का संचार करती है। लोभ का संबंध सामान्य से होता है और प्रेम का संबंध विशेष से। लोभ वस्तुपरक होता है और प्रेम व्यक्तिपरक। भाव के प्रवृत्तिगत सत्य को पहचान कर ही साहित्य की व्यंजना को समझ सकते हैं।

आचार्य शुक्ल के निबंध की शैली यह है कि वे पहले उसे परिभाषा में बांधते है फिर उसकी व्याख्या करते हैं। दो मिलते-जुलते भाव का सूक्ष्मता से अध्ययन करते हैं। लोभ की परिभाषा देते हुए प्रीति से उसका अंतर स्पष्ट करते हैं। भाव के आवेग को समझते हुए आगे बढ़ते हैं। लोभ किस सीमा तक बुनियादी जरूरत है, किस सीमा के बाद लोलुपता में बदल जाता है। दृष्टांत देते हुए वे अपनी बात सिद्ध करते हैं। लोभ के विभिन्न प्रकारों की चर्चा करते हैं। सामाजिक लक्ष्य के संदर्भ में उसका परीक्षण करते हैं। उसकी सीमा निर्धारित करते हैं। लोभ के लोक मंगल स्वरूप का सवाल उठाते हैं। फिर, लोभ और असंतोष के संबंध को खोलते हैं जो आधुनिक समाज में रोग की तरह व्याप्त हो गया है। असंतोष मानसिक उद्विग्नता को जन्म देता है। प्रेम में व्यक्ति संवेदनात्मक निकटता का अहसास करता है। प्रेम के ऐकांतिक और लोकजीवन के प्रभाव के बीच उसको निखारते है। प्रेम के संदर्भ में कर्म सौन्दर्य की प्रधानता पर बल देते हैं। रूपाकर्षण और साहचर्यजन्य प्रेम में अंतर बताते हैं। प्रेम भाव का उज्ज्वल रूप हमारे सामने उपस्थित होता है। संक्षेप में, आचार्य शुक्ल के निबंध 'लोभ और प्रीति' की यही भावयात्रा है।

'लोभ और प्रीति' निबंध में लेखक की भाषा प्रौढ़, परिभार्जित और तत्सम प्रधान है। तद्भव रूप से भी वे परहेज नहीं रखते। निबंधों की भाषा की सबसे उल्लेखनीय विशेषता है : समर्थ एवं भावव्यंजक शब्दों का नूतन निर्माण। भाषा के प्रति उनका दृष्टिकोण व्यावहारिक और लचीला है। वे लोभ और प्रीति के संबंध में सूत्रात्मक वाक्य रचते हैं, फिर विश्लेषण करते हैं। विश्लेषण करने के उपरांत वे नये सूत्र को रचते हैं। मनोविकार संबंधी निबंध उनकी अन्तर्यात्रा के कुछ पड़ाव हैं। साहित्य पर विचार करते हुए उन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता। भाव को विस्तार देने में वे अराजक नहीं होते हैं। विचार वाक्यों और अनुच्छेदों में कसे हुए होते हैं।

शब्दावली

सान्निध्य : समीप
व्यभिचार : दूषित आचरण
इच्छात्मक अवयव : इच्छा का अंग
ठीकरों : मिट्टी के बर्तन
राजधर्म : राज्य का धर्म। जिससे राज्य में कानून का बोध होता है। राजधर्म का महत्व सामंतवादी शासन व्यवस्थाओं में था।
आचार्य धर्म : सामंती शासकों के यहाँ राजगुरू हुआ करते थे। जो अनुशासन की मर्यादा में रहते थे। उनके लिए निर्धारित धर्म को आचार्य धर्म कहा गया है।
वीर धर्म : वीरोचित आचरण
ब्राह्मण धर्म : ब्राह्मण नामक जाति विशेष के लिए निर्धारित आचरण। इसका वर्णवादी व्यवस्था से संबंध है।
क्षात्रधर्म : क्षत्रियोचित धर्म। शुक्लजी के अनुसार जिसमें लोक मंगल की भावना निहित है।
वणिक धर्म : वणिक नामक जाति या समुदाय के लिए निर्धारित धर्म। इसका संबंध भी वर्णवादी व्यवस्था से है। वणिक व्यापार करने वाली जातियों के लिए प्रयुक्त होता है।
प्रीति सौरभ पूर्ण : प्रेम की सुंगध से सुगन्धित
स्वायत्त रक्षा : अपनी रक्षा अपने आप करना
स्वनिरपेक्ष : अपने से तटस्थ
निश्चयात्मिका वृति : निश्चय करने वाली प्रवृत्ति
विपर्यय : विपरीत
स्वविषयान्वेषी : अपने लिए विषय का अन्वषेण करने वाला।
अनवकाश : अवकाश रहित
स्तंभन : जड़ बना देने वाला
वांछा : आकांक्षा
व्यसन : आदत

निरसन : दूर हटाना।
सर्वस्वहरण : संपूर्ण अपहरण
विगर्हणीय : निंदनीय
अंतर्वृत्ति : आन्तरिक प्रकृति
ढब : बनावट
प्रसूनमय : फूल से सजे।
वीरदर्प : वीरोचित गर्व का भाव
नेह : स्नेह, प्रेम
त्याज्य : त्यागने योग्य
युगपद : साथ-साथ
तुल्यानुराग : एक-सा प्रेम भाव
वक्फ : धर्म के कार्य हेतु धन आदि देना। खुदा के नाम पर छोड़ी गई वस्तु।
आलंबन : रस सिद्धांत में प्रयुक्त शब्द जिसका अर्थ है जिसके कारण दर्शक या ग्रहीता में भाव उत्पन्न हो।
रसाभास : साहित्य में किसी रस का अनुचित संदर्भ में अथवा अनुपयुक्त स्थान पर वर्णन। विभाव, अनुभाव आदि से पूर्ण होने पर भी अनौचित्य के कारण रसाभास होगा।
विप्लव : क्रांति
साहचर्यगत प्रेम : वह प्रेम जो साथ-साथ रहने से उत्पन्न हो, साहचर्यगत प्रेम कहलाता है।
प्रतिवर्तन : प्रतिक्रिया।
दीर्घ निश्वास : ऊँची साँस छोडना।

व्याख्या के लिए प्रमुख अंश

1. विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्विक **रूप प्राप्त करता** है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। जहाँ लोभ सामान्य या जाति **के** प्रति **होता है** वहाँ वह लोभ ही रहता है। पर जहाँ किसी जाति के एक ही **विशेष व्यक्ति के** प्रति होता है वहाँ वह 'रुचि' या 'प्रीति' का पद प्राप्त करता है। लोभ **सामान्योन्मुख** होता है और प्रेम विशेषोन्मुख।

2. रसखान तो किसी की 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे पर देश प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे पुराने कपड़ों और धूल भरे पैरों पर रीझकर, या कम से कम न खीझकर, बिना मन मैला किए कमरे की फर्श भी मैली होने

देंगे? मोटे आदमियों तुम जरा-सा दुबले हो जाते - अपने अँदेशे से ही सही - तो न जाने कितनी ठटरियों पर माँस चढ़ जाता।

3. धन का जो लोभ मानसिक व्याधि या व्यसन के रूप में होता है उसका प्रभाव अंतःकरण की शेष वृत्तियों पर यह होता है कि वे अनभ्यास से कुण्ठित हो जाती है। जो लोभ और मान-अपमान के भाव को, करुणा और दया के भाव को, न्याय-अन्याय के भाव को, यहाँ तक कि अपने कष्ट-निवारण या सुखभोग की इच्छा तक को दबा दे, वह मनुष्यता कहाँ तक रहने देगा?

4. प्रेम का प्रभाव एकांत भी होता है और लोक-जीवन के नाना क्षेत्रों में भी दिखाई पड़ता है। एकांत प्रभाव उस अंतर्मुख प्रेम में देखा जाता है जो प्रेमी को लोक के कर्मक्षेत्र से खींचकर केवल दो प्राणियों के एक छोटे से संसार में बंद कर देता है। उसका उठना-बैठना, चलना-फिरना, मरना-जीना, सब उसी घेरे के भीतर होता है। वह उस घेरे के बाहर कोई प्रभाव उत्पन्न करने के उद्देश्य से कुछ भी नहीं करता। उसमें जो साहस, धीरता, दृढ़ता, कष्टसहिष्णुता आदि दिखाई देती है वह प्रेम-मार्ग के बीच प्रेमोन्माद के रूप में, लोक के बीच कर्त्तव्य के रूप में नहीं।

5. प्रेमी तो प्रेम कर चुका, उसका कोई प्रभाव प्रिय पर पड़े या न पड़े। उसके प्रेम में कोई कसर नहीं। प्रिय यदि उससे प्रेम करके उसकी आत्मा को तुष्ट नहीं करता तो उसमें उसका क्या दोष? तुष्टि का विधान न होने से प्रेम के स्वरूप की पूर्णता में कोई त्रुटि नहीं आ सकती। जहाँ तक ऐसे प्रेम के साथ तुष्टि की कामना या अतृप्ति का क्षोभ लगा दिखाई पड़ता है वहाँ तक तो उसका उत्कर्ष प्रकट नहीं होता। पर जहाँ आत्मपुष्टि की वासना विरत हो जाती है या पहले ही से नहीं रहती, वहाँ प्रेम का अत्यंत निखरा हुआ निर्मल और विशुद्ध रूप दिखाई पड़ता है।

व्याख्या का उदाहरण

लोभ चाहे जिस वस्तु का हो, जब बहुत बढ़ जाता है तब उस वस्तु की प्राप्ति, सान्निध्य या उपभोग से जी नहीं भरता। मनुष्य चाहता है कि वह बार-बार मिले या बराबर मिलती रहे। धन का लोभ जब रोग होकर चित्त में घर कर लेता है, तब प्राप्ति होने पर भी और प्राप्ति की इच्छा जगी रहती है, जिससे मनुष्य सदा आतुर और प्राप्त के आनंद से विमुख रहता है। जितना नहीं है उतने के पीछे जितना है उतने से प्रसन्न होने का उसे कभी अवसर ही नहीं मिलता। उसका सारा अंतःकरण सदा अभावमय रहता है। उसके लिए जो है वह भी नहीं है। असंतोष अभाव-कल्पना से उत्पन्न दुख है अतः जिस किसी में यह

अभाव-कल्पना स्वाभाविक हो जाती है सुख से उसका नाता सब दिन के लिए टूट जाता है।

व्याख्या-संकेत

किसी भी अंश की व्याख्या आरंभ करने से पहले आप उस अंश को ध्यान से पढ़ें। यह सुनिश्चित करें कि उक्त अंश किस रचना या पाठ से लिया गया है। उसके लेखक कौन हैं और उसमें किस विषय के बारे में विचार किया गया है। इन बातों को हम **संदर्भ** शीर्षक देकर लिख सकते हैं। ज्यादा विस्तार देकर लिखने से बचें।

इसके बाद उक्त अंश से पूर्व पाठ में कही गई बात का हवाला दें ताकि उक्त अंश की व्याख्या को सही संदर्भ में समझा जा सके। मसलन उपर्युक्त अंश में आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा लोभ की अधिकता के परिणाम पर विचार किया गया है। इस अंश को आप **प्रसंग** शीर्षक देकर लिख सकते है और इसका भी अधिक विस्तार न करें। संदर्भ और प्रसंग को एक ही शीर्षक के अंतर्गत एक साथ भी लिख सकते हैं।

व्याख्या के लिए आप इस बात पर विचार करें कि मुख्य बातें क्या-क्या कही गई हैं। आप उन बातों को बोधगम्य और सरल ढंग से समझाकर लिखें। ऊपर जिस अंश को व्याख्या के लिए हमने चुना है उसमें निम्नलिखित मुद्दों पर लेखक ने अपनी बात कही है :

क) लोभ की अधिकता

ख) धन का लोभ और उसका व्यक्ति पर पड़ने वाला प्रभाव

ग) धन के लोभ से उत्पन्न असंतोष और उसकी दुख में परिणति

आपको इन तीनों को समझाकर लिखना है। वैसे तो शुक्लजी ने सभी बातें काफी साफ ढंग से कही है, लेकिन आप इन्हें और सरल और थोड़ा विस्तार देकर लिखें।

व्याख्या के बाद आप उक्त अंश में किसी विशेष कथन, कथन के अंदाज, भाषा और शैली संबंधी कोई उल्लेखनीय बात हो तो उसे भी लिखें। इस अंश को **विशेष** शीर्षक देकर लिखा जा सकता है।

सहायक पुस्तकें

डॉ. रामविलास शर्मा : आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, प्रा.लि., नई दिल्ली।

मलयज : आचार्य रामचंद्र शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, प्रा.लि., नई दिल्ली।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी : आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

आलोचना और आलोचना : डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

आलोचना अंक : आचार्य शुक्ल विशेषांक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

मूलपाठ : निबंध

लोभ और प्रीति

किसी प्रकार का सुख या आनंद देने वाली वस्तु के संबंध में मन की ऐसी स्थिति को जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े, लोभ कहते हैं। दूसरे की वस्तु का लोभ करके लोग उसे लेना चाहते हैं, अपनी वस्तु का लोभ करके लोग उसे देना या नष्ट होने देना नहीं चाहते। प्राप्य या प्राप्त सुख के अभाव या अभाव-कल्पना के बिना लोभ की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः इसके सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों पक्ष हैं। जब लोभ अप्राप्त के लिए होता है तब तो दुःख स्पष्ट ही रहता है। प्राप्त के संबंध में दुःख का अंश निहित रहता है और अभाव के निश्चय या आशंका मात्र पर व्यक्त हो जाता है। कोई सुखद वस्तु पास में रहने पर भी मन में इस इच्छा का बीज रहता है कि उसका अभाव न हो। पर अभाव का जब तक ध्यान नहीं होता तब तक इस वासना का कहीं पता नहीं रहता। हम बैठे-बैठे किसी वस्तु का आनंद ले रहे हैं और उस आनन्द के अभाव से जो दुःख होगा उसका कुछ भी ध्यान हमारे मन में नहीं है। इसी बीच में कोई आकर उस वस्तु को ले जाना चाहता है, तब हम उससे कुछ व्यग्र होकर कहते हैं 'अभी रहने दो।' इसके पहले कोरे आनंद के अभाव में इच्छा का कहीं पता न था कि वह वस्तु हटाई न जाय।

विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। जहाँ लोभ सामान्य या जाति के प्रति होता है वहाँ वह लोभ ही रहता है। पर जहाँ किसी जाति के एक ही विशेष व्यक्ति के प्रति होता है वहाँ वह 'रुचि' या 'प्रीति' का पद प्राप्त करता है। लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख। कहीं कोई अच्छी चीज सुनकर दौड़ पड़ना लोभ है। किसी विशेष वस्तु पर इस प्रकार मुग्ध रहना कि उससे कितनी ही अच्छी-अच्छी वस्तुओं के सामने आने पर भी उस विशेष वस्तु से प्रवृत्ति न हटे, रुचि या प्रेम है। किसी स्त्री या पुरुष के रूप की प्रशंसा सुनते ही पहला भाव लोभ का होगा। किसी को हमने बहुत सुंदर देखा और लुभा गए, उसके पीछे दूसरे को उससे भी सुंदर देखा तो उस पर लुभा गए। जब तक प्रवृत्ति का यह व्यभिचार रहेगा, तब तक हम रूप लोभी ही माने जायेंगे। जब हमारा लोभ किसी एक ही व्यक्ति पर स्थिर हो जायगा, हमारी वृत्ति एकनिष्ठ हो जायगी, तब हम प्रेमी कहे जाने के अधिकारी होंगे। पर साधारणतः मन की ललक यदि वस्तु के प्रति होती है तो लोभ और किसी प्राणी या मनुष्य के प्रति होती है तो प्रीति कहलाती है।

लोभ का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है किसी वस्तु का बहुत अच्छा लगना, उससे बहुत सुख या आनंद का अनुभव होना। अतः वह आनंद स्वरूप है। इसी से किसी

अच्छी वस्तु को देखकर लुभा जाना कहा जाता है। पर केवल इस अवस्था में लोभ की पूरी अभिव्यक्ति नहीं होती। कोई वस्तु हमें बहुत अच्छी लगी, किसी वस्तु से हमें बहुत सुख या आनंद मिला, इतने ही पर दुनिया में यह नहीं कहा जाता कि हमने लोभ किया। जब संवेदनात्मक अवयव के साथ इच्छात्मक अवयव का संयोग होगा अर्थात् जब उस वस्तु को प्राप्त करने की, दूर न करने की, नष्ट न होने देने की इच्छा प्रकट होगी तभी हमारा लोभ लोगों पर खुलेगा। इच्छा लोभ या प्रीति का ऐसा आवश्यक अंग है कि यदि किसी को कोई बहुत अच्छा या प्रिय लगता है तो लोग कहते हैं कि वह उसे चाहता है।

भूखे रहने पर सबको पेड़ा अच्छा लगता है पर चौबेजी पेट भर भोजन के ऊपर भी पेड़े पर हाथ फेरते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि चौबेजी को मिष्ठान से अधिक रुचि है। यह अभिरुचि भी लोभ की चेष्टाएँ उत्पन्न करती है। इन्द्रियों के विषय-भेद से अभिरुचि के विषय भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। कमल का फूल और रमणी का सुंदर मुख अच्छा लगता है। वीणा की तान और अपनी तारीफ अच्छी लगती है, जूही और केसर की गन्ध अच्छी लगती है, रबड़ी और मालपुवा अच्छा लगता है, मुलायम गद्दा अच्छा लगता है। ये सब वस्तुएँ तो आपको आनंद देती हैं इससे इनकी प्राप्ति की इच्छा बहुत सीधी-सादी और स्वाभाविक कही जा सकती है। पर जिससे इन सब वस्तुओं की प्राप्ति सुलभ होती है उसमें चाहे आनंद देने वाली स्वतः कोई बात न हो, पर उसकी प्राप्ति की इच्छा होती है, उसका लोभ होता है। रुपये के रूप, रस, गन्ध आदि में कोई आकर्षण नहीं होता पर जिस वेग से मनुष्य उस पर टूटते हैं उस वेग से भौंरे कमल पर और कौए मांस पर भी न टूटते होंगे। यहाँ तक कि 'लोभी' शब्द से साधारणतः रुपये-पैसे का लोभी, धन का लोभी, समझा जाता है। एक धातुखण्ड के गर्भ में कितने प्रकार के सुख और आनंद मनुष्य समझता है। पर यह समझ इतनी पुरानी पड़ गई है कि इसकी ओर हमारा ध्यान अब प्रायः नहीं रहता। धन संचय करने में बहुतों का लक्ष्य धन ही रहता है, उससे प्राप्य सुख नहीं। वे बड़े से बड़े सुख के बदले में या कठिन से कठिन कष्ट के निवारण के लिए थोड़ा-सा भी धन अलग करना नहीं चाहते। उनके लिए साधन ही साध्य हो जाता है।

स्थितिभेद से प्रिय या अच्छी लगने वाली वस्तु के संबंध में इच्छा दो प्रकार की होती है :

1. प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा।
2. दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा।

प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा भी दो प्रकार की हो सकती है :

1. इतने सम्पर्क की इच्छा जितना और किसी का न हो।

2. इतने सम्पर्क की इच्छा जितना सब कोई या बहुत से लोग एक साथ रख सकते हों।

इनमें से प्रथम प्रतिषेधात्मक होने के कारण प्रायः विरोधग्रस्त होती है इससे उस पर समाज का ध्यान अधिक रहता है। कोई वस्तु हमें बहुत अच्छी लगती है, लगा करे, दूसरों को इससे क्या? पर जब हम उस वस्तु की ओर हाथ बढ़ाएँगे या औरों को उसकी ओर हाथ बढ़ाने न देंगे तब बहुत से लोगों का ध्यान हमारे इस कृत्य पर जायगा जिनमें से कुछ हाथ थामने वाले और मुँह लटकाने वाले भी निकल सकते हैं। हमारे लोभ की शिकायत ऐसे ही लोग अधिक करते पाये जायेंगे। दूसरों के लोभ की निंदा जैसी अच्छे लोभी कर सकते हैं वैसी और लोग नहीं। माँगने पर न पाने वाले और न देने वाले दोनों इसमें प्रवृत्त होते हैं। एक कहता है 'वह बड़ा लोभी है, देता नहीं' दूसरा कहता है 'वह बड़ा लोभी है, बराबर माँग करता है।' रहीम दोनों को लोभी, दोनों को बुरा, कहते हैं :

रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनतें पहिले वे मुए जिन मुख निकसत 'नाहिं'।।

ऐसा उस समय होता है जब एक ही वस्तु के संबंध में एक ओर तो प्राप्त करने और दूसरी ओर दूर न करने की इच्छा बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप से दो व्यक्तियों में होती हे। इसके अतिरिक्त एक ही वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा यदि संयोग से कई प्राणियों के चित्त में हुई तो भी विरोध का पूरा विधान होता है। सारांश यह कि दोनों अवस्थाओं मे लोभ का लक्ष्य एक होने पर लोभी एक दूसरे को बहुत व्याकुल करते हैं।

प्राप्ति की प्रतिषेधात्मक इच्छा की सदोषता और निर्दोषता लोभ के विषय पर निर्भर रहती है। लोभ के विषय दो प्रकार के होते हैं - सामान्य और विशेष। अच्छा खाना, अच्छा कपड़ा, अच्छा घर तथा धन, जिससे ये सब वस्तुएँ सुलभ होती हैं, सबको भाता है, सब उसकी प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं। ये लोभ के सामान्य विषय हुए, जिन पर प्रायः मनुष्य-मात्र का लक्ष्य रहता है, अतः इनके प्रति जो लोभ होता है उस पर बहुत लोगों का ध्यान जाता है। पर यदि किसी को गुलाब-जामुन या विशेष बूटा की छींट बहुत अच्छी लगे और वह उसे प्राप्त करना या न देना चाहे, तो उसके इस लोभ पर बहुत कम लोगों का ध्यान जाएगा और जिनका ध्यान जायगा भी उन्हें वह खटकेगा नहीं। ऐसे लोभ को वे रुचि कहेंगे। सबको जिसकी हाय-हाय होती है, सब जिसको पाना या रखना चाहते हैं, वह बहुत से लोगों को एक मैदान में लाकर खड़ा किया करता है जहाँ एक दूसरे की गतिविधि का निरीक्षण और अवरोध बड़ी कड़ी नजर और पूरी मुस्तैदी से होता है।

यदि मनुष्य-समाज में सब के लोभ के लक्ष्य भिन्न-भिन्न होते तो लोभ को बुरा कहने वाले कहीं न मिलते। यदि एक साथ रहने वाले दस आदमियों में से कोई गाय बहुत

चाहता, कोई घोड़ा, कोई कपड़ा, कोई ईंट, कोइ पत्थर, कोई सोना, कोई चाँदी, कोई ताँबा और इन वस्तुओं में से किसी को शेष सब वस्तुओं को प्राप्त कराने की कृत्रिम शक्ति न दी जाती, तो एक के लोभ से दूसरे को कोई कष्ट न पहुँचता और दूसरी बात यह होती कि लोभ का एक बुरा लक्षण जो असंतोष है, उसकी भी एक सीमा हो जाती - कोई कितनी गायें रखता, कितने घोड़े बाँधता, कहाँ तक सोना चाँदी इकट्ठी करता। पर विनिमय की कठिनता दूर करने के लिए मनुष्यों ने कुछ धातुओं में सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराने का कृत्रिम गुण आरोपित किया जिसमें मनुष्य मात्र की सांसारिक इच्छा और प्रयत्न का लक्ष्य एक हो गया, सब की टकटकी टके की ओर लग गई।

लक्ष्य की इस एकता से समाज में एक दूसरे की आँखों में खटकने वाले की वृद्धि हुई। जब एक ही को चाहने वाले बहुत से हो गए तब एक की चाह को दूसरे कहाँ तक पसंद करते? लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए। धीरे-धीरे यह दशा आई कि जो बातें पारस्परिक प्रेम की पुष्टि से, धर्म की दृष्टि से, की जाती थीं वे भी रुपये-पैसे की दृष्टि से होने लगीं। आजकल तो बहुत-सी बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई हैं। पैसे से राज-सम्मान की प्राप्ति, विद्या की प्राप्ति और न्याय की प्राप्ति होती है। जिसके पास कुछ रुपया है बड़े-बड़े विद्यालयों में अपने लड़कों को भेज सकते हैं, न्यायालयों में फीस देकर अपने मुकद्मे दाखिल कर सकते है और महँगे वकील-बेरिस्टर करके बढ़िया खासा निर्णय करा सकते हैं, अत्यंत भीरु और कायर होकर बहादुर कहला सकते हैं। राजधर्म, आचार्यधर्म, वीरधर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टकाधर्म हो गए। धन की पैठ मनुष्य के सब कार्यक्षेत्रों में करा देने से, उसके प्रभाव को इतना विस्तृत कर देने से, ब्राह्मणधर्म और क्षात्रधर्म का लोप हो गया, केवल वणिग्धर्म रह गया।

व्यापारनीति राजनीति का प्रधान अंग हो गई। बड़े-बड़े राज्य माल की बिक्री के लिए लड़ने वाले सौदागर हो गए। जिस समय क्षात्रधर्म की प्रतिष्ठा थी, एक राज्य दूसरे राज्य पर कभी-कभी विजय कीर्ति की कामना से डंके की चोट चढ़ाई करता था। अब सदा एक देश दूसरे देशों का चुपचाप दबे पाँव धन हरण करने की ताक में लगा रहता है! इसी से भिन्न-भिन्न राज्यों की परस्पर संबंध समस्या इतनी जटिल हो गई है। कोई-कोई देश लोभवश इतना अधिक माल तैयार करते हैं कि उसे किसी देश के गले मढ़ने की फिक्र में दिन-रात मरते रहते हैं। जब तक यह व्यापारोन्माद दूर न होगा तब तक इस पृथ्वी पर सुख-शांति न होगी। दूर वह अवश्य होगा। क्षात्रधर्म की संसार में एक बार फिर प्रतिष्ठा होगी चोरी का बदला डकैती से लिया जाएगा।

सामान्य-विषयगत प्रतिषेधात्मक लोभ में भी लोभदृष्टि जितनी ही संकुचित होती है, उसके भीतर जितनी ही कम वस्तुएँ आती हैं, उतना ही उसका दोष कम होता है।

अच्छे भोजन की सब को चाह होती है। अतः उसे बहुत चाहनेवाला लोभी कहला सकता है पर अच्छे भोजनों में से यदि किसी की मिठाई की चाह अधिक रहे, तो उसका दोष कम और मिठाइयों में से यदि केवल गुलाबजामुन की अधिक चाह रहे तो और भी कम क्या कुछ भी न समझा जाएगा। इसी प्रकार जहाँ एक ही वस्तु बहुत प्रकार की रखी हुई है वहाँ यदि कोई एक किसी को बहुत पसंद आ जाय और वह उसे लेना चाहे तो उसकी गिनती लोभियों में न होगी। विश्वामित्र को वशिष्ठ की गाय बहुत पसंद आई और वे उसके बदलें में बहुत-सी गायें देने के लिए तैयार हो गए पर वशिष्ट ने अपनी गाय नहीं दी। इसके लिए लड़-भिड़कर भी न वशिष्ठ लोभी कहलाए, न विश्वामित्र। इसी प्रकार एक नवाब साहब को बाबू हरिश्चंद्र का एक अलबम बहुत पसंद आया था। ये लोभ के विशेष विषय के उदाहरण हैं। इनके प्रति जो लोभ होता है उसके अवसर इतने कम होते हैं कि उनसे स्वभाव या अधिक अभ्यास का अनुमान नहीं किया जा सकता। पर किसी की अच्छी चीज़ देखते ही जिनके मुँह में पानी आ जाता है, वे बराबर खरी-खोटी सुना करते हैं। एक लोभ से दूसरे लोभ का निवारण भी होता है जिससे लोभी में अन्य वस्तुओं के त्याग का साहस आता है। विशेष विषय-गत लोभ यदि बहुत प्रबल और सच्चा हुआ तो लोभी के त्याग का विस्तार बहुत बड़ा होता है। लोभ तो उसे एक विशेष और निर्दिष्ट वस्तु से है अतः उसके अतिरिक्त अन्य अनेक वस्तुओं का त्याग वह उसके लिए कर सकता है। विश्वामित्र एक गाय के लिए अपना सारा राजपाट देने को तैयार हो गए थे। अन्य का त्याग अनन्य और सच्चे लोभ की पहचान है।

यहाँ तक तो प्राप्ति की प्रतिषेधात्मक **इच्छा** वाले लोभ की बात हुई जिसका प्रायः विरोध होता है। अब प्राप्ति की उस इच्छा का विचार करता हूँ जिसे एक ही वस्तु के संबंध में बहुत से लोग बिना किसी विरोध के रख सकते हैं। जिस लोभ से दूसरे को कोई बाधा या कष्ट पहुँचता है उसी को पहले एक - प्रायः जिसे बाधा या कष्ट होता है - बुरा कहता है, फिर दूसरा, फिर तीसरा इसी प्रकार बहुत से बुरा कहने वाले हो जाते हैं। सारांश यह कि लोभ दूसरे की सुखशांति या स्वच्छंदता का बाधक होता है, अधिकतर वही निंद्य समझा जाता है। उपवन की शोभा सबको लुभाती है। यदि कोई नित्य किसी के बगीचे में जाकर टहला करे तो उसका क्या जाता है? यदि हम किसी वस्तु पर लुभाकर उससे उतना ही सम्पर्क रखना चाहते हैं जितना सब लोग एक साथ रख सकते हैं, तो हमारा लोभ किसी की आँखों में नहीं खटक सकता। बगीचे को आँख से एक साथ बहुत लोग देख सकते हैं, पर उसमें के फल नहीं खा सकते। जहाँ देखने का भी दाम लगता है या कुछ आदमियों का देखना बिना बंद किये देखा नहीं जा सकता, वहाँ दृष्टि-सम्पर्क की इच्छा भी मुश्किल में डाल देती है। पर जहाँ एक की इच्छा दूसरे की इच्छा का बाधक न होकर साधक होती है। वहाँ एक ही वस्तु का लोभ रखने वाले बहुत से लोग बड़े सद्भाव के साथ रहते हैं। लूटेरे वा डाकू इसी प्रकार दल-बद्ध होकर काम करते हैं।

किसी को कोई स्थान बहुत प्रिय हो जाता है और वह हानि और कष्ट उठाकर भी वहाँ से नहीं जाना चाहता। हम कह सकते हैं कि उसे उस स्थान का पूरा लोभ है। जन्म-भूमि का प्रेम, स्वदेश-प्रेम यदि वास्तव में अंतःकरण का कोई भाव है तो स्थान के लोभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस लोभ के लक्षणों से शून्य देश-प्रेम कोरी बकवाद या फैशन के लिए गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मुनष्य, पशु-पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा, सबको वह चाहभरी दृष्टि से देखेगा, सबको सुध करके वह विदेश में आँसू बहायेगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणयसौरभ-पूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश-प्रेम का दावा करें, तो उनसे पूछना चाहिए कि, 'भाइयो! बिना परिचय का यह प्रेम कैसा? जिनके सुख-दु :ख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। उनसे कोसों दूर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े वा खड़े-खड़े, तुम विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो।' प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं है। हिसाब-किताब करने वाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं पर प्रेम करने वाले नहीं। हिसाब-किताब से देश की दशा का ज्ञान मात्र हो सकता है। हित-चिंतक और हित-साधन की प्रवृत्ति इस ज्ञान से भिन्न है। वह मन के वेग पर निर्भर है, उसका संबंध लोभ या प्रेम से है जिसके बिना आवश्यक त्याग का उत्साह हो ही नहीं सकता। जिसे ब्रज की भूमि से प्रेम होगा वह इस प्रकार होगा :

नैनन सों रसखान जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कैतिक ये कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर बारौं।।

रसखान तो किसी की 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे पर देश प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे पुराने कपड़ों और धूल भरे पैरों पर रीझकर, या कम से कम न खीझकर, बिना मन मैला किए कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे? मोटे आदमियों तुम जरा-सा दुबले हो जाते - अपने अँदेशे से ही सही - तो न जाने कितनी ठटरियों पर माँस चढ़ जाता।

अब पूछिए कि जिनमें यह देश-प्रेम नहीं है उनमें यह किसी प्रकार हो भी सकता है? हाँ, हो सकता है - परिचय से, सान्निध्य से। जिस प्रकार लोभ से सान्निध्य की इच्छा उत्पन्न होती है उसी प्रकार सान्निध्य से भी लोभ या प्रेम की प्रतिष्ठा होती है। जिनके बीच हम रहते हैं, जिन्हें हम बराबर आँखों से देखते हैं, जिनकी बातें हम बराबर

सुनते रहते हैं, जिनका हमारा हर घड़ी का साथ हो जाता है, सारांश यह कि जिनके सान्निध्य का हमें अभ्यास पड़ जाता है, उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है। जिस स्थान पर कोई बहुत दिनों तक रह आता है उसे छोड़ते हुए उसे दुःख होता है। पशु और बालक भी जिनके साथ अधिक रहते हैं उन्हें परच जाते हैं। यह 'परचना' परिचय से निकलता है। परिचय प्रेम का प्रवर्त्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यदि देश-प्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ। बाहर निकलो तो आँखें खोलकर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहो हैं, नाले झाड़ियों के बीच से कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, चौपायों के झुंड चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच में गाँव झाँक रहे हैं। उनमें घुसो, देखो तो क्या हो रहा है। जो मिले उनसे दो-दो बातें करो, उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी-आध-घड़ी बैठ जाओ और समझो कि ये सब हमारे हैं। इस प्रकार जब देश का रूप तुम्हारी आँखों में समा जायगा, तुम उसके अंग-प्रत्यंग से परिचित हो जाओगे, तब तुम्हारे अंतःकरण में इस इच्छा का उदय होगा कि वह हमसे कभी न छूटे, वह सदा हरा-भरा और फला-फूला रहे, उसके धन-धान्य की वृद्धि हो, उसके सब प्राण सुखी रहे। यह तो वर्तमान प्रेमसूत्र हुआ। अतीत की ओर भी दृष्टि फैलाओ। राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन, विक्रम, कालिदास, भवभूति इत्यादि का स्मरण करो जिससे ये सब नाम तुम्हारे प्यारे हो जाएँ। इनके नाते भी यह भूमि और इस भूमि के निवासी तुम्हे प्रिय होंगे।

पर आजकल इस प्रकार का परिचय बाबुओं को लज्जा का एक विषय हो रहा है। वे देश के स्वरूप से अनजान रहने या बनने में अपनी बड़ी शान समझते हैं। मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुंदर एक छोटी-सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे एक छोटा-सा जंगल है जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत से हैं। संयोग से उन दिनों पुरातत्व-विभाग का कैंप पड़ा हुआ था। रात हो जाने से हम लोग उस दिन स्तूप नहीं देख सके। सवेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। वसंत का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला - 'महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है।' इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोककर कहा, 'यहाँ महुए सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे।' मैं चुप हो गया, समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।

आरंभ में ही कहा जा चुका है कि प्रवृत्ति-भेद से प्रिय वस्तु के संबंध में इच्छा दो प्रकार की होती है - प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा तथा दूर न करने या कष्ट न होने की इच्छा। प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा का विचार तो हो चुका। अब रक्षा की इच्छा का अन्वेषण करना है। रक्षा की इच्छा भी दो प्रकार की होती है :

1. स्वायत्त रक्षा की इच्छा अर्थात् अपने अधिकार में रहने की इच्छा।

2. स्व-निरपेक्ष रक्षा की इच्छा अर्थात् केवल बने रहने देने की इच्छा।

स्वायत्त रखने की इच्छा प्रायः अनन्य उपयोग या उपभोग की वासना से सम्बद्ध रहती है इससे वह कभी-कभी लोगों को खटकती है और लोग उसका विरोध करते हैं। कोई बहुत मीठे आम का पेड़ है जिसका फल सब लोग खाते हैं और जिसकी रखवाली सब लोग करते हैं। यदि उनमें से कोई एक अकेले उसकी रखवाली करने चले और किसी को पास न आने दे, तो सब लोग मिलकर विरोध करेंगे। पर कभी-कभी स्वायत्त रखने की इच्छा अन्य द्वारा यथेष्ट रक्षा के उस अविश्वास के कारण होती है जो लोभ या प्रीति की अधिकता से उत्पन्न होता है। ऐसी दशा में यदि संरक्ष्य वस्तु के उपयोग या उपभोग आदि में औरों को कोई बाधा नहीं पहुँचाती है तो किसी एक का उसे अपनी रक्षा में रखना दूसरे को बुरा नहीं लगता।

यदि लोभ की वस्तु ऐसी है जिससे सबको सुख और आनंद है तो उस पर जितना ही अधिक ध्यान रहेगा, रक्षा के भाव की एकता के कारण, परस्पर मेल की उतनी ही प्रवृत्ति होगी। यदि दस आदमियों में से सबकी यही इच्छा है कि कोई मंदिर बना रहे, गिरने-पड़ने न पाए अथवा और अधिक उन्नत और सुसज्जित हो, तो यह सम्मिलित इच्छा ऐक्य-सूत्र होगी। मिलकर कोई कार्य करने से उसका साधन अधिक या सुगम होता है, यह बतलाना 'पर उपदेश कुशल' नीतिज्ञों का कर्म है मेरे विचार का विषय नहीं। मेरा उद्देश्य तो मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की छानबीन है जो निश्चयात्मिका वृत्ति से भिन्न है। मुझे तो यह कहना है कि इन-इन अवस्थाओं में मेल की प्रवृत्ति होती है। अब मेल से क्या लाभ होते हैं, यह न जाने कितने झगड़ालू बताते हैं और न जाने कितने लोग सुनकर झगड़ा करते हैं।

लोभ का सबसे प्रशस्त रूप वह है जो रक्षा मात्र की इच्छा का प्रवर्तक होता है, जो मन में यही वासना उत्पन्न करता है कि कोई चीज़ बनी रहे, चाहे वह हमारे किसी उपयोग में आए या न आए। इस लोभ में दोष का लेश उसी अवस्था में आ सकता है जब कि वह वस्तु ऐसी हो जिससे किसी को कोई बाधा या हानि पहुँचती हो। कोई सुंदर कृष्णसार मृग नित्य आकर खेती की हानि किया करता है। उसके सौंदर्य पर मुग्ध होकर उसकी रक्षा चाहने वाला यदि बराबर उसकी रक्षा में प्रवृत्त रहेगा तो बहुतों से उसकी अनबन हो सकती है। वह लोभ धन्य है जिससे किसी के लोभ का विरोध नहीं और लोभ की जो वस्तु अपने सब लोभियों को एक दूसरे का लोभी बनाए रहती है वह भी परम पूज्य है। घर का प्रेम, पुर या ग्राम का प्रेम, देश का प्रेम उसी पवित्र लोभ के क्रमशः विस्तृत रूप हैं। मनुष्य के प्रयत्नों की पहुँच बहत परिमित होती है। अतः जो प्रेमक्षेत्र जितना ही निकटस्थ होगा उसमें उतने ही अधिक प्रयत्न की आवश्यकता होगी और जो जितना ही दूर होगा, प्रयत्नों का उतना ही कम अंश उसके लिए आवश्यक होगा। सबसे

अधिक घर की रक्षा का, फिर पुर या ग्राम की रक्षा का और फिर देश की रक्षा का ध्यान जनसाधारण के लिए स्वाभाविक है। पर जिनकी दृष्टि बहुत व्यापक होती है, जिनके अंतःकरण में परार्थ को छोड़ स्वार्थ के लिए अलग जगह नहीं होती, वे इस क्रम का विपर्यय कर दिखाते हैं। वे देश की रक्षा के लिए अवसर पड़ने पर घर का लोभ क्या प्राण तक का लोभ छोड़ देते हैं। पर ऐसे लोग विरले होते हैं। सबसे ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

अब घर का प्रेम, पुर का प्रेम, देश का प्रेम कहाँ तक विरोधशून्य होता है, यह भी देखिए। इनका अविरोध परिमित होता है - 'घर के भीतर, पुर या ग्राम के भीतर ही उसके होने का निश्चय रहता है। घर के बाहर, पुर या ग्राम के बाहर, देश के बाहर विरोध करने वाले मिल सकते हैं। एक घर की रक्षा दूसरे घरवालों से, एक पुर की रक्षा दूसरे पुरवालों से और एक देश की रक्षा दूसरे देशवालों से करनी पड़ती है।

जिनकी आत्मा समस्त भेदभाव भेदकर अत्यंत उत्कर्ष पर पहुँची हुई होती है वे सारे संसार की रक्षा चाहते हैं - जिस स्थिति में भूमण्डल के समस्त प्राणी, कीट-पतंग से लेकर मनुष्य तक सुखपूर्वक रह सकते हैं, उसके अभिलाषी होते हैं। ऐसे लोग विरोध के परे होते हैं। उनसे जो विरोध रखें वे सारे संसार के विरोधी हैं, वे लोक के कंटक हैं।

कोई वस्तु हमें बराबर सुख या आनंद देती रहे और कोई वस्तु बनी रहे, इन्हीं दो भावों को लेकर स्वायत्त रक्षा की इच्छा और स्वनिरपेक्ष रक्षा की इच्छा से दो विभाग पहले किए गए हैं। अतः पहली को यदि हम अपने सुख की रक्षा की इच्छा कहें तो बहुत अनुचित न होगा। वस्तु के दूसरे के पास जाने से या नष्ट हो जाने से हमें सुख या आनंद न मिल सकेगा, इसी से हम उसकी रक्षा के लिए व्यग्र होते हैं। यदि ऐसी वस्तु को कोई उठाए लिए जाता हो और वह बीच में नष्ट हो जाय, तो हमें दुःख न होगा, क्योंकि जब चीज़ हमारे हाथ से निकल गई, हमें वह सुख या आनंद दे ही नहीं सकती, तब वह चाहे रहे, चाहे नष्ट हो। यहाँ तक कि यदि ले जाने वाले के प्रति हमें क्रोध होगा या ईर्ष्या होगी तो हम प्रसन्न होंगे। जहाँ वस्तु रक्षा की इच्छा होगी वहाँ यह बात न होगी। हम किसी दशा में उस वस्तु का नाश न चाहेंगे। किसी पुराने काजी के पास दो स्त्रियाँ एक बच्चे का लेकर लड़ती हुई आईं। एक कहती थी कि बच्चा मेरा है, दूसरी कहती थी मेरा। काजी साहब ने परीक्षा के विचार से कहा - 'अच्छा, तुम दोनों को बच्चा काटकर आधा-आधा बांट दिया जायगा।' इतना सुनते ही दोनों में से एक स्त्री घबराकर बोल उठी - 'जाने दीजिए, बच्चा मुझे न चाहिए, उसी को दीजिए।' काजी साहब समझ गए कि बच्चा इसी का है। वह स्त्री बच्चे की माँ थी, अतः उसे उसका सच्चा लोभ था।

अब तक लोभ के संबंध में जो कुछ कहा गया वह उसका व्यापक अर्थ लेकर। पर जैसा पहले कहा जा चुका है, 'लोभ' शब्द कहने से आज-कल प्रायः धन के लोभ की भावना होती है, प्राप्ति या रक्षा की उस इच्छा की ओर ध्यान जाता है जो जीवन-निर्वाह की सामग्रियों के प्रति होती है। धन से अनेक सुखों की प्राप्ति और अनेक कष्टों का निवारण होता है अथवा यों कहिए कि धन के बिना संसार में रहना संभव नहीं। संसार में जो इतने लोग धन इकट्ठा करते दिखाई देते हैं उनमें से कुछ तो घोर कष्ट के निवारण के लिए, कुछ अधिक सुख की प्राप्ति के लिए, कुछ भविष्य में सुख के अभाव या कष्ट की आशंका से और कुछ बिना किसी उद्देश्य-भावना के। इनमें से प्रथम श्रेणी के लोग तो धन की चाहे जितनी प्रबल इच्छा करें, उसके लिए चाहे जितने आतुर हों, लोभी नहीं कहला सकते। धन के बिना जिन्हें पेट भर अन्न नहीं मिलता, जो शीत और ताप से अपने शरीर की रक्षा नहीं कर सकते, उन्हें जो लोभी कहे वे बड़े भारी लोभी और बड़े भारी क्रूर हैं। दूसरी श्रेणी के लोगों पर से लोभ के आरोप की संभावना क्रमशः बढ़ते-बढ़ते चौथी श्रेणी के लोगों पर जाकर निश्चय-कोटि को पहुँच जाती है। कष्ट निवारण की इच्छा, अधिक सुखप्राप्ति की इच्छा, सुखाभाव या कष्ट की आशंका - ये तीनों धन और उसकी प्राप्ति की इच्छा के बीच ओट या व्यवधान के रूप में रहती है। जहाँ इन तीनों में से कोई परदा नहीं रहता वहाँ शुद्ध धन-लोभी की जघन्य मूर्ति साक्षात् दिखाई पड़ती है।

धन की कितनी इच्छा लोभ के लक्षणों तक पहुँचती है, इसका निर्णय कठिन है। पर किसी मनोविकार की उचित सीमा का अतिक्रमण प्रायः वहाँ समझा जाता है जहाँ और मनोवृत्तियाँ दब जाती हैं या उनके लिए बहुत कम स्थान रह जाता है। और मनोवेगों के आधिक्य से लोभ के आधिक्य में विशेषता यह होती है कि लोभ स्वविषयान्वेषी होने के कारण अपनी स्थिति और वृद्धि का आधार आप खड़ा करता रहता है, जिससे असंतोष की प्रतिष्ठा के साथ ही साथ और वृत्तियों के लिए स्थायी अनवकाश हो जाता है और मनोविकारों में वह बात नहीं होती। क्रोध को ही लीजिए। क्रोध कुछ बातों पर आता है पर उन बातों को ढूँढ़ने में प्रवृत्त नहीं होता। क्रोधी स्वभाव का मनुष्य ऐसी बातों पर चिढ़ जाता है जिनसे और लोग नहीं चिढ़ते, पर वह सदा इस फेर में नहीं घूमा करते कि कोई बात चिढ़ने को मिले। क्रोध से आग बबूला होने वाले तुरंत करुणा से आर्द्र और लज्जा से पानी-पानी होते हुए भी देखे जाते हैं। क्रोध आदि में अन्य वृत्तियों का जो बोध हो जाता है वह प्रायः क्षणिक होता है, पर लोभ द्वारा स्थायी हो जाता है। बात यह है कि लोभ का प्रथम अवयव सुखात्मक होने के कारण लोभ को विषय की ओर बराबर प्रवृत्त रखता है। धन का लोभी धन पाकर लोभ से निवृत्त नहीं हो जाता, या तो भले-बुरे का सब विचार छोड़ रक्षा में तत्पर दिखाई देता है या और अधिक प्राप्ति में। इस प्रकार लोभ से अन्यमुख वृत्तियों का जो स्तम्भन होता है, वह स्वाभावान्तर्गत हो जाता है। अस्तु, स्थूल रूप से उद्धृत लोभ के दो उग्र लक्षण कहे जा सकते हैं :

(1) असंतोष।
(2) अन्य वृत्तियों का दमन।

लोभ चाहे जिस वस्तु का हो, जब बहुत बढ़ जाता है तब उस वस्तु की प्राप्ति, सान्निध्य या उपभोग से जी नहीं भरता। मनुष्य चाहता है कि वह बार-बार मिले या बराबर मिलती रहे। धन का लोभ जब रोग होकर चित्त में घर कर लेता है तब प्राप्ति होने पर भी और प्राप्ति की इच्छा बराबर जगी रहती है जिससे मनुष्य सदा आतुर और प्राप्त के आनंद से विमुख रहता है। जितना नहीं है उतने के पीछे जितना है उतने से प्रसन्न होने का उसे कभी अवसर ही नहीं मिलता। उसका सारा अंतःकरण सदा अभावमय रहता है। उसके लिए जो है वह भी नहीं है। असंतोष अभाव-कल्पना से उत्पन्न दुःख है अतः जिस किसी में यह अभाव-कल्पना स्वाभाविक हो जाती है, सुख से उसका नाता सब दिन के लिए टूट जाता है। न किसी को देखकर वह प्रसन्न होता है और न उसे देखकर कोई प्रसन्न होता है। इसी से संतोष सात्विक जीवन का एक अंग बतलाया गया है। भक्तवर तुलसीदास जी संतोषवृत्ति की वाञ्छा इस प्रकार करते हैं :

कबहुँक हौं यहि रहिन रहौंगो?
यथालाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।

पर जिस स्थिति से कोई कष्ट या कठिनता हो उससे असंतुष्ट रहना गृहस्थ का धर्म है क्योंकि ऐसे असंतोष से जिस प्रयत्न की प्रेरणा होती है वह एक अच्छे फल के निमित्त होता है। ऐसे असंतोष का अभाव आलस्य-सूचक होता हे। पर प्राप्ति की जो इच्छा व्यसन के रूप में होती है उसका निरसन ही ठीक है।

धन का जो लोभ मानसिक व्याधि या व्यसन के रूप में होता है उसका प्रभाव अंतःकरण की शेष वृत्तियों पर यह होता है कि वे अनभ्यास से कुण्ठित हो जाती है। जो लोभ और मान-अपमान के भाव को, करुणा और दया के भाव को, न्याय-अन्याय के भाव को, यहाँ तक कि अपने कष्ट-निवारण या सुखभोग की इच्छा तक को दबा दे, वह मनुष्यता कहाँ तक रहने देगा? जो अनाथ विधवा का सर्वस्वहरण करन के लिए कुर्क अमीन लेकर चढ़ाई करते हैं, जो अभिमानी धनिकों की दुतकार सुनकर त्योरी पर बल नहीं आने देते, जो मिट्ठी में रुपया गाड़ कर न आप खाते हैं न दूसरे को खाने देते हैं, जो अपने परिजनों का कष्ट-क्रन्दन सुनकर भी रुपये गिनने में लगे रहते हैं वे अधमरे होकर जीते हैं। उनका आधा अंतःकरण मारा गया समझिए। जो किसी के लिए नहीं जीते, उनका जीना न जीना बराबर है।

लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता। लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान-

अपमान में समान भाव रखते हैं। अब और चाहिए क्या? जिससे वे कुछ पाने की आशा रखते हैं वह यदि उन्हें दस गालियाँ भी देता है तो उनकी आकृति पर न रोष का कोई चिह्न प्रकट होता है और न मन में ग्लानि होती है। न उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया। सुंदर से सुंदर रूप देखकर वे अपनी एक कौड़ी भी नहीं भूलते। करुण से करुण स्वर सुनकर वे अपना एक पैसा भी किसी के यहाँ नहीं छोड़ते। तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति के सामने हाथ फैलाने में वे लज्जित नहीं होते। क्रोध, दया, घृणा, लज्जा आदि करने से क्या मिलता है कि वे करने जाएँ? जिस बात से उन्हें कुछ मिलता नहीं जब कि उसके लिए उनके मन के किसी कोने में जगह नहीं होती तब जिस बात से पास का कुछ जाता है, वह बात उन्हें कैसी लगती होगी, यह यों ही समझा जा सकता है। जिस बात में कुछ लगे वह उनके किसी काम की नहीं - चाहे वह कष्ट-निवारण हो या सुखप्राप्ति, धर्म हो या न्याय। वे शरीर सुखाते हैं, अच्छे भोजन, अच्छे वस्त्र आदि की आकांक्षा नहीं करते, लोभ के अंकुश से अपनी संपूर्ण इन्द्रियों को वश में रखते हैं। लोभियों ! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान - समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है!!

पक्के लोभी लक्ष्य भ्रष्ट नहीं होते, कच्चे हो जाते हैं। किसी वस्तु को लेने के लिए कई आदमी खींचतान कर रहे हैं। उनमें से एक क्रोध में आकर उस वस्तु को नष्ट कर देता है। उसे पक्का लोभी नहीं कह सकते, क्योंकि क्रोध ने उसके लोभ को दबा दिया, वह लक्ष्य-भ्रष्ट हो गया।

अब एक प्राणी के प्रति दूसरे प्राणी के लोभ का प्रसंग सामने आता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। यद्यपि किसी व्यक्ति की ओर प्रवृत्ति भी जब तक एकनिष्ठ न हो, लोभ ही कही जा सकती है, पर साधारण बोल-चाल में वस्तु के प्रति मन की जो ललक होती है उसे 'लोभ' और किसी व्यक्ति के प्रति जो ललक होती है उसे 'प्रेम' कहते हैं। वस्तु और व्यक्ति के विषय-भेद से लोभ के स्वरूप और प्रवृत्ति में बहुत कुछ भेद पड़ जाता है, इससे व्यक्ति के लोभ को अलग नाम दिया गया है। पर मूल में लोभ और प्रेम दोनों एक ही हैं इसका पता हमारी भाषा ही देती है। किसी रूपवान या रूपवती को देख उस पर 'लुभा जाना' बराबर कहा जाता है। अंग्रेजी के प्रेम-वाचक शब्द 'लव' (Love) सैक्सन के 'लुफु' (Lufe) और लैटिन के 'लुबेट' (Lubet) का संबंध संस्कृत के 'लोभ' शब्द या 'लुभ' धातु से स्पष्ट लक्षित होता है।

किसी व्यक्ति का लोभ वस्तु के लोभ से कितना विलक्षण होता है, अब यह देखना चाहिए। विलक्षणता का सबसे बड़ा कारण है दोनों पक्षों में मनस्तत्व का विधान। जो लुब्ध होता है उसके भी हृदय होता है, जिस पर वह लुब्ध होता है उसके भी। अतः किसी

व्यक्ति का लोभी उस व्यक्ति से केवल बाह्य सम्पर्क रख कर ही तुष्ट नहीं हो सकता, उसके हृदय का सम्पर्क भी चाहता है। अतः मनुष्य का मनुष्य के साथ जितना गूढ़, जटिल और व्यापक संबंध हो सकता है उतना वस्तु के साथ नहीं। वस्तु-लोभ के आश्रय और आलम्बन, इन दो पक्षों में भिन्न-भिन्न कोटि की सत्ताएँ रहती हैं। पर प्रेम एक ही कोटि की दो सत्ताओं का योग है, इससे कहीं अधिक गूढ़ और पूर्ण होता है।

वस्तु के भीतर लोभी चेतना का कोई विधान नहीं देखता जिस पर प्रभाव डालने का वह प्रयत्न करे। पर प्रेमी प्रिय की अंतर्वृत्ति पर प्रभाव डालने में तत्पर रहा करता है। प्रभाव डालने की यह वासना प्रेम उत्पन्न होने के साथ ही जगती है और बढ़ी चली जाती है। किसी वस्तु पर लुब्ध होकर कोई इस चिंता में नहीं पड़ता कि उस वस्तु को मालूम हो जाय कि वह उस पर लुब्ध है। पर किसी पर लुब्ध या प्रेमासक्त होते ही प्रेमी इस बात के लिए आतुर होने लगता है कि प्रिय को उसके प्रेम की सूचना मिल जाय। उसे इस बात की चिंता रहती है कि प्रिय को भी उससे प्रेम हो गया है, कम से कम उसके प्रेम का पता लग गया है, या नहीं :

वा निरमोहिनी रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है।
बारहि बबार विलोकि घरी घरी सूरती तौ पहिचानति ह्वै है।।
ठाकुर या मन को परतीति है, जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत हैं नित मेरे लिए, इतनो तो विशेष कै जानति ह्वै है।।

इस प्रवृत्ति के मूल में कई बातें दिखाई पड़ती हैं। पहली बात तो तुष्टि का विधान है। लोभी या प्रेमी सान्निध्य या सम्पर्क द्वारा तुष्ट होना चाहता है। वस्तु के सान्निध्य या सम्पर्क के लिए तो वस्तु की ओर से किसी प्रकार की स्वीकृति या प्रयत्न की अपेक्षा नहीं। पर किसी चेतन प्राणी से प्रेम करके कोई उसके सान्निध्य या सम्पर्क की आशा तब तक नहीं कर सकता जब तक कि वह उसमें भी सान्निध्य या सम्पर्क की इच्छा न उत्पन्न कर ले। दूसरी बात यह है कि प्रेम का पूर्ण विकास तभी होता है जब दो हृदय एक दूसरे की ओर क्रमशः खिंचते हुए मिल जाते हैं। इस अंतर्योग के बिना प्रेम की सफलता नहीं मानी जा सकती। अतः प्रिय को अपने प्रेम की सूचना देना उसके मन को अपने मन से मिलाने के लिए न्योता देना है।

अपने प्रेम की सूचना देने के उपरांत प्रेमी प्रिय के हृदय में अपनी ओर कुछ भावों की प्रतिष्ठा चाहता है। पहले कहा जा चुका है कि सहसा उत्पन्न लोभ या प्रीति का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है 'अच्छा लगना'। वस्तु के संबंध में तो उसी वस्तु का अच्छा लगना काफी होता है। लोभियों को इस फेर में नहीं पड़ना पड़ता कि जो वस्तु उन्हें अच्छी लग रही है उसे वे भी अच्छे लगें पर प्रेमी यह चाहने लगता है कि जिस प्रकार प्रिय मुझे अच्छा लगता है उसी प्रकार मैं भी प्रिय को अच्छा लगूँ। वह अपना सारा

अच्छापन किसी न किसी बहाने उसके सामने रखना चाहता है। यह बराबर देखने में आता है कि जब कभी किसी नवयुवक का चित्त किसी युवती की ओर आकर्षित होता है तब ऐसे स्थानों पर जाते समय जहाँ उसके दिखाई पड़ने की संभावना होती है, उसका ध्यान कपड़े-लत्ते की सफाई और सजावट की ओर कुछ अधिक हो जाता है। सामने होने पर बात-चीत और चेष्टा में भी एक खास ढब देखा जाता है। अवसर पड़ने पर चित्त की कोमलता, सुशीलता, वीरता, निपुणता इत्यादि का भी प्रदर्शन होता है। प्रेमी को जिस घड़ी यह पता चलता है कि प्रिय का चित्त भी उसकी ओर थोड़ा बहुत खिंचा है उसी घड़ी से वह लोभ की ऊपरी सतह से और गहरे में जाकर प्रेम को आनन्द-लोक में मग्न हो जाता है।

एक दूसरे की ओर आकर्षित दो हृदयों के योग से जीवन में एक नया रस उत्पन्न हो जाता है या दूनी सजीवता आ जाती है। आनंद की संभावना भी बहुत अधिक बढ़ जाती है और दुःख की भी। प्रिय के हृदय का आनंद प्रेमी के हृदय का आनंद हो जाता है। अतः एक ओर तो प्रिय के आनंद का मेल हो जाने से प्रेमी संसार की नाना वस्तुओं में कई गुने अधिक आनंद का अनुभव करने लगता है, दूसरी ओर प्रिय के अभाव में उन्हीं वस्तुओं में उसके लिए आनंद बहुत कम या कुछ भी नहीं रह जाता है। वियोग की दशा में तो वे वस्तुएँ उलटा दुःख देने लगती हैं। होते-होते यहाँ तक होता है कि प्रेमी के लिए प्रिय के आनंद से अलग आनंद रह ही नहीं जाता। प्रिय के आनंद में ही वह अपना आनंद ढूँढ़ा करता है। दो हृदयों की यह अभिन्नता अखिल जीवन की एकता के अनुभव-पथ का द्वार है। प्रेम का यह एक रहस्यपूर्ण महत्व है।

प्रेम का प्रभाव एकांत भी होता है और लोक-जीवन के नाना क्षेत्रों में भी दिखाई पड़ता है। एकांत प्रभाव उस अंतर्मुख प्रेम में देखा जाता है जो प्रेमी को लोक के कर्मक्षेत्र से खींचकर केवल दो प्राणियों के एक छोटे से संसार में बंद कर देता है। उसका उठना-बैठना, चलना-फिरना, मरना-जीना, सब उसी घेरे के भीतर होता है। वह उस घेरे के बाहर कोई प्रभाव उत्पन्न करने के उद्देश्य से कुछ भी नहीं करता। उसमें जो साहस, धीरता, दृढ़ता, कष्टसहिष्णुता आदि दिखाई देती है वह प्रेम-मार्ग के बीच प्रेमोन्माद के रूप में, लोक के बीच कर्त्तव्य के रूप में नहीं। सारांश यह कि इस प्रकार के प्रेम का क्षेत्र सामाजिक और पारिवारिक-जीवन से विच्छिन्न होता है। उसमें प्रियपक्ष का प्रबल राग जीवन के अन्य सब पक्षों से पूर्ण विराग की प्रतिष्ठा कर देता है। फारसी के साहित्य में ऐसे ही ऐकान्तिक और लोक-बाह्य प्रेम की प्रधानता है। भारतीय साहित्य में गोपियों के प्रेम को प्रायः यही स्वरूप दिया गया है। भक्तिमार्ग में प्रायः यही ऐकान्तिक और अनन्य प्रेम लिया गया है। क्योंकि यह एक ऐसा राग है जिसके प्रभाव से विराग की साधना आप से आप, बिना किसी मानसिक प्रयत्न के, हो जाती है।

प्रेम का दूसरा स्वरूप वह है जो अपना मधुर और अनुरंजनकारी प्रकाश जीवन-यात्रा को नाना पथों पर फेंकता है। प्रेमी जगत् के बीच अपने अस्तित्व की रमणीयता का अनुभव आप भी करता है और अपने प्रिय को भी कराना चाहता है। प्रेम के दिव्य प्रभाव से उसे अपने आसपास चारों ओर सौंदर्य की आभा फैली दिखाई पड़ती है, जिसके बीच वह बड़े उत्साह और प्रफुल्लता के साथ अपना कर्म-सौंदर्य प्रदर्शित करता है। वह प्रिय को अपने समग्र जीवन का सौंदर्य जगत् के बीच दिखाना चाहता है। यह प्रवृत्ति इस बात का पूरा संकेत करती है कि मनुष्य की अंतःप्रकृति में जाकर प्रेम का जो विकास हुआ है वह सृष्टि के बीच सौंदय-विधान की प्रेरणा करने वाली एक दिव्य शक्ति के रूप में। मनुष्य का प्रेम-सौंदर्य - वस्तु सौंदर्य, कर्म-सौदर्य, वाक्-सौंदर्य, भाव-सौंदर्य सब - देखना और दिखाना चाहता है। वीरता के पुराने जमाने में युवक योद्धा यह समझकर कि गढ़ी की ऊँची अट्टालिका के गवाक्षों से हमारी प्रेयसी झाँकती होगी, किस सौंदर्य भावनापूर्ण उमंग के साथ रणक्षेत्र में उतरता था। कर्म का सबसे अधिक विकट क्षेत्र युद्ध है। इससे आर्य्य जाति के वीरकाल के काव्यों में श्रृंगार और वीर का अत्यंत मनोहर समन्वय पाया जाता है। जिस प्रकार यूरोपीय साहित्य में वीरधर्म का एक युग रहा है उसी प्रकार हमारे हिंदी-साहित्य में भी। उस काल की कविता का प्रसंग अधिकतर 'युद्ध और प्रेम' (Love and war) ही पाया जाता है।

भारतीय प्रबंध-काव्यों की मूल प्रवृत्ति लोक-जीवन से संश्लिष्ट प्रेम के वर्णन की ओर ही रही। आदि कवि वाल्मीकि ने राम और सीता के प्रेम का विकास मिथिला या अयोध्या के महलों और बगीचों में न दिखाकर दंडकारण्य के विस्तृत कर्मक्षेत्र के बीच दिखाया है। उनका प्रेम जीवन यात्रा के मार्ग में माधुर्य्य फैलाने वाला है, उससे अलग किसी कोने में चौकड़ी या आहें भराने वाला नहीं, उसके प्रभाव से वनचर्य्या में एक अद्‌भुत रमणीयता आ गई है। सारे कंटीले पथ प्रसूनमय हो गए हैं, सम्पूर्ण कर्मक्षेत्र एक मधुर ज्योति से जगमगा उठा है। कोमलांगी सीता अपने प्रिय पति की विशाल भुजाओं और कन्धों के ऊपर निकली हुई धनुष की वक्रकोटि पर मुग्ध निविड़ और निर्जन काननों में निःशंक विचर रही है। खर-दूषण की राक्षसी सेना कोलाहल करती आ रही है। राम कुछ मुसकराकर एक बार प्रेम-भरी दृष्टि से सीता की ओर देखते हैं, फिर वीरदर्प से राक्षसों की ओर दृष्टि फेरकर अपना धनुष चढ़ाते हैं। उस वीरदर्प में कितनी उमंग, कितना उत्साह, कितना माधुर्य्य रहा होगा! सीता-हरण होने पर राम का वियोग जो सामने आता है। वह भी चार-पाई पर करवटें बदलने वाला नहीं है, समुद्र पार कराकर पृथ्वी का भार उतरवाने वाला है।

उस ऐकान्तिक प्रेम की अपेक्षा जो प्रेमी को एक घेरे में उसी प्रकार बन्द कर देता है जिस प्रकार कोई मर्ज मरीज़ को एक कोठरी में डाल देता है, हम उस प्रेम का

अधिक मान करते हैं जो एक संजीवन रस के रूप में प्रेमी के सारे जीवन-पथ को रमणीय और सुंदर कर देता है, उसके सारे कर्मक्षेत्र को अपनी ज्योति से जगमगा देता है। जो प्रेम जीवन की नीरसता हटाकर उसमें सरसता ला दे, वह प्रेम धन्य है। जिस प्रेम का रंजनकारी प्रभाव विद्वान की बुद्धि, कवि की प्रतिभा, चित्रकार की कला, उद्योगी की तत्परता, वीर के उत्साह तक बराबर फैला दिखाई दे उसे हम भगवान् का अनुग्रह समझते हैं। भगवद्भक्ति के लिए हम तो प्रेम की यही पद्धति समीचीन मानते हैं। जब कि प्रिय के संबंध से न जाने कितनी वस्तुएँ प्रिय हो जाती हैं तब उस परम प्रिय के संबंध से सारा जगत् प्रिय हो सकता है। शुद्धि भक्तिमार्ग में जगत् से विरक्त का स्थान हम ढूँढ़ते हैं और नहीं पाते हैं। भक्ति-राग की वह दिव्य भूमि है जिसके भीतर सारा चराचर जगत् आ जाता है। जो भक्त इस जगत् को ब्रह्म की ही व्यक्त सत्ता या विभूति समझेगा, भगवान के लोकपालक और लोकरंजन स्वरूप पर मुग्ध रहेगा, वह अपने स्नेह, अपनी दया, अपनी सहानुभूति को लोक में और फैलायेगा कि चारों ओर से खींच लेगा? हम तो जगत् के बीच हृदय के सम्यक् प्रसार में ही भक्ति का प्रकृत लक्षण देखते हैं क्योंकि राम की ओर ले जाने वाला रास्ता इसी संसार से होता हुआ गया है।

जब कोई रामभक्त पुत्र-कलत्र, भाई-बंधु का राग छोड़ने, कर्मपथ से मुँह मोड़ने और जगत् से नाता तोड़ने का उपदेश देता है तब मेरी समझ जवाब देने लगती है। मेरे देखने में तो वही रामभक्त-सा लगता है जो अपने पुत्र-कलत्र, भाई-बहिन, माता-पिता से स्नेह का व्यवहार करता है, रास्ते में चीटियाँ बचाता चलता है, किसी प्राणी का दुःख देख आँसू बहाता हुआ रुक जाता है, किसी दीन पर निष्ठुर अत्याचार होते देख क्रोध से तिलमिलाता हुआ अत्याचारी का हाथ थामने के लिए कूद पड़ता है, बालकों की क्रीड़ा देख विनोद से पूर्ण हो जाता है, लहलहाती हुई हरियाली देख लहलहा उठता और खिले हुए फूलों को देख खिल जाता है। जो यह सब देख 'मुझ से क्या प्रयोजन?' कहकर विरक्त या उदासीन रहेगा - क्रोध, करुणा, स्नेह, आनंद आदि को पास तक न फटकने देगा - उसे मैं ज्ञानी, ध्यानी, संयमी चाहे जो कहूँ, भक्त कदापि न कह सकूँगा। राम का नाता सारे संसार से नाता जोड़ता है, तोड़ता नहीं। लोकमंगल की प्रेरणा का प्रयत्न करता है। इस संबंध निर्वाह में जो बाधक हों, भक्त के लिए वे अवश्य त्याज्य हैं, चाहे वे अपने सुहृद् और स्नेही परिजन ही क्यों न हों, क्योंकि :

नाते सबै राम के मनियत सुहृद् सुसेव्य जहाँ लौं।

ऐकान्तिक और लोकबद्ध, प्रेम के इन दो स्वरूपों का परिचय हो चुका। अब हम प्रेमी और प्रिय, इन दो पक्षों की पारस्परिक स्थिति पर कुछ विचार करना चाहते हैं। प्रेम कहीं तो दोनों पक्षों में युगपद् होता है अर्थात् आरंभ ही से सम रहता है, कहीं पहले एक में उत्पन्न होकर फिर दूसरे में होता है और कहीं एक ही में उत्पन्न होकर रह जाता है,

दूसरे में होता ही नहीं अर्थात् विषम ही रह जाता है। पहले कहा जा चुका है कि किसी के प्रति प्रेम का प्रादुर्भाव होते ही प्रेमी से अपने प्रेम का परिचय देने के लिए आतुर होता है। यह आतुरता तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा के लिए होती है जिसके बिना प्रेम सफल नहीं जान पड़ता। तुल्यानुराग के प्रयत्न की भी एक बँधी हुई पद्धति दिखाई पड़ती है।

दूसरों की ओर द्रवित करने वाली हृदय की दो कोमल वृत्तियाँ हैं - करुणा और प्रेम। इनमें से प्रेम का पात्र होने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की विशिष्टता अपेक्षित होती है। इससे दूसरे के हृदय में प्रेम उत्पन्न कर सकने का निश्चय किसी को जल्दी नहीं हो सकता। पर दया का पात्र होने के लिए केवल दुःख या पीड़ा का प्रदर्शन ही पर्याप्त होता हे। दया का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। दया मनुष्यमात्र का धर्म है और प्राणि-मात्र उसके अधिकारी हैं। दया यह नहीं देखने जाती कि दुखी या पीड़ित कौन और कैसा है। इसी से प्रेमी कभी तो यह चेष्टा करता दिखाई पड़ता है कि वह भी प्रिय को अच्छा लगे और कभी ऐसे उपायों का अवलम्बन करता है जिनसे प्रिय के हृदय में उसके ऊपर दया उत्पन्न हो। दया उत्पन्न करके वह प्रिय के अंतस में प्रेम भी भूमिका बाँधना चाहता है। वह समझता है कि दया उत्पन्न होगी तो धीरे-धीरे प्रेम भी उत्पन्न हो ही जायगा। वह वियोग की अपनी दारुण वेदना प्रिय के कानों तक बराबर पहुँचाता रहता है।

यह न समझना चाहिए कि प्रिय के हृदय में दया उत्पन्न करने की यह चाह तुलयानुराग की प्रतिष्ठा के पूर्व तक ही रहती है। यह प्रेम मार्ग की एक सामान्य प्रवृत्ति है जो प्रेमी के हृदय में सदा बनी रहती है। बात यह है कि जिस प्रकार दूसरे के हृदय में प्रेम उत्पन्न करने की ज़रूरत होती है उसी प्रकार बराबर बनाये रखने की भी। प्रेम की रखवाली करने के लिए प्रेमी प्रिय के हृदय में दया को बराबर जगाता रहता है। दया या करुणा का भाव जाग्रत रखने की इस प्रवृत्ति का प्रकर्ष फारसी या उर्दू की शायरी में विशेष रूप से पाया जाता है। वहाँ प्रेमी जीते-जी यार के कूचे में अपनी कब्र बनवाते हैं, उस कूचे के कुत्तों के नाम अपनी हड्डियाँ वक्फ़ करते है। और बार-बार मरकर अपना हाल सुनाया करते हैं। मरण से बढ़कर करुणा का विषय और क्या हो सकता है? शत्रु तक का मरना सुनकर सहानुभूति के एक-आध शब्द मुँह से निकल आते हैं। प्रिय के मुख से निकले हुए सहानुभूति शब्द-सा प्रिय संसार में और कोई शब्द नहीं हो सकता। 'बेचारा बहुत अच्छा था', प्रिय के मुँह से इस प्रकार के कुछ शब्दों की संभावना पर ही आशिक लोग अपने मर जाने की कल्पना बड़े आनंद से किया करते हैं। जब कि सहानुभूति के एक शब्द का इतना मोल है तब अश्रु का तो कोई मोल ही नहीं हो सकता, प्राण के बदले में भी वह सस्ता ही जँचेगा। यदि प्रेमी को यह निश्चय हो जाय कि मर जाने पर प्रिय की आँखों में आई हुई आँसू की एक बूँद वह देख सकेगा तो वह अपना शरीर छोड़ने के लिए तैयार हो सकता है।

यह कहा जा चुका है कि तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा हो जाने पर ही प्रेम को पूर्ण तुष्टि और सफलता प्राप्त होती है। हमारे साहित्य के पुराने आचार्यों ने एक पक्ष की प्रीति को रसाभास के अंतर्गत लिया है। जब तक तुल्यानुराग की संभावना रहती है या प्रिय-पक्ष की विरक्ति और उदासीनता का प्रमाण सामने नहीं रहता तब तक रस में त्रुटि नहीं मानी जाती। प्रेमी का तिरस्कार करता हुआ प्रिय जब अन्य में अनुरक्त पाया जाता है तब उसकी विरक्ति का पक्का प्रमाण सामने आ जाता है। ऐसी दशा में भी बने रहने वाले प्रेम की चर्चा काव्यों में मिलती है। फारसी और उर्दू की शायरी में तो आशिकों की अकसर यह शिकायत रहती हैं कि 'माशूक गैरों से मिला करता है और हमारी ओर ताकता तक नहीं'। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों की शिकायत भी कुछ-कुछ इसी ढंग की हो गई थी।

रस और रसाभास की बात छोड़ हमें प्रेम के उस स्वरूप पर विचार करना है जिसमें प्रेमी तो प्रेम में विह्वल रहता है और प्रिय उसकी ओर कुछ ध्यान ही नहीं देता या बराबर उसका तिरस्कार ही करता जाता है। क्या ऐसा प्रेम कोई प्रेम ही नहीं है? यह नहीं कहा जा सकता। प्रेमी तो प्रेम कर चुका, उसका कोई प्रभाव प्रिय पर पड़े या न पड़े। उसके प्रेम में कोई कसर नहीं। प्रिय यदि उससे प्रेम करके उसकी आत्मा को तुष्ट नहीं करता तो उसमें उसका क्या दोष? तुष्टि का विधान न होने से प्रेम के स्वरूप की पूर्णता में कोई त्रुटि नहीं आ सकती। जहाँ तक ऐसे प्रेम के साथ तुष्टि की कामना या अतृप्ति का क्षोभ लगा दिखाई पड़ता है वहाँ तक तो उसका उत्कर्ष प्रकट नहीं होता। पर जहाँ आत्मतुष्टि की वासना विरत हो जाती है या पहले ही से नहीं रहती, वहाँ प्रेम का अत्यंत निखरा हुआ निर्मल और विशुद्ध रूप दिखाई पड़ता है। ऐसे प्रेम की अविचल प्रतिष्ठा अत्यंत उच्च भूमि पर होती है जहाँ सामान्य हृदयों की पहुँच नहीं हो सकती। इस उच्च भूमि पर पहुँचा हुआ प्रेमी प्रिय से कुछ भी नहीं चाहता है, केवल यही चाहता है - प्रिय से नहीं, ईश्वर से - कि हमारा प्रिय बना रहे और हमें ऐसा ही प्रिय रहे। इसी उच्च दशा का अनुभव करती हुई सूर की गोपियाँ कहती हैं :

जहँ जहँ रहौ राज करौ तहँ तहँ लेहु कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति सूर सुनु 'न्हात खसै जनि बार।।'

ऐसे प्रेमी के लिए प्रिय की तुष्टि या सुख से अलग अपनी कोई तुष्टि या सुख रह ही नहीं जाता। प्रिय का सुख-संतोष ही उसका सुख-संतोष हो जाता है। बंकिम बाबू की 'दुर्गेशनन्दिनी' आयशा का जगतसिंह पर अनुराग इसी उच्च भूमि पर लाकर छोड़ा गया है। जिस दिन से उसे जगतसिंह और तिलोत्तमा के प्रेम का पता चलता है उसी दिन से वह अपने प्रेम को भौतिक कामनाओं से मुक्त करने लगती है और अंत में तिलोत्तमा

के साथ जगतसिंह का विवाह कराकर पूर्ण शांति के साथ प्रेम के विशुद्ध मानस लोक में प्रवेश करती है।

प्रेमी यदि अपने प्रेम का कोई प्रभाव प्रिय पर न देखे तो उसके सामने प्रेम की यही उच्च भूमि दिखाई पड़ती है। सान्निध्य या सम्पर्क की कामना के त्याग द्वारा ही वह प्रेमरक्षा और शांति-लाभ कर सकता है। यदि उसमें यह क्षमता न होगी तो प्रतिवर्त्तन (Reaction) द्वारा घोर मानसिक विप्लव और पतन की आशंका रहेगी, ईर्ष्या आदि बुरे भावों के संचार के लिए रास्ता खुल जाएगा। यहाँ तक कि समय-समय पर क्रोध का दौरा होगा और प्रेम का स्थान वैर ले लेगा।

प्रेम-काव्यों में प्रायः रूप-लोभ ही प्रेम का प्रवर्त्तक दिखाया जाता है। किसी के उत्कृष्ट रूप-गुण पर कोई मुग्ध होता है और उसका प्रेमी बन जाता है। पर प्रेम का एक और कारण, जो रूप-गुण से सर्वथा स्वतंत्र और उनकी अपेक्षा अधिक निश्चित प्रभाव वाला होता है, साहचर्य है। देश-प्रेम के अंतर्गत इसका उल्लेख हो चुका है। किसी अरब को उसकी रेगिस्तानी जन्म-भूमि से ले जाकर काश्मीर के हरे-भरे मैदान में रख दें तो भी वह अपने देश के वियोग में रोया करेगा। इसी प्रकार जिन मनुष्यों के बीच कोई बचपन से या बहुत दिनों से रहता चला आता है, उनके प्रति उसके हृदय में एक स्थायी प्रेम होता हे। इस साहचर्यगत प्रेम में विशेषता यह होती है कि इसका वेग साहचर्य काल में तो कुछ अवसरों पर ही रह-रहकर व्यक्त होता है, पर विच्छेद-काल में बराबर उमड़ा रहता है। भाई-बहिन, पिता-पुत्र, इष्ट-मित्र से लेकर चिर-परिचित पशु-पक्षी और वृक्ष तक का प्रेम इसी ढब का होता है। रूप-गुण की भावना से उत्पन्न प्रेम भी आगे चलकर कुछ दिनों में यह साहचर्य-जन्य स्वरूप प्राप्त करता है। अतः प्रेम के इस स्वरूप का महत्व बराबर ध्यान में रहना चाहिए।

लोभ या प्रेम की सबसे बड़ी विलक्षणता का उल्लेख करके अब हम यह निबंध समाप्त करते हैं। यही एक ऐसा भाव है जिसकी व्यंजना हँसकर भी की जाती है और रोकर भी, जिसके व्यंजक दीर्घ निःश्वास और अश्रु भी होते हैं तथा हर्षपुलक और उछल-कूद भी। इसके विस्तृत शासन के भीतर आनंदात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के मनोविकार आ जाते हैं। साहित्य के आचार्यों ने इसी से श्रृंगार के दो पक्ष कर दिये हैं - संयोगपक्ष और वियोगपक्ष। कोई और भाव ऐसा नहीं है जो आलम्बन के रहने पर तो एक प्रकार की मनोवृत्तियाँ और चेष्टाएँ उत्पन्न करे और न रहने पर बिल्कुल दूसरे प्रकार की। कुछ और भाव भी लोभ या प्रेम का-सा स्थायित्व प्राप्त करते हैं - जैसे क्रोध बहुत दिनों तक टिका रह जाने पर द्वेष या वैर का रूप धारणा करता है और जुगुप्सा घृणा या विरक्ति का - पर यह विशेषता और किसी में नहीं पाई जाती। मनुष्य की अंतर्वृत्तियों पर

लोभ या प्रेम के शासन का यही दीर्घ विस्तार देखकर लोगों ने श्रृंगार को 'रसराज' कहा है।

5. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और 'कुटज'

जीवन परिचय

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एक साथ गंभीर्य से युक्त विद्वान और मस्तमौला रचनाकार थे। जीवन को उन्होंने बंधन की तरह स्वीकार नहीं किया, अपितु खुले भाव से जीया। जीवन की कठिनाइयों के बीच कभी हार नहीं मानी। जीवन भर निडर रहे। डॉ. नामवर सिंह के शब्दों में 'इस फक्कड़ मनीषा को न गुरू का डर है, न वेद का, न शास्त्र का और न ही लोक का ही। किन्तु लोक से न डरने का अर्थ लोक की उपेक्षा तो नहीं है। आचार्य द्विवेदी के फक्कड़पन की यही विशेषता है।' आचार्य द्विवेदी में ऐसी सहजता है जो अपने संबंधों को मनुष्यों से ही नहीं पशु-पक्षियों, वृक्षों, लताओं, खेतों, मैदानों से बिना किसी अलगाव के साथ जोड़ लेती है। अपनी शोधपरक और विवेकशील दृष्टि से वे वस्तुओं के साथ संबंधों को नए रूप में प्रस्तुत कर देते हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म 1907 ई. में बलिया जिला के ओझबलिया नामक ग्राम में हुआ था। इनके प्रपितामह आरत दुबे बिहार प्रान्त के छपरा जिले से यहाँ आकर बसे थे। उनके पिता का नाम श्री अनमोल दुबे और माता का नाम श्रीमती ज्योतिष्मती देवी था। द्विवेदी जी के प्रपितामह आरत दुबे प्रसिद्ध ज्योतिष थे। द्विवेदीजी का परिवार सनातनी था। द्विवेदीजी का छात्र जीवन विषम आर्थिक परिस्थितियों के बीच बीता।

द्विवेदीजी की प्रारंभिक शिक्षा गाँव के स्कूलों में ही हुई। मिडिल स्कूल पास करने के बाद वे काशी आ गए। आर्थिक अभाव के कारण उन्होंने इण्टर की प्राइवेट परीक्षा के फार्म की फीस के लिए सात दिन कथा बाँच कर जो धन प्राप्त हुआ उससे भरी। उनके पिता उन्हें ज्योतिष और वकील बनाने के इच्छुक थे। संस्कृत पाठशाला काशी से उन्होंने प्रवेशिका की परीक्षा उतीर्ण की थी। 1927 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय से साहित्याचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् 1930 में उन्होंने ज्योतिष की भी डिग्री हासिल की।

1927 में उनका विवाह हो गया था। घर गृहस्थी चलाने के लिए व्यवसाय जरूरी हो गया था। उन्होंने अध्यापन को अपनाया। इस काम को वे पसंद करते थे। 1930 में वे शान्ति निकेतन में शिक्षक नियुक्त हुए और 1950 तक वहीं शिक्षक रहे। बाद में बनारस हिंदू

विश्वविद्यालय, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ आदि में भी अध्यापन कार्य किया। 1955 में आचार्य द्विवेदी को राजभाषा आयोग का सदस्य बनाया गया। 1950-53 तक वे काशी नागरी प्रचारणी सभा के भी अध्यक्ष रहे। 1962 में बंग साहित्य अकादमी द्वारा उन्हें टैगोर पुरस्कार से सम्मानित किया गया। केन्द्रीय साहित्य अकादमी द्वारा भी उन्हें पुरस्कृत किया गया। सन् 1979 में लंबी बीमारी के बाद उनका निधन हुआ।

आचार्य का व्यक्तित्व उन्मुक्त था। उनमें आकाश का खुलापन था। उन्होंने शिष्यों की एक ऐसी परंपरा दी जिन्होंने बाद में हिन्दी साहित्य और आलोचना का विकास किया। इनमें नामवर सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, शिवप्रसाद सिंह आदि प्रमुख हैं। वे उदार मानवीयता में विश्वास करने वाले रचनाकार और आलोचक थे। दबे - कुचले लोगों और स्त्रियों के प्रति उनमें सहानुभूति थी। जीवन की भीषण परिस्थिति को झेलने की क्षमता उनमें थी। उनकी जड़ें लोक में काफी गहरी थीं और वहीं से रस खींचकर अपनी रचनात्मकता को पुष्ट करते रहे।

साहित्यिक योगदान

आलोचना कर्म और रचना कर्म को एक साथ निभाने की कला हिंदी में कुछ गिने चुने व्यक्तियों में ही दिखाई पड़ती है। द्विवेदी जी उनमें से एक थे। उन्होंने अपने आलोचना कर्म से हिंदी साहित्य को समझने की मानवतावादी दृष्टि प्रदान की, तो दूसरी ओर अपने उपन्यासों और ललित निबंधों के द्वारा उन्होंने रचनात्मक संवेदना को भी जाग्रत किया। सही अर्थो में उनमें विरूद्धों का सामंजस्य है। देखा तो यह गया है कि आलोचना के भार से रचनात्मक प्रतिभा दब जाती है। लेकिन द्विवेदी जी में आलोचना की धार रचना को अधिक पैना करती है। आलोचना और रचना उनके यहाँ एक - दूसरे के पर्याय हैं। वे एक दूसरे को उत्तेजित और पुष्ट करते हैं।

'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (1940), 'हिंदी साहित्य : उद्‌भव और विकास' (1952), 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' उनके साहित्य के इतिहास संबंधी ग्रंथ हैं। द्विवेदी जी ने हिंदी साहित्य के इतिहास को लोक चिंता के संदर्भ में देखने का प्रस्ताव किया और भारतीय चिंतनधारा के स्वाभाविक विकास पर बल दिया। उनका इतिहास बोध मिथक और लोक विश्वास के आत्मीय संसार से जुड़कर जीवंत हो उठा है।

उनके निबंध ललित निबंध हैं। निबंध का विशाल भंडार उन्होंने हिंदी साहित्य को दिया। उनके प्रमुख निबंध संग्रह हैं : 'विचार और वितर्क' (1945), 'अशोक के फूल' (1978), 'कुटज' (1960), 'आलोक पर्व' (1972) आदि। उनके निबंध में जहाँ विचारों की उन्मुक्तता और स्वच्छंदता है और उनके अपने व्यक्तित्व का प्रकाशन है, वहीं वे सांस्कृतिक इतिहास की भी रचना करते हैं। निबंधों के रचना प्रवाह में बहुत से विषय

अनायास ही आ जाते हैं। इतिहास, दर्शन, नृविज्ञान, विज्ञान आदि न जाने कितने विषयों को स्पर्श करते हुए उनके निबंध विचार और संवेदना का लालित्य प्रस्तुत करते हैं।

द्विवेदीजी के आलोचनात्मक साहित्य को निम्नलिखित क्रम में रखा जा सकता है। 'सूर साहित्य' नाम से आलोचना पुस्तक 1934 ई. में प्रकाशित हुई। 'कबीर' का प्रकाशन काल 1942 ई. है। 'साहित्य सहचर' 1949 में पुस्तक के रूप में सामने आई। 'कालीदास की लालित्य योजना' को 1960 में रचा गया। द्विवेदी जी के आलोचना लेखन की महत्वपूर्ण विशेषता उनकी दृष्टि की समग्रता है। साहित्य को वे मानवतावादी दृष्टि से देखते परखते हैं। उनकी सौन्दर्य दृष्टि का भवन विविध ललित कलाओं से परिपक्व होता है। साहित्य विश्लेषण में उनका संदर्भ भी यही है। सर्जनात्मक दृष्टि की संपूर्णता ही उनकी अलोचनात्मक दृष्टि की पूर्णता का आधार है।

नाथों और सिद्धों के साहित्य का भी उन्होंने गहन विवेचन किया था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओं के साहित्य के उनके विस्तृत अध्ययन ने हिंदी साहित्य की परंपरा को समझने का ठोस आधार दिया। इसीलिए हिंदी साहित्य के मूल उत्स को वे शोधपरक नजर से देख पाते हैं। हिंदी साहित्य के आरंभ में नाथपंथी, योगी, जैन मुनियों के साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान है। मध्यकाल पर उनकी प्रमुख पुस्तकें निम्नलिखित हैं : 'मध्यकालीन धर्म साधना' (1952), 'सहज साधना' (1954), और 'मध्ययकालीन बोध का स्वरूप' (1960)।

रवींद्रनाथ ठाकुर की जीवन दृष्टि और साहित्य का आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पर गहरा प्रभाव था। उन्होंने साहित्य में प्राचीन ग्रंथों का संपादन भी किया। नामवर सिंह के साथ उन्होंने 'संक्षिप्त पृथ्वी- राजा रासो' का संपादन, 'नाथ सिद्धों की वाणियाँ' और विश्वनाथ त्रिपाठी के साथ 'संदेश रासक' का संपादन किया।

रचनात्मक साहित्य में उन्होंने निबंध के अतिरिक्त उपन्यासों की रचना की। उनके उपन्यास ऐतिहासिक और पौराणिक कथानकों पर आधारित हैं। उनका बल तत्कालीन समाजों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की पुनर्रचना करना रहा है। भारत आरंभ से ही विभिन्न संस्कृतियों की संगम स्थली रहा है। इनके सम्मिलन से जो मानव संस्कृति विकसित हुई है, उसे उन्होंने अपने उपन्यासों के द्वारा जीवंत रूप दिया है। उनके उपन्यास हैं : 'बाणभट्ट की आत्मकथा (1947), 'चारु चंद्रलेख' (1963), 'पुनर्नवा' (1973) और 'अनामदास का पोथा' (1976)। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का अध्ययन आपने पाठ्यक्रम तीन में किया होगा।

रचना के बारे में

'कुटज' का रचनाकाल 1960 ई. है। निबंध लेखन द्विवेदीजी के सृजन की बुनियादी विधा है। उन्होंने निबंध की परंपरा को रचनात्मक स्वरूप प्रदान किया। 'कुटज' में उन्होंने एक पहाड़ी पौधे के माध्यम से जीवन के बारे में अत्यंत सार्थक बातें सहज रूप से कही हैं।

'कुटज' द्विवेदीजी का व्यक्तिपरक निबंध है। इस निबंध में एक पौधे के बहाने द्विवेदीजी ने कई कालों की सांस्कृतिक यात्रा की है। कुटज का मूल संदेश है, अपराजित रहो। 'कुटज' जिस काल की रचना है। उस काल में द्विवेदी जी को काशी विश्वविद्यालय की राजनीति का शिकार होना पड़ा था। उन्हें चंडीगढ़ जाना पड़ा था। वे इस पौधे के बहाने उन समझौतावादी और स्वार्थप्रेरित राजनीति करने वाले लोगों पर व्यंग्य करने से नहीं चूकते। 'कुटज' व्यक्तित्व की अबाध स्वतंत्रता का कायल है। उसमें मस्ती और आत्मविश्वास है जो जीवन के सहज प्रवाह में उसे मिला है।

द्विवेदीजी के रचनात्मक व्यक्तित्व का प्रकाशन उनके निबंधों में हुआ है। वे निबंध में विषय को उठाते हैं और सैकड़ों विषय मूर्तिमान हो उठते हैं। उनका यह निबंध मनुष्य के अनुभव को छूता है, उसको सांस्कृतिक परंपरा से परिचित कराता है। कुटज का महत्व आज के समाज में विशिष्ट है। मनुष्य को व्यवस्था ने इस तरह से लपेट लिया है कि आत्मविश्वास के साथ जीना मुश्किल होता जा रहा है। 'कुटज' हमें बताता है कि जड़ समाज में जड़ हो गई मान्यताओं के बीच कुल, गोत्र और नाम के महत्व को स्वीकारा जाता है। दुनिया के मतलबीपन को कुटज ठुकराता है। आज के समाज को इससे सीख लेनी चाहिए। भारत की संस्कृति मिलीजुली संस्कृति है। यहाँ जाति और धर्म के आधार पर जो राजनीति होती है उसमें कितना खोखलापन है। यह इस निबंध को पढ़ने से साफ हो जाता है। 'कुटज' की प्राण शक्ति है उसकी जिजीविषा जो चट्टानों को फाड़कार रस निचोड़ लेता है। आधुनिक मनुष्य में परिस्थिति से लड़ने वाली इसी क्षमता का ह्रास हुआ है। जीने का मतलब स्वार्थ नहीं लोक कल्याण होना चाहिए। जीवन से हार नहीं मानना यही कुटज की शक्ति है।

'कुटज' हिमालय की तराई में मिलने वाला पौधा है। उसका अध्ययन द्विवेदी जी साहित्य, संस्कृति, नृतत्व और इतिहास के संदर्भ में करते हैं। फिर उसे मानवीय जिजीविषा का प्रतीक बनाकर पेश करते हैं। कुटज को मानवी रूप देते हुए वे उसके साथ आत्मीय संबंध स्थापित करते हैं। कुटज उनके सोच और उनकी भावना से अलग नहीं रह जाता है, अपितु उनका प्रतिरूप ही दिखाई पड़ने लगता है । कुटज को माध्यम बनाकर वे साहित्य और संस्कृति की जीवंत परंपरा में पाठकों को ले जाते हैं। समकालीन जीवन में व्याप्त विसंगतियों के बीच 'कुटज' के माध्यम से मानवीय दृढ़ता के महत्व को भी प्रतिपादित करते हैं। भारतीय संस्कृति की विविधता और विशुद्धतावादी दृष्टिकोण के अंतर्विरोध को

उजागर करते हैं। सुख-दुख, राग-द्वेष से भिन्न अविचल भाव से जीवन को जीना यही कुटज का संदेश है। अपराजित मानवीय मनोवृत्ति के शाश्वत और कठोर सत्य को बड़े सहज रूप में स्वीकारा गया है।

'कुटज' ललित निबंध का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस निबंध में विचार और भाव को व्यक्त करने पर ही नहीं उसकी प्रस्तुति के सौंदर्य पर भी विशेष ध्यान दिया गया है। द्विवेदीजी की निबंध शैली में गद्य भाषा का कलात्मक उत्कर्ष देखने को मिलता है। पांडित्यपूर्ण बातों के बावजूद उनकी बातें न तो जटिल होती हैं और न ही बोझिल। भाषा और शैली का सौंदर्य निबंध को उत्कृष्ट बनाता है।

शब्दावली

शोभा निकेतन : शोभा का घर
महोदधि : समुद्र
रत्नाकर : रत्न का भंडार - समुद्र
पाद-देश : देश के निचले हिस्से
लटियायी : बड़े-बड़े बाल, बालों का गुच्छा
अन्तर्निरूद्ध : भीतर से रुका हआ, आंतरिक रूप से कठोर
रक्ताभ रेती : लाल बालू के कण
गह्वर : गहराई
कचारा : निचोड़ (फीचा हुआ और निचोड़ा हुआ अर्थात् जिस पर कई बार विचार-विमर्श हो चुका है।)
सुस्मिता : सुंदर मुस्कान वाली
वन प्रभा : वन की शोभा
गिरिकांता : पर्वत की पत्नी
शुभ्रकिरीटनी : उज्ज्वल मुकुट धारण करने वाली
मदोद्धता : मद में पागल
अलकावतंसा : घुंघराले बालों के समान
अकुतोभय : जिसे किसी से भय न हो
विरुद : प्रशंसा सूचक
कूटोल्लास : पर्वत का उल्लास
स्नात : नहाया हुआ या सराबोर
कुसुम स्तबकों : फूलों का गुच्छा

शापेनास्तंगमितमहिमा : शाप में ही जिसकी महिमा निहित हो कलिदास के 'मेघदूत' का संदर्भ छुपा है। विरही यक्ष ने विरहिणी को मेघ के द्वारा अपना संवाद रामगिरि तक पहुँचाया था।
अर्घ्य : पूजनीय या पूजा में देने योग्य वस्तु
उपहत : घायल
बकुल : मौलसिरी
अनत्युच्च : जो बहुत ऊँचा न हो
नीलोत्पल : नीलकमल
गिरि कांतार : पर्वत का दुर्गम पथ
दुरन्त : कठिन या प्रबल
दलित द्राक्षा : कुचला हुआ अंगूर
शान्ति पर्व : महाभारत की लड़ाई के उपरांत का अंश जहाँ पितामह भीष्म का उपदेश संकलित है।
बड़भागी : बडे भाग्यवाला
चारुस्मित : सुंदर मुस्कान
मनस्वी - बुद्धिमान
सिलवाँ लेवी :प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक

व्याख्या के लिए प्रमुख अंश

1. कहीं-कहीं अज्ञात-नाम-गोत्र, झाड़-झंखाड़ और बेहया-से पेड़ खड़े अवश्य दिख जाते हैं, पर और कोई हरियाली नहीं। दूब तक सूख गयी है। काली-काली चट्टानें और बीच-बीच में शुष्कता की अंतर्निरुद्ध सत्ता का इजहार करने वाली रक्ताभ रेती! रस कहाँ है? ये जो ठिगने-से लेकिन शानदार दरख्त गर्मी की भयंकर मार खा-खाकर और भूख-प्यास की निरंतर चोट सह-सहकर भी जी रहे हैं, इन्हें क्या कहूँ? सिर्फ जी ही नहीं रहे हैं, हँस भी रहे हैं। बेहया हैं क्या? या मस्तमौला हैं? कभी-कभी जो लोग ऊपर से बेहया दिखते हैं, उनकी जड़ें काफी गहरी पैठी रहती हैं। ये भी पाषाण की छाती फाड़कर न जाने किस अतल गह्वर से अपना भोग्य खींच लाते हैं।

2. नाम इसलिए बड़ा नहीं है कि वह नाम है। वह इसलिए बड़ा होता है कि उसे सामाजिक स्वीकृति मिली होती है। रूप व्यक्ति-सत्य है, नाम समाज-सत्य। नाम उस पद को कहते हैं जिस पर समाज की मुहर लगी होती है। आधुनिक शिक्षित लोग जिसे 'सोशल सैंक्सन' कहा करते हैं। मेरा मन नाम के लिए व्याकुल है,

समाज द्वारा स्वीकृत, इतिहास द्वारा प्रमाणित, समष्टि-मानव की चित्त-गंगा में स्नात!

3. यह जो मेरे सामने कुटज का लहराता पौधा खड़ा है वह नाम और रूप दोनों में अपनी अपराजेय जीवनी-शक्ति की घोषणा कर रहा है। इसीलिए यह इतना आकर्षक है। नाम है कि हजारों वर्ष से जीता चला आ रहा है। कितने नाम आये और गए। दुनिया उनको भूल गयी, वे दुनिया को भूल गए। मगर कुटज है कि संस्कृत की निरंतर स्फीयमान शब्दराशि में जो जमके बैठा सो बैठा ही है। और रूप की तो बात ही क्या है! बलिहारी है इस मादक शोभा की। चारों ओर कुपित यमराज के दारुण निःश्वास के समान धधकती लू में यह हरा भी है और भरा भी है, दुर्जन के चित्त से भी अधिक कठोर पाषाण की कारा में रुद्ध अज्ञात जलस्रोत से बरबस रस खींचकर सरस बना हुआ है।

4. याज्ञवल्क्य ने जो बात धक्कामार ढंग से कह दी थी वह अंतिम नहीं थी। वे 'आत्मनः' का अर्थ कुछ और बड़ा करना चाहते थे। व्यक्ति की 'आत्मा' केवल व्यक्ति तक सीमित नहीं है, वह व्यापक है। अपने में संब और सबमें आप - इस प्रकार की एक समष्टि-बुद्धि जब तक नहीं आती तब तक पूर्ण सुख का आनंद भी नहीं मिलता। अपने-आपको दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर जब तक 'सर्व' के लिए निछावर नहीं कर दिया जाता तब तक 'स्वार्थ' खण्ड-सत्य है, वह मोह को बढ़ावा देता है, तृष्णा को उत्पन्न करता है और मनुष्य को दयनीय-कृपण-बना देता है। कार्पण्य दोष से जिसका स्वभाव उपहत हो गया है, उसकी दृष्टि म्लान हो जाती है। वह स्पष्ट नहीं देख पाता। वह स्वार्थ भी नहीं समझ पाता, परमार्थ तो दूर की बात है।

5. कुटज क्या केवल जी रहा है। वह दूसरे के द्वार पर भीख माँगने नहीं जाता, कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नहीं हो जाता, नीति और धर्म का उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नहीं चाटता फिरता, दूसरों को अवमानित करने के लिए ग्रहों की खुशामद नहीं करता। आत्मोन्नति हेतु नीलम नहीं धारण करता, अँगूठियों की लड़ी नहीं पहनता, दाँत नहीं निपोरता, बगलें नहीं झाँकता। जीता है और शान से जीता है - काहे वास्ते, किस उद्देश्य से? कोई नहीं जानता। मगर कुछ बड़ी बात है। स्वार्थ के दायरे से बाहर की बात है।

व्याख्या का उदाहरण

दुरंत जीवन-शक्ति है। कठिन उपदेश है। जीना भी एक कला है। लेकिन कला ही नहीं, तपस्या है। जियो तो प्राण ढाल दो जिन्दगी में, मन ढाल दो जीवनरस के उपकरणों में! ठीक है। लेकिन क्यों? क्या जीने के लिए जीना ही बड़ी बात है? सारा संसार अपने मतलब के लिए ही तो जी रहा है। याज्ञवल्क्य बहुत बड़े ब्रह्मवादी ऋषि थे। उन्हों अपनी पत्नी को विचित्र भाव से समझाने की कोशिश की कि सब कुछ स्वार्थ के लिए है। पुत्र के लिए पुत्र प्रिय नहीं होता, पत्नी के लिए पत्नी प्रिया नहीं होती - सब अपने मतलब के लिए प्रिय होते हैं - 'आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति! ' विचित्र नहीं है यह तर्क? संसार में जहाँ कहीं प्रेम है, सब मतलब के लिए।

व्याख्या-संकेत

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी शुक्लोत्तर आलोचना के प्रमुख लेखक हैं। आलोचक और रचनाकार दोनों की संश्लिष्ट अनुभूति से उनका साहित्यिक व्यक्तित्व निर्मित हुआ है। उनकी साहित्यिक अभिरूचि क्लासिकीय है जिसमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर की स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति का भी प्रभाव है। उनका मानना है कि ज्ञान सिर्फ शास्त्र में नहीं होता, जो कुछ और जैसा कुछ हम जीते हैं उसका सही ज्ञान भी जरूरी है। उनके निबंधों में मानव संस्कृति के विविध रूपों का उन्मुक्त सौंदर्य उजागर हुआ है। 'कुटज' सहित द्विवेदीजी के निबंधों पर विचार करते हुए इस बात को ध्यान में रखना चाहिए।

'कुटज ' निबंध में एक कुटज नाम के पहाड़ी पौधे के बहाने कई युगों की सांस्कृतिक यात्रा लेखक करता है। भारतीय संस्कृति की उन मूलभूत विशेषताओं से वह हमें परिचित कराता है जिसे कि आज भुलाया जा रहा है। मानवीय जिजीविषा और मनुष्य की जययात्रा का सूक्ष्म विवेचन इस निबंध में किया गया है।

कुटज पत्थर को फोड़कर धरती में छिपे रस को ग्रहण कर अपना जीवन सुरक्षित रखता है। उसके लिए जीवन जीना आसान नहीं है। यही स्थिति मनुष्य की है। मनुष्य का जीवन भी आसान नहीं है। उसमें घुमाव, मोड़ और चौराहे हैं। उसकी गति और दुनियादारी के बीच निजी स्वच्छंदता को बचाना आसान नहीं होता है। जीवन कला है कला का प्रयोजन और विज्ञान के प्रयोजन में अंतर है। विज्ञान एक निश्चित विधि और पद्धति द्वारा निष्कर्ष पर पहुँचता है। कला में निष्कर्ष होता ही नहीं है। आज का व्यक्ति जीवन को भी वैज्ञानिक प्रविधि से, कृत्रिमता से जीना चाहता है। स्वार्थों का समीकरण बनाकर जीना चाहता है। ऐसा जीवन चाहे सफल हो परंतु मानव का ध्येय नहीं हो सकता है। खुलेपन और स्वतंत्रता से जीना ही जीना है। उसी में जीवन अपना नाम सार्थक करता है। मस्ती और स्वच्छंदता से रस प्राप्त कर लोक कल्याण के लिए जीना ही मानव का उद्देश्य है।

मतलबी संसार अपने स्वार्थ से अलग कुछ नहीं सोचता। स्वार्थी व्यक्ति संकीर्ण दुनिया के बीच रहने और अपने मतलब को साधने में लगा रहता है।

द्विवेदीजी एक दृष्टांत के माध्यम से अपनी बात स्पष्ट करते हैं। याज्ञवल्क्य का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि स्वार्थ से वशीभूत होकर मानव प्रेम करता है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है 'सुर नर मुनि सबके यह रीति। सवास्थ लागि करहिं सब परिति।' तात्पर्य यह है कि मनुष्य की प्रवृत्ति अपने स्वार्थ के लिए जीने की होती है। अपने लिए ही वह दूसरों से भी प्रेम करता है। लेकिन द्विवेदीजी इस मत से सहमत नहीं हो पाते। वे प्रश्न करते हैं कि क्या मतलब के लिए ही लोग एक दूसरे से प्रेम करते हैं? यह ज़रूर है कि स्वार्थ इतना अधिक हो गया है कि मनुष्य ने लोक कल्याण की बात सोचना ही छोड़ दिया है। त्याग जिससे मानव दिव्यता पाता है और जो मानवीय स्वार्थ पर एक अंकुश है उसकी चिंता लोगों ने छोड़ दी है। प्रेम के महत्व को भी वह भूल रहा है। ये कुछ ऐसे भाव हैं जो संसार में मनुष्य को मनुष्य बनाये रखने के लिए आवश्यक हैं। जिसमें कुछ भी खोने की शक्ति नहीं वह अपने आत्म स्वरूप को नहीं पहचान सकता। दुनिया की हर चीज उपभोग और आनंद के लिए है तो समाज की न तो भौतिक उन्नति संभव है और न ही आत्मिक उन्नति। उपभोक्तावादी समाज में दर्शन, साहित्य और संस्कृति की उन्नति भी अवरुद्ध हो जाती है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उक्त गद्यांश में मुख्य रूप से इसी बात पर बल दिया है। आप उक्त अंश की व्याख्या करते हुए इनको ध्यान में रखें।

उक्त कथन में द्विवेदीजी ने वर्तमान समाजों की उस नैतिक दुविधा को वाणी दी है, जिसको सुलझाए बिना मानव की प्रगति असंभव है। इसके लिए वे अपनी बात अत्यंत सुलझे हुए रूप में, सहज ढंग से, लेकिन विद्वतापूर्ण और कथन को सौंदर्यपरक बनाते हुए प्रस्तुत करते हैं। यहाँ आप भाषा और शैली की विशेषताओं को भी पहचानने का प्रयत्न करें।

सहायक पुस्तकें

डॉ. शिव प्रसाद सिंह : शांतिनिकेतन से शिवालिक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
डॉ. नामवर सिंह : दूसरी परंपरा की खोज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

मूल पाठ : निबंध

कुटज

कहते हैं, पर्वत शोभा-निकेतन होते हैं। फिर हिमालय का तो कहना ही क्या! पूर्व ओर अपर समुद्र-महोदधि और रत्नाकार-दोनों को दोनों भुजाओं से थाहता हुआ हिमालय 'पृथ्वी का मानदण्ड' कहा जाए तो गलत क्या है? कालिदास ने ऐसा ही कहा था। इसी के पाद-देश में यह श्रृंखला दूर तक लोटी हुई है, लोग इसे शिवालिक श्रृंखला कहते हैं। 'शिवालिक' का क्या अर्थ है? 'शिवालिक' या शिव के जटाजूट का निचला हिस्सा तो नहीं है। लगता तो ऐसा ही है। शिव की लटियायी जटा ही इतनी सूखी, नीरस और कठोर हो सकती है। वैसे, अलकनंदा का स्रोत यहाँ से काफी दूरी पर है, लेकिन शिव का अलक तो दूर-दूर तक छितराया ही रहता होगा। सम्पूर्ण हिमालय को देखकर ही किसी के मन में समाधिस्थ महादेव की मूर्ति स्पष्ट हुई होगी। उसी समाधिस्थ महादेव के अलक-जाल के निचले हिस्से का प्रतिनिधित्व यह गिरि-श्रृंखला कर रही होगी। कहीं-कहीं अज्ञात-नाम-गोत्र, झाड़-झंखाड़ और बेहया-से पेड़ खड़े अवश्य दिख जाते हैं, पर और कोई हरियाली नहीं। दूब तक सूख गयी है। काली-काली चट्टानें और बीच-बीच में शुष्कता की अंतर्निरुद्ध सत्ता का इजहार करने वाली रक्ताभ रेती! रस कहाँ है? ये जो ठिंगने-से लेकिन शानदार दरख्त गर्मी की भयंकर मार खा-खाकर और भूख-प्यास की निरंतर चोट सह-सहकर भी जी रहे हैं, इन्हें क्या कहूँ? सिर्फ जी ही नहीं रहे हैं, हँस भी रहे हैं। बेहया हैं क्या? या मस्तमौला हैं? कभी-कभी जो लोग ऊपर से बेहया दिखते हैं, उनकी जड़ें काफी गहरी पैठी रहती हैं। ये भी पाषाण की छाती फाड़कर न जाने किस अतल गह्वर से अपना भोग्य खींच लाते हैं।

शिवालिक की सूखी नीरस पहाड़ियों पर मुस्कराते हुए ये वृक्ष द्वन्द्वातीत हैं, अलमस्त हैं। मैं किसी का नाम नहीं जानता, कुल नही जानता, शील नहीं जानता, पर लगता है, ये जैसे मुझे अनादि काल से जानते हैं। इन्हीं में एक छोटा-सा बहुत ही ठिगना - पेड़ है, पत्ते चौड़े भी हैं, बड़े भी हैं। फूलों से तो ऐसा लदा है कि कुछ पूछिए नहीं। अजीब-सी अदा है, मुस्कराता जान पड़ता है। लगता है, पूछ रहा है कि क्या तुम मुझे भी नहीं पहचानते? पहचानता तो हूँ, अवश्य पहचानता हूँ। लगता है, बहुत बार देख चुका हूँ। पहचानता हूँ उजाड़ के साथी, तुम्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ। नाम भूल रहा हूँ। प्रायः भूल जाता हूँ। रूप देखकर प्रायः पहचान जाता हूँ, नाम नहीं याद आता। पर नाम ऐसा है कि जब तक रूप के पहले ही हाजिर न हो जाय तब तक रूप की पहचान अधूरी रह जाती है। भारतीय पण्डितों का सैकड़ों बार का कचारा-निचोड़ा प्रश्न सामने आ गया - रूप मुख्य है या नाम? नाम बड़ा है या रूप? पद पहले है या पदार्थ? पदार्थ सामने है, पद नहीं सूझ

रहा है। मन व्याकुल हो गया। स्मृतियों के पंख फैलाकर सुदूर अतीत के कोनों में झाँकता रहा। सोचता हूँ इसमें व्याकुल होने की क्या बात है? नाम में क्या रखा है - ह्वाट्स देअर इन ए नेम! नाम की ज़रूरत ही हो तो सौ दिये जा सकते हैं। सुस्मिता, गिरिकान्ता, वनप्रभा, शुभ्रकिरीटिनी, मदोद्धता, विजितातपा, अलकावतंसा, बहुत-से नाम हैं! या फिर पौरुष-व्यंजक नाम भी दिये जा सकते हैं - अकुतोभय, गिरिगौरव, कूटोल्लास, अपराजित, धरतीधकेल, पहाड़फोड़, पातालभेद! पर मन नहीं मानता। नाम इसलिए बड़ा नहीं है कि वह नाम है। वह इसलिए बड़ा होता है कि उसे सामाजिक स्वीकृति मिली होती है। रूप व्यक्ति-सत्य है, नाम समाज-सत्य। नाम उस पद को कहते हैं जिस पर समाज की मुहर लगी होती है। आधुनिक शिक्षित लोग जिसे 'सोशल सैंक्सन' कहा करते हैं। मेरा मन नाम के लिए व्याकुल है, समाज द्वारा स्वीकृत इतिहास द्वारा प्रमाणित, समष्टि-मानव की चित्त-गंगा में स्नात!

इस गिरिकूट-बिहारी का नाम क्या है? मन दूर-दूर तक उड़ रहा है - देश में और काल में - मनोरथानामगतिर्नविद्यते! अचानक याद आया - अरे, यह तो कूटज है! संस्कृत साहित्य का बहुत परिचित, किंतु कवियों द्वारा अवमानित, यह छोटा-सा शानदार वृक्ष 'कुटज' है। 'कूटज' कहा गया होता तो कदाचित् ज्यादा अच्छा होता। पर नाम इसका चाहे कुटज ही हो, विरुद तो निस्संदेह 'कूटज' होगा। गिरिकूट पर उत्पन्न होने वाले इस वृक्ष को 'कूटज' कहने में विशेष आनंद मिलता है। बहरहाल, यह कूटज-कुटज है, मनोहर कुसुम-स्तबकों से झबराया, उल्लास-लोल चारुस्मित कुटज! जी भर आया। कालिदास ने 'आषाढ़स्य प्रथम-दिवसे' रामगिरि पर यक्ष को जब मेघ की अभ्यर्थना के लिए नियोजित किया तो कम्बख्त को ताजे कुटज पुष्पों की अंजलि देकर ही संतोष करना पड़ा - चम्पक नहीं, बकुल नहीं, नीलोत्पल नहीं, मल्लिका नहीं, अरविन्द नहीं - फकत कुटज के फूल! यह और बात है कि आज आषाढ़ का नहीं, जुलाई का पहला दिन है। मगर फर्क भी कितना है। बार-बार मन विश्वास करने को उतारू हो जाता है कि यक्ष बहाना मात्र है, कालिदास ही कभी 'शापेनास्तंगमितमहिमा' होकर रामगिरि पहुँचे थे, अपने ही हाथों इस कुटज पुष्प का अर्घ्य देकर उन्होंने मेघ की अभ्यर्थना की थी। शिवालिक की इस अनत्युच्च पर्वत-श्रृंखला की भाँति रामगिरि पर भी उस समय और कोई फूल नहीं मिला होगा। कुटज ने उनके सन्तप्त चित्त को सहारा दिया था - बड़भागी फूल है यह! धन्य हो कुटज, तुम 'गाढ़े के साथी' हो। उत्तर की ओर सिर उठाकर देखता हूँ, सुदूर तक ऊँची काली पर्वत-श्रृंखला छायी हुई है और एकाध सफेद बादल के बच्चे उससे लिपटे खेल रहे हैं। मैं भी इन पुष्पों का अर्घ्य उन्हें चढ़ा दूँ। पर काहे वास्ते? लेकिन बुरा भी क्या है?

कुटज के ये सुंदर फूल बहुत बुरे तो नहीं है। जो कालिदास के काम आया हो उसे ज्यादा इज्जत मिलनी चाहिए। मिली कम है। पर इज्जत तो नसीब की बात है। रहीम को मैं बड़े आदर के साथ स्मरण करता हूँ। दरियादिल आदमी थे पाया सो लुटाया। लेकिन दुनिया है कि मतलब से मतलब है, रस चूस लेती है, छिलका और गुठली फेंक देती है। सुना है, रस चूस लेने के बाद रहीम को भी फेंक दिया गया था। एक बादशाह ने आदर के साथ बुलाया, दूसरे ने फेंक दिया! हुआ ही करता है। इससे रहीम का मोल घट नहीं जाता। उनकी फक्कड़ाना मस्ती कहीं गयी नहीं। अच्छे-भले कद्रदान थे। लेकिन बड़े लोगों पर भी कभी-कभी ऐसी वितृष्णा सवार होती है कि गलती कर बैठते हैं। मन खराब रहा होगा, लोगों की बेरुखी और बेकद्रदानी से मुरझा गए होंगे - ऐसी ही मनःस्थिति में उन्होंने बिचारे कुटज को भी एक चपत लगा दी। झुँझलाए थे, कह दिया :

वे रहीम अब बिरछ कहँ, जिनकर छाँह गँभीर;
बागन बिच-बिच देखियत, सेंहुड़ कुटज करीर।

गोया कुटज अदना-सा 'बिरछ' हो। 'छाँह' ही क्या बड़ी बात है, फूल क्या कुछ भी नहीं? छाया के लिए न सही, फूल के लिए तो कुछ सम्मान होना चाहिए। मगर कभी-कभी कवियों का भी 'मूड' खराब हो जाया करता है। वे भी गलत-बयानी के शिकार हो जाया करते हैं। फिर बागों से गिरिकूट-बिहारी कुटज का क्या तुक है?

कुटज अर्थात् जो कुट से पैदा हुआ हो। 'कुट' घड़े को भी कहते हैं, घर को भी कहते हैं। कुट अर्थात् घड़े से उत्पन्न होने के कारण प्रतापी अगस्त्य मुनि भी 'कुटज' कहे जाते हैं। घड़े से तो क्या उत्पन्न हुए होंगे। कोई और बात होगी। संस्कृत में 'कुटहारिका' और 'कुटकारिका' दासी को कहते हैं। क्यों कहते हैं? 'कुटिया' या 'कुटीर' शब्द भी कदाचित् इसी शब्द से संबद्ध हैं। क्या इस शब्द का अर्थ घर ही है। घर में काम-काज करने वाली दासी कुटकारिका और कुटहारिका कही ही जा सकती है। एक जरा गलत ढंग की दासी 'कुटनी' भी कही जा सकती है। संस्कृत में उसकी गलतियों को थोड़ा अधिक मुखर बनाने के लिए उसे 'कुट्टनी' कह दिया गया है। अगस्त्य मुनि भी नारदजी की तरह दासी के पुत्र थे क्या? घड़े में पैदा होने का तो कोई तुक नहीं है, न मुनि कुटज के सिलसिले में, न फूल कुटज के। फूल गमले में होते अवश्य हैं, पर कुटज तो जंगल का सैलानी है। उसे घड़े या गमले से क्या लेना-देना? शब्द विचारोत्तेजक अवश्य हैं। कहाँ से आया? मुझे तो इसी में संदेह है कि यह आर्यभाषाओं का शब्द है भी या नहीं। एक भाषाशास्त्री किसी संस्कृत शब्द को एक से अधिक रूप में प्रचलित पाते थे तो तुरंत उसकी कुलीनता पर शक कर बैठते थे। संस्कृत में 'कुटज' रूप भी मिलता है और 'कुटच' भी। मिलने को तो 'कूटज' भी मिल जाता है। तो यह शब्द किस जाति का है? आर्य जाति का तो नहीं जान पड़ता। सिलवाँ लेवी कह गए हैं

कि संस्कृत भाषा में फूलों, वृक्षों और खेत-बागबानी के अधिकांश शब्द आग्नेय भाषा-परिवार के हैं। यह भी वहीं का तो नहीं है। एक जमाना था जब आस्ट्रेलिया और एशिया के महाद्वीप मिले हुए थे, फिर कोई भयंकर प्राकृतिक विस्फोट हुआ और ये दोनों अलग हो गए। उन्नीसवीं शताब्दी के भाषा-विज्ञानी पण्डितों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि आस्ट्रेलिया के सुदूर जंगलों में बसी जातियों की भाषा एशिया में बसी हुई कुछ जातियों की भाषा से सम्बद्ध है। भारत की अनेक जातियाँ वह भाषा बोलती है, जिनमें सन्थाल, मुण्डा आदि भी शामिल हैं। शुरू-शुरू में इस भाषा का नाम आस्ट्रो-एशियाटिक दिया गया था। दक्षिण-पूर्व या अग्निकोण की भाषा होने के कारण इसे आग्नेय-परिवार भी कहा जाने लगा है। अब हम लोग भारतीय जनता के वर्ग-विशेष को ध्यान में रखकर और पुराने साहित्य का स्मरण करके इसे कोल-परिवार की भाषा कहने लगे हैं। पण्डितों ने बताया है कि संस्कृत भाषा के अनेक शब्द, जो अब भारतीय संस्कृति के अविच्छेद्य अंग बन गए हैं, इसी श्रेणी की भाषा के हैं। कमल, कुङ्मल, कम्बु, कम्बल, ताम्बूल आदि शब्द ऐसे ही बताए जाते हैं। पेड़-पौधों, खेती के उपकरणो और औज़ारों के नाम भी ऐसे हैं। 'कुटज' भी हो तो क्या आश्चर्य? संस्कृत भाषा ने शब्दों के संग्रह में कभी छूत नही मानी। न जाने किस-किस नस्ल के कितने शब्द उसमें आकर अपने बन गए हैं। पण्डित लोग उसकी छान-बीन करके हैरान होते हैं। संस्कृत सर्वग्रासी भाषा है।

यह जो मेरे सामने कुटज का लहराता पौधा खड़ा है वह नाम और रूप दोनों में अपनी अपराजेय जीवनी-शक्ति की घोषणा कर रहा है। इसीलिए यह इतना आकर्षक है। नाम है कि हजारों वर्ष से जीता चला आ रहा है। कितने नाम आये और गये। दुनिया उनको भूल गयी, वे दुनिया को भूल गए। मगर कुटज है कि संस्कृत की निरंतर स्फीयमान शब्दराशि में जो जमके बैठा सो बैठा ही है। और रूप की तो बात ही क्या है! बलिहारी है इस मादक शोभा की। चारों ओर कुपित यमराज के दारुण निःश्वास के समान धधकती लू में यह हरा भी है और भरा भी है, दुर्जन के चित्त से भी अधिक कठोर पाषाण की कारा में रुद्ध अज्ञात जलस्रोत से बरबस रस खींचकर सरस बना हुआ है। और मूर्ख के मस्तिष्क से भी अधिक सूने गिरि कान्तार मे भी ऐसा मस्त बना है कि ईर्ष्या होती है। कितनी कठिन जीवनी-शक्ति है। प्राण ही प्राण को पुलकित करता है, जीवनी-शक्ति ही जीवनी-शक्ति को प्रेरणा देती है। दूर पर्वतराज हिमालय की हिमाच्छादित चोटियाँ हैं, वहीं कहीं भगवा महादेव समाधि लगाकर बैठे होंगे, नीचे सपाट पथरीली ज़मीन का मैदान है, कहीं-कहीं पर्वतनन्दिनी सरिताएँ आगे बढ़ने का रास्ता खोज रही होंगी - बीच में यह चट्टानों की ऊबड़-खाबड़ जटाभूमि है - सूखी, नीरस, कठोर! यहीं आसन मारकर बैठे हैं मेरे चिरपरिचित दोस्त कुटज। एक बार अपने झबरीले मूर्धा को हिलाकर समाधिनिष्ठ महादेव को पुष्पस्तबक का उपहार चढ़ा देते हैं और एक बार नीचे की ओर अपनी पाताल-भेदी जड़ों को दबाकर गिरिनन्दिनी सरिताओं को संकेत से बता देते हैं कि रस का

स्रोत कहाँ हैं। जीना चाहते हो? कठोर पाषाण को भेदकर, पाताल की छाती चीरकर अपना भोग्य संग्रह करो; वायुमण्डल को चूसकर, झंझा-तूफान को रगड़कर, अपना प्राप्य वसूल लो; आकाश को चूमकर अवकाश की लहरी में झूमकर उल्लास खींच लो। कुटज का यही उपदेश है :

भित्वा पाषाणपिठरं छित्वा प्राभञ्जनी व्यथाम्
पीत्वा पातालपानीयं कुटजश्चुम्बते नभः!

दुरन्त जीवन-शक्ति है। कठिन उपदेश है। जीना भी एक कला है। लेकिन कला ही नहीं, तपस्या है। जियो तो प्राण ढाल दो जिंदगी में, मन ढाल दो जीवनरस के उपकरणों में! ठीक है। लेकिन क्यों? क्या जीने के लिए जीना ही बड़ी बात है? सारा संसार अपने मतलब के लिए ही तो जी रहा है। याज्ञवल्क्य बहुत बड़े ब्रह्मवादी ऋषि थे। उन्होंने अपनी पत्नी को विचित्र भाव से समझाने की कोशिश की कि सब कुछ स्वार्थ के लिए है। पुत्र के लिए पुत्र प्रिय नहीं होता, पत्नी के लिए पत्नी प्रिया नहीं होती - सब अपने मतलब के लिए प्रिय होते हैं - 'आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति!' विचित्र नहीं है यह तर्क? संसार में जहाँ कहीं प्रेम है, सब मतलब के लिए। सुना है, पश्चिम के हॉब्स और हेल्वेशियस जैसे विचारकों ने भी ऐसी ही बात कही है। सुन के हैरानी होती है। दुनिया में त्याग नहीं है, प्रेम नहीं है, परार्थ नहीं है, परमार्थ नहीं है - है केवल प्रचण्ड स्वार्थ। भीतर की जिजीविषा - जीते रहने की प्रचण्ड इच्छा - ही अगर बड़ी बात हो तो फिर यह सारी बड़ी-बड़ी बोलियाँ, जिनके बल पर दल बनाये जाते हैं, शत्रुमर्दन का अभिनय किया जाता है, देशोद्धार का नारा लगाया जाता है, साहित्य और कला की महिमा गायी जाती है, झूठ है। इसके द्वारा कोई-न-कोई अपना बड़ा स्वार्थ सिद्ध करता है। लेकिन अंतरतर से कोई कह रहा है, ऐसा सोचना गलत ढंग से सोचना है। स्वार्थ से भी बड़ी कोई-न-कोई बात अवश्य है, जिजीविषा से भी प्रचण्ड कोई-न-कोई शक्ति अवश्य है। क्या है?

याज्ञवल्क्य ने जो बात धक्कामार ढंग से कह दी थी वह अंतिम नहीं थी। वे 'आत्मनः' का अर्थ कुछ और बड़ा करना चाहते थे। व्यक्ति की 'आत्मा' केवल व्यक्ति तक सीमित नहीं है, वह व्यापक है। अपने में सब और सबमें आप - इस प्रकार की एक समष्टि-बुद्धि जब तक नहीं आती तब तक पूर्ण सुख का आनंद भी नहीं मिलता। अपने-आपको दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर जब तक 'सर्व' के लिए निछावर नहीं कर दिया जाता तब तक 'स्वार्थ' खण्ड-सत्य है, वह मोह को बढ़ावा देता है, तृष्णा को उत्पन्न करता है और मनुष्य को दयनीय-कृपण-बना देता है। कार्पण्य दोष से जिसका स्वभाव उपहत हो गया है, उसकी दृष्टि म्लान हो जाती है! वह स्पष्ट नहीं देख पाता। वह स्वार्थ भी नहीं समझ पाता, परमार्थ तो दूर की बात है।

कुटज क्या केवल जी रहा है। वह दूसरे के द्वार पर भीख माँगने नहीं जाता, कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नहीं हो जाता, नीति और धर्म का उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नहीं चाटता फिरता, दूसरों को अवमानित करने के लिए ग्रहों की खुशामद नहीं करता। आत्मोन्नति हेतु नीलम नहीं धारण करता, अँगूठियों की लड़ी नहीं पहनता, दाँत नहीं निपोरता, बगलें नहीं झाँकता। जीता है और शान से जीता है - काहे वास्ते, किस उद्देश्य से? कोई नहीं जानता। मगर कुछ बड़ी बात है। स्वार्थ के दायरे से बाहर की बात है। भीष्म पितामह की भाँति अवधूत की भाषा में कह रहा है : 'चाहे सुख हो या दुख, प्रिय हो या अप्रिय, जो मिल जाय उसे शान के साथ, हृदय से बिल्कुल अपराजित होकर, सोल्लास ग्रहण करो। हार मत मानो! '

सुखं वा यदि वा दुःखं वा यदि वाऽप्रियम्
प्राप्तं प्राप्तमुपासीतं हृदयेनपराजितः । - शान्तिपर्व, 25/26

हृदयेनापराजितः! कितना विशाल वह हृदय होगा जो सुख से, दुःख से, प्रिय से, अप्रिय से विचलित न होता होगा। कुटज को देखकर रोमांच हो आता है। कहाँ से मिली है यह अकुतोभया वृति, अपराजित स्वभाव, अविचल जीवन-दृष्टि!

जो समझता है कि वह दूसरों का उपकार कर रहा है वह अबोध है, जो समझता है कि दूसरे उसका अपकार कर रहे हैं वह भी बुद्धिहीन है। कौन किसका उपकार करता है, कौन किसका अपकार कर रहा है? मनुष्य जी रहा है, केवल जी रहा है; अपनी इच्छा से नहीं, इतिहास-विधाता की योजना के अनुसार। किसी को उससे सुख मिल जाए, बहुत अच्छी बात है नहीं मिल सका, कोई बात नहीं; परंतु उसे अभिमान नहीं होना चाहिए। सुख पहुँचाने का अभिमान यदि गलत है, तो दुःख पहुँचाने का अभिमान तो नितरां गलत है।

दुख और सुख तो मन के विकल्प हैं। सुखी वह है जिसका मन वश में है, दुःखी वह है जिसका मन परवश है। परवश होने का अर्थ है खुशामद करना, दाँत निपोरना, चाटुकारिता, हाँ-हजूरी। जिसका मन अपने वश में नहीं है वही दूसरे के मन का छन्दावर्तन करता है, अपने को छिपाने के लिए मिथ्या आडम्बर रचता है, दूसरों को फँसाने के लिए जाल बिछाता है। कुटज इन सब मिथ्याचारों से मुक्त है। वह वशी है। वह वैरागी है। राजा जनक की तरह संसार में रहकर, सम्पूर्ण भोगों को भोगकर भी उनसे मुक्त है। जनक की ही भाँति वह घोषणा करता है : 'मैं स्वार्थ के लिए अपने मन को सदा दूसरे के मन में घुसाता नहीं फिरता,- इसलिए मैं मन को जीत सका हूँ, उसे वश में कर सका हूँ' :

नाहमात्मार्थमिच्छामि मनोनित्यं मनोन्तरे।
मनो मे निर्जितं तस्मात् वशे तिष्ठति सर्वदा।

कुटज अपने मन पर सवारी करता है, मन को अपने पर सवार नहीं होने देता। मनस्वी मित्र, तुम धन्य हो!

6. डॉ. राम विलास शर्मा और 'संस्कृति और जातीयता'

जीवन परिचय

डॉ. रामविलास शर्मा का जन्म 10 अक्टूबर 1912 को उन्नाव जिले के एक छोटे से ग्राम ऊँचगाँव सानी में हुआ था। उनका बचपन गाँव में बीता। गाँव और अंचल के प्रति उनके मन में बेहद श्रद्धा और प्रेम का भाव था। बचपन की शुरुआती शिक्षा इन्हें अपने बाबा से मिली। उन्हीं के साथ रहकर पहाड़ा और अक्षर ज्ञान हुआ। जब उनकी अवस्था छह-सात साल की थी तो वे अपने पिता के पास झाँसी आ गए। यहीं से उन्होंने विधिवत स्कूली शिक्षा प्राप्त की। झाँसी की सरस्वती पाठशाला में प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरांत छठे से दसवें दर्जे तक की उनकी पढ़ाई मैकडानल हाईस्कूल में हुई। जब वे आठवें दर्जे में पढ़ते थे, तभी उनका विवाह हो गया। उच्च शिक्षा के लिए वे लखनऊ आ गए। 1932 में उन्होंने अंग्रेजी साहित्य में बी.ए की परीक्षा उत्तीर्ण की। अंग्रेज़ी में ही एम.ए. करने के पश्चात् उन्होंने शोध कार्य किया। 1938 में उन्होंने अपना शोध कार्य पूरा किया।

लखनऊ विश्वविद्यालय में ही अंग्रेजी विभाग में उन्होंने पाँच वर्ष तक अध्यापन का कार्य किया। 1943 में आगरा आ गए। 1943 से 1971 तक आगरा के बलवन्त राजपूत कॉलेज में अंग्रेजी विभाग के अध्यक्ष रहे। वहीं से 1971 में उन्होंने अवकाश ग्रहण किया। आगरा विश्वविद्यालय के कुलपति के अनुरोध पर के.एम.मुंशी संस्थान, आगरा के निदेशक का कार्यभार स्वीकार किया। 1974 में वहाँ से सेवा मुक्त होकर दिल्ली आ गए। 1983 में उनकी पत्नी का निधन हो गया। 30 मई 2000 में उनका निधन हुआ। रामविलासजी लगातार साहित्य कर्म से जुड़े रहे।

लखनऊ में रहते हुए उन्होंने साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में जो लेखन कार्य आरंभ किया, वह मृत्युपर्यंत चलता रहा। साहित्यिक सेवाओं के लिए उन्हें साहित्य अकादमी सहित कई पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। उन पुरस्कारों से मिलने वाली राशि उन्होंने साक्षरता के प्रसार के लिए दान कर दी।

विद्यार्थी जीवन में ही उनका मार्क्सवाद की ओर झुकाव हो गया था। मार्क्सवादी आलोचना को विकसित करने में उनका योगदान अतुलनीय है। हिंदी में मार्क्सवादी आलोचना के वे प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। प्रगतिवादी विचारधारा के प्रति अपनी गहरी

प्रतिबद्धता ने ही उन्हें प्रगतिशील लेखक संघ के साथ जोड़ा। 1949 में वे प्रगतिशील लेखक संघ के महासचिव बनाए गए। यह वह दौर था, जब प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन अपने उत्कर्ष पर था। 1953 में जब उन्होंने महासचिव पद छोड़ा, उसके बाद प्रगतिशील लेखक संघ का प्रभाव भी काफी सीमित हो गया।

प्रगतिशील लेखक संघ के महासचिव पद पर रहते हुए उन्होंने देश का व्यापक भ्रमण किया। उन्हें भारत के सांस्कृतिक वैविध्य को नजदीक से देखने और जानने का अवसर मिला। आगरा के मुंशी विद्यापीठ में रहते हुए उन्हें भारत की विभिन्न भाषाओं के अध्ययन का मौका मिला। इन सबने उनके लेखन को दूर तक प्रभावित किया। रामविलासजी के साहित्य को समझने के लिए इन तथ्यों को दृष्टि में रखना आवश्यक है।

जैसा कि कहा जा चुका है, उन्हें साहित्यिक सेवाओं के लिए कई बार सम्मानित किया गया। केंद्रीय साहित्य अकादमी ने उन्हें 'निराला की साहित्य साधना' पुस्तक के लिए पुरस्कृत किया। 1988 में उन्हें 'शलाका सम्मान' प्राप्त हुआ। 1990 में 'भारत-भारती पुरस्कार' और 1991 में 'व्यास सम्मान' प्रदान किया। मृत्यु से कुछ दिनों पहले उन्हें दिल्ली सरकार ने 'सहस्त्राब्दी का हिंदी लेखक' के रूप में सम्मानित किया।

साहित्यिक योगदान

डॉ. रामविलास शर्मा पर मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव था। उन्होंने प्रगतिशील समीक्षा के लिए आधार भूमि तैयार की। उन्होंने प्रगतिशील समीक्षा को हिंदी की जातीय साहित्यिक परंपरा से जोड़ा। उन्होंने साहित्य में यथार्थवाद के महत्व को प्रतिपादित किया और उसी के अनुसार साहित्य परंपरा का पुनर्मूल्यांकन प्रस्तुत किया। रामविलासजी ने आलोचना को साहित्य की सीमा से बाहर ले जाकर राजनीति, समाज और संस्कृति के व्यापक सवालों से जोड़कर देखा है।

वे गहन से गहन बौद्धिक रूप से जटिल बातों को बड़े स्पष्ट एवं सरल रूप में पाठक के सामने रखते हैं। निराला के संदर्भ में उनकी समीक्षा का वही महत्व है जो शेक्सपीयर के संदर्भ में ए सी ब्रेडले का है। प्रो. निर्मला जैन का मानना है कि 'इस दृष्टि से 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना', 'प्रेमचंद्र' और 'निराला की साहित्य साधना' स्वयं लेखक की ही नहीं बल्कि हिंदी आलोचना की उपलब्धियाँ हैं।'

डॉ. शर्मा का व्यक्तित्व कई क्षेत्रों में फैला हुआ है। वे एक ओर मार्क्सवादी चिंतक है, तो, दूसरी ओर साहित्य के आलोचक। लेकिन उन्होंने साहित्य ही नहीं भाषा, राजनीति, इतिहास, कला, संस्कृति आदि विभिन्न क्षेत्रों में भी साधिकार लेखन किया है। रामविलासजी के आलोचना और चिंतन संबंधी इस विपुल साहित्य की चर्चा बहुत हुई है। लेकिन इस बात को भी नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता कि प्रगतिशील धारा के

कवियों में उनका अत्यंत उच्च स्थान है। अज्ञेय द्वारा संपादित 'तार सप्तक' के एक कवि वे भी थे। बाद में उनके दो काव्य संग्रह भी प्रकाशित हुए। अपने लेखन के आरंभिक दिनों में उन्होंने उपन्यास और जीवनीपरक साहित्य भी लिखा। लेखन के अंतिम दशक में उन्होंने आत्मकथा, संस्मरण आदि लिखकर हिंदी के गद्य साहित्य को समृद्ध किया। निराला की जीवनी जो 'निराला की साहित्य साधना, भाग-1' के रूप में प्रकाशित हुई थी, जीवनी साहित्य की उत्कृष्ट उपलब्धि है।

डॉ. रामविलास शर्मा का लेखन लगभग छह दशकों में फैला है। आलोचना के क्षेत्र में यद्यपि उन्होंने मुख्य रूप से आधुनिक साहित्य पर ही अपने को केंद्रित रखा है, लेकिन हिंदी साहित्य ही नहीं बल्कि भारतीय और विश्व साहित्य पर भी अपने विवेचन को उन्होंने प्रस्तुत किया है। मार्क्सवादी चिंतक होते हुए भी उनका दृष्टिकोण विचारधारा के संकीर्ण घेरे में बंद नहीं है। उन्होंने इतिहास, राजनीति, समाज और संस्कृति पर अपने गहन अध्ययन द्वारा हिंदी समाज के विचार-संसार को समृद्ध किया। वे हिंदी को एक भाषा के रूप में ही नहीं देखते बल्कि एक जाति के रूप में देखते हैं। इसीलिए वे हिंदी जाति की संकल्पना को प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार वे साहित्य को साहित्यिकता के दायरे में न देखकर संस्कृति के वैश्विक अध्ययन की ओर उन्मुख होते हैं। रामविलासजी के इस विराट रचना संसार को दृष्टि में रखकर ही हम जातीयता और संस्कृति की उनकी संकल्पना को भी समझ सकते हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा के प्रमुख ग्रंथ

आलोचना ग्रंथ

'प्रेमचंद', 'प्रेमचंद और उनका युग', 'भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा' 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ', 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना', 'निराला की साहित्य साधना' (तीन भागों में), 'नई कविता और अस्तित्ववाद', 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण', 'मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य', 'हिंदी जाति का साहित्य', 'भारतीय साहित्य की भूमिका', 'परंपरा का मूल्यांकन'।

भाषा संबंधी ग्रंथ

'भाषा और समाज', 'भारत की भाषा समस्या', 'भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी' (तीन भागों में)।

राजनीति, इतिहास, संस्कृति आदि विषयों पर ग्रंथ

'भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद' (दो खंड), 'मार्क्स और पिछड़े हुए समाज', 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश' (दो खंड), 'इतिहास-दर्शन', 'भारतीय नवजारगण और यूरोप', 'भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद'।

काव्य संग्रह
'रूप तरंग', 'सदियों के सोए जाग उठे'

उपन्यास
चार दिन

आत्मकथात्मक साहित्य
'अपनी धरती अपने लोग', 'घर की बात'

निबंध साहित्य
'आस्था और सौंदर्य', 'विराम चिह्न'

रचना के बारे में

49-53 का दौर भारतीय समाज और साहित्य में उथल-पुथल का दौर रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के दौर में राष्ट्र निर्माण की जो प्रक्रिया आरंभ हुई, वह सिर्फ राजनीतिक प्रक्रिया ही नहीं थी, वरन् सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया भी थी। इसलिए इस प्रक्रिया से जुड़े सवाल भी अहम् हो गए थे। 'संस्कृति और साहित्य' (1949) और 'संस्कृति और जातीयता' (1952) नामक लेख उसी दौर में लिखे गए थे।

भारत विभिन्न जातियों और भाषाई समूहों वाला देश है। इसलिए राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में इन जातियों और भाषाई समूहों के बीच एकता और उनकी स्वतंत्र पहचान का प्रश्न उभरकर सामने आया। भाषाई आधार पर राज्यों के गठन की प्रक्रिया में कई विवाद उठे। इसी संदर्भ में हिंदी प्रदेशों में जातीयता का सवाल भी प्रमुख था। भाषाई आधार पर जातीयता का समर्थन करने वाले भी हिंदी जातीयता के सवाल पर साफ नहीं थे। डॉ. रामविलास शर्मा ने अपने उपर्युक्त निबंध में संस्कृति और जातीयता के व्यापक प्रश्नों को हिंदी समाज के संदर्भ में रखकर देखा। संस्कृति का जातीयता से क्या संबंध है। जातीयता का गठन कैसे होता है। विभिन्न जातीयताओं और एक ही जाति के विभिन्न समुदायों के बीच एकता कैसे कायम रखी जा सकती है। जातियताओं के आधार पर निहित स्वार्थों के द्वारा जनता को गुमराह करने की कोशिशों को कैसे रोका जा सकता है, ऐसे कई मुद्दे इस संदर्भ में सामने आते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने औपनिवेशिक शासन, सामंतवाद, भाषा और बोली, धर्म और संस्कृति जैसे कई पहलुओं पर भी गंभीरता से विचार किया है। जातीयता और संस्कृति के बारे में उनके इस आरंभिक चिंतन का ऐतिहासिक महत्व है, क्योंकि बाद में अस्सी-नब्बे के दशक में उन्हों जातीयता के सवाल को और अधिक मुखर रूप में उठाया। उनके इस हस्तक्षेप का ही परिणाम है कि आज हिंदी जगत में हिंदी जातीयता एक अहम् मुद्दा बन गया है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने अपने निबंध के आरंभ में संस्कृति पर विचार किया है। वे संस्कृति को व्यापक शब्द मानते हैं जिसमें 'मनुष्य का आचरण, उसका भावजगत, विचारधारा, साहित्य, कला, विज्ञान' सभी कुछ आ जाता है। उन्होंने संस्कृति को मानवीय निधि बतलाया है। उनका यह भी मानना है कि प्रत्येक देश, जाति और वर्ग की अपनी सांस्कृतिक विशेषताएँ होती हैं। रामविलासजी का यह भी मानना है कि 'मनुष्य ने अपना मानवत्व सामाजिक जीवन द्वारा ही प्राप्त किया है।' वर्ण व्यवस्था का उदाहरण देते हुए उसे सामंती समाज की विशेषता मानते हैं और कमोबेश हर तरह के सामंती समाजों में यह व्यवस्था पाई जाती है। जिस तरह वर्ण व्यवस्था पुरानी है उसी तरह उसका विरोध भी पुराना है। भक्ति काव्य को वह वर्णव्यवस्था के विरोध से जोड़कर देखते हैं।

इसके बाद उन्होने आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास पर विचार किया हे। आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास को वे सामंती व्यवस्था के पतन के साथ जोड़ते हैं। इसी संदर्भ में वे खड़ी बोली के विकास का उल्लेख करते हुए उसे हिंदी जातीयता के साथ जोड़ते हैं। हिंदी जातीयता की चर्चा करते हुए वे हिंदी क्षेत्र की विभिन्न बोलियों और उर्दू-हिंदी संबंधों पर भी विचार करते हैं। वे भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का समर्थन करते हुए हिंदी को विभिन्न राज्यों में बांटे जाने के विचार का विरोध करते हैं। वे इस बात का भी समर्थन नहीं करते कि शासन की सुविधा के लिए छोटे राज्य बनाए जाने चाहिए। जातीयता के विकास के बाद वे भारत में विभिन्न जातीयताओं के बीच सांस्कृतिक एकता पर अपना मत प्रस्तुत करते हैं। इस संदर्भ में उनका यह कथन अत्यंत महत्वपूर्ण है : 'इस देश में अनेक भाषाएँ हैं, अनेक जातियाँ हैं, इन जातियों की अपनी-अपनी संस्कृति है। इन सभी जातियों की संस्कृतियों के सामान्य तत्वों का, उनके समुच्चय का नाम भारतीय संस्कृति है।' डॉ. रामविलास शर्मा के हिंदी' जाति संबंधी विचारों को इसी परिभाषा के संदर्भ में समझना चाहिए। जब वे हिंदी जाति के विकास और गठन के कार्य को पूरा करने की बात करते हैं तो उनका मकसद प्रकारांतर में भारत की विभिन्न जातीयताओं के बीच एकता और इस तरह भारतीय राष्ट्र-राज्य की सामूहिक मिलीजुली संस्कृति के विकास की बात कर रहे होते हैं।

अपने इसी प्रगतिशील दृष्टिकोण के अनुसार ही वे गद्य की भाषा भी वैसी ही लिखते हैं। उनकी भाषा में हिन्दी जातीयता का स्वरूप है। भाषा की प्रवृत्ति तथ्य निरूपिणी है। विचारों को गद्य में सुलझाकर रखते हैं। कहीं-कहीं उनकी भाषा के तेवर में व्यंग्य या कटाक्ष भी मिलता है। अपनी बातों को स्पष्टता प्रदान करने के लिए इतिहास, समाजशास्त्र और साहित्य सभी के दृष्टांत की सहायता लेते हैं। समाज की निर्माण प्रक्रिया की पूरी तस्वीर उनके सामने होती है इसलिए भाषा सीधी और सहज होती है।। उनकी शैली भी यथार्थवादी है। अपनी प्रत्येक बात को ठोस प्रमाण देकर प्रस्तुत करते हैं। उनके कथन में

आत्मविश्वास और वस्तुपरकता दोनों दिखाई देते हैं। ऐतिहासिक चेतना के संदर्भ से वे अपने विचार को प्रमाणित करते हैं।

शब्दावली

त्यागराज : भारत में संगीत के दो स्कूल हैं। उत्तर भारत का हिन्दुस्तानी संगीत और दक्षिण भारत का कर्नाटक संगीत। त्यागराज दक्षिण भारत के कर्नाटक संगीत के श्रेष्ठ संगीतकार माने गए हैं।

कबीलाई समाज : समाजशास्त्र के अनुसार प्रारंभिक समाज का वह रूप जिसमें समाज विभिन्न समुदायों में बंटा होता है और उनकी अपनी स्वतंत्र सांस्कृतिक पहचान होती है। कबीले का प्रत्येक सदस्य अपनी परंपरा और पहचान के प्रति सजग और संवेदनशील होता है।

लिंग्विस्टिक सर्वे : भाषाई सर्वेक्षण। जार्ज ग्रियर्सन ने उत्तर भारत की बोलियों और भाषाओं का सर्वेक्षण किया था। यहाँ उसी सर्वेक्षण का हवाला दिया गया है।

जारशाही : क्रांति पूर्व रूस के शासक । लेनिन के नेतृत्व में हुई प्रसिद्ध बोल्शेविक क्रांति ने रूस में इस शासन व्यवस्था को हमेशा के लिए समाप्त कर दिया था।

भारती : सुब्रह्मण्यम भारती। तमिल भाषा के प्रख्यात तामिल कवि।

व्याख्या के लिए प्रमुख अंश

1. भारत में वर्ण-व्यवस्था का विरोध और उस व्यवस्था के टूटने पर आपत्ति - ये दानों बातें बहुत पुरानी हैं। कबीर के समय से ही ये दोनों बातें साहित्य में ख़ूब उभर कर आयी हैं। हिंदी, बंगला, मराठी, पंजाबी, काश्मीरी आदि भाषाओं में भक्ति-आंदोलन मनुष्य-मात्र की समानता घोषित करने वाला एक व्यापक और शक्तिशाली आंदोलन था। यह आंदोलन वर्णों और मतमतांतरों में बँटे हुए सामंती समाज की व्यवस्था के विरुद्ध था, और इस व्यवस्था के कमज़ोर होने से वह उत्पन्न हुआ था। ग़रीब किसानों, कारीगरों, सौदागरों आदि की सक्रिय सहानुभूति से उसका प्रसार हुआ था। प्राचीन रूढ़िवाद जहाँ धार्मिक कर्मकांड को महत्व देता था, वहाँ यह आंदोलन प्रेम को भक्ति और मुक्ति का आधार मानता था।

2. जातियों की राजसत्ता की प्रतिष्ठा, उनकी भाषा में उनके राज्यगत जीवन का विकास, समाजवाद का उद्देश्य है। इसके विपरीत राज्यसत्ता के जीवाणुओं का नाश, जातियों का विभाजन और उनकी भाषाओं का दमन साम्राज्यवादियों, पूँजीपतियों और सामंतों की नीति है। भारत की अन्य बड़ी जातियों के समान

देश की बसे बड़ी जाति, हिंदी-भाषी जाति, का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह एक राज्य के अंतर्गत संगठित होकर अपना औद्योगिक और सांस्कृतिक विकास कर सकें।

3. इस देश में अनेक भाषाएँ हैं, अनेक जातियाँ हैं, इन जातियों की अपनी-अपनी संस्कृति है। इन सभी जातियों की संस्कृतियों के सामान्य तत्वों का, उनके समुच्चय का नाम भारतीय संस्कृति है। भारत की जातियों से भिन्न भारतीय संस्कृति की सत्ता कहीं नहीं है।

व्याख्या का उदाहरण

जो लोग इस जातीय विकास और जातीय गठन का कार्य पूरा नहीं होने देना चाहते, उनसे निवेदन है कि वे इस तथ्य पर विचार करें कि हर संस्कृति की जातीय विशेषताएँ होती हैं, जातीय रूप होता है, हर भाषा की पूर्ण समृद्धि के लिए उसे बोलने वाली जाति का गठन आवश्यक होता है। जातीय गठन को रोकने का अर्थ है, भाषा और संस्कृति के विकास और समृद्धि को रोकना। जातीय गठन को रोकने का अर्थ है, किसी जाति के अंदर विद्यमान राज्यसत्ता के जीवाणुओं को कुचलना। भारत का विकास उसकी विभिन्न जातियों के विकास से ही संभव है।

व्याख्या-संकेत

डॉ. रामविलास शर्मा प्रगतिशील आलोचक, कवि और गद्यकार के रूप में सुपरिचित हैं। वे बहुआयामी प्रतिभा के धनी हैं। उन्होंने अपने लेखन का क्षेत्र साहित्य तक ही नहीं सीमित रखा है। अपितु संस्कृति भाषा, राजनीति तक फैला हुआ है। 'संस्कृति और जातीयता' निबंध उस काल की रचना है जब देश आजाद होने के बाद उसको संघात्मक रूप देने के लिए भाषाओं के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किया जा रहा था। डॉ. रामविलास शर्मा भाषा को जातीयता का आधार मानते हैं और उसके आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का समर्थन करते हैं। जातीय संस्कृति के विकास का संबंध जातीयता के विकास से है।

उपर्युक्त अंश 'संस्कृति और जातीयता' निबंध से उद्धृत है। इन पंक्तियों में लेखक ने जातीय गठन के महत्व पर बल दिया है। प्रत्येक संस्कृति की जातीय विशेषताएँ होती हैं। यानी जातीयता के आधार पर ही हम सांस्कृतिक भिन्नता को पहचान सकते हैं। जातीयता भाषा पर आधारित होती है इसलिए भाषा और संस्कृति के विकास का संबंध जातीय गठन से जुड़ा है। यदि किसी जातीयता को गठित होने से रोका जाता है तो उसका प्रभाव उससे संबद्ध भाषा और संस्कृति के विकास पर भी पड़ना स्वाभाविक है। इसके साथ ही वे इस बात पर भी बल देते हैं कि जातीय गठन का संबंध उस जाति की राज्यसत्ता पर अधिकार से भी है। जातीय आधार पर राज्यों के गठन से उस विशिष्ट

जातीय समूह के लोगों को अपने जातीय विकास के लिए राज्यसत्ता का उपयोग करने की स्वतंत्रता और अधिकार दोनों प्राप्त होते हैं। इस प्रकार राज्य संचालन में वे अपनी भागीदारी को सुनिश्चित करते हैं।

यदि किसी जातीय समूह को जातीय आधार पर गठित होने से रोका जाता है तो इसका सीधा-सा अर्थ है कि उसे राज्यसत्ता के संचालन की प्रक्रिया से वंचित करना। यह उस जातीय समूह के लोकतांत्रिक अधिकारों का हरण है। भारत जैसे देश में जहाँ कई जातियाँ एक राष्ट्र-राज्य में शामिल हैं, वहाँ उनके बीच एकता तभी कायम की जा सकती है जब प्रत्येक जाति को अपने स्वतंत्र विकास का पूरा अवसर मिले। यदि ऐसा नहीं होता है और जातीय विकास की स्वाभाविक आकांक्षा को कुचला जाता है तो उस जातीय समूह में अलगाववाद के बीज पनप सकते हैं। ऐसी स्थिति में विभिन्न जातियों के बीच संघर्ष का बीजारोपण होगा और उसका असर राष्ट्रीय एकता पर विनाशकारी होगा। इस अंश में कही गई बातों को इस परिप्रेक्ष्य में समझकर अपने शब्दों में लिखें।

रामविलासजी के इस कथन को भारत की मौजूदा स्थिति के संदर्भ में भी देख-परख सकते हैं और उस पर भी अपना मत संक्षेप में रख सकते हैं।

उपर्युक्त कथन में लेखक के विचार अत्यंत सुलझे हुए रूप में प्रस्तुत हैं। रामविलासजी के सामने अपना मत इतना स्पष्ट होता है कि उन्हे अपनी बात कहने में कोई कठिनाई नहीं आती। लेकिन उनकी लेखनी में विचारों पर बल रहता है और संवेदना पक्ष पर वे अपेक्षित ध्यान नहीं देते। यही कारण है कि उनका यह निबंध वैचारिक दृष्टि से जितना सशक्त है, साहित्यिक दृष्टि से नहीं है। इस पक्ष पर भी आप अपना मत प्रस्तुत कर सकते हैं।

सहायक पुस्तकें

विश्वनाथ त्रिपाठी : हिंदी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
निर्मला जैन : हिंदी आलोचना : बीसवीं सदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
प्रभाकर श्रोत्रिय : रामविलास शर्मा : व्यक्ति और कवि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
डॉ. गीता शर्मा : रामविलास शर्मा और परंपरा का मूल्यांकन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

मूल पाठ : निबंध

संस्कृति और जातीयता

संस्कृति एक व्यापक शब्द है। उसके अंतर्गत मनुष्य का आचरण, उसका भावजगत, विचारधारा, साहित्य, कला, विज्ञान - ये सभी आ जाते हैं। ब्रह्म की तरह संस्कृति व्यक्त और अव्यक्त दोनों हैं। वाल्मीकि और व्यास के महाकाव्य, अजन्ता और एल्लोरा का शिल्प, स्थापत्य और चित्रकारी, त्यागराज और तानसेन का संगीत, ये सब संस्कृति के अंग हैं और वह उल्लास जो दीपावली के प्रकाश में फूट पड़ता है, वह शूरता जो 1857 और 1946 के विद्रोहों में प्रकट हुई थी, शांति और न्याय का वह प्रेम जो आज कोटि-कोटि भारतीय जनता को सोवियत और चीन के साथ विश्व-शांति की रक्षा के लिए आगे बढ़ा रहा है, वह सब भी संस्कृति का अंग है।

अपने सुदीर्घ जीवन में मनुष्य ने ऐसी सांस्कृतिक निधि अर्जित की है जो मानव-मात्र की संपत्ति है। बच्चों से प्यार, नारी जाति का सम्मान, मनुष्य-मात्र की समानता का भाव आदि आज सम्पूर्ण मानव-संस्कृति की थाती हैं। इसके साथ पच्छिम और पूर्व की, यूरोप और एशिया की, भारत और ब्रिटेन की अपनी सांस्कृतिक विशेषताएँ हैं। अपनी प्राचीनता पर गर्व, पूर्व और एशिया की एक सांस्कृतिक विशेषता है। साहित्य में यथार्थवाद का विकास ब्रिटेन की एक सांस्कृतिक विशेषता है। अनेक विभिन्नताओं में एकता की अनुभूति - यह भारत की सांस्कृतिक विशेषता प्रसिद्ध है। देशों और महाद्वीपों के साथ वर्गों की अपनी संस्कृति भी होती है। विलासप्रियता, निष्क्रियता, अलंकार प्रेम, साहित्य में चमत्कारवाद - हर देश में सामंतवर्ग की अपनी सांस्कृतिक विशेषताएँ रही हैं।

मनुष्य का सांस्कृतिक विकास उसके सामाजिक जीवन से ही संभव हुआ है। मानव-संस्कृति मानव-जीवन से भिन्न नहीं है। मनुष्य ने अपना मानवत्व सामाजिक जीवन द्वारा ही प्राप्त किया है। यह सामाजिक जीवन सदा एक रूप में संगठित नहीं हुआ। भारत में जिस व्यवस्था से लोग बहुत दिनों से परिचित हैं, वह वर्ण-व्यवस्था है। इसे धार्मिक ग्रंथों में ईश्वरकृत भी माना गया है। लेकिन आज भी देश में ऐसे अनेक जन रहते हैं जो पहाड़ों और जंगलों में कबीलों का संगठन बना कर जीवन बिताते हैं और जिनमें वर्ण-व्यवस्था नहीं है। समाज शास्त्र के अनुसार कबीलों का यह संगठन, विकास क्रम में वर्ण-व्यवस्था से पहले आता है। हम लोग समझते हैं कि वर्ण-व्यवस्था हमारे देश की विशेषता है। वास्तव में हर देश का सामंती समाज मोटे तौर से चार वर्णों जैसे चार वर्गों में बँटा हुआ मिलता है। मिसाल के लिए चौसर के समय और उसके पहले का इंग्लैंड पुरोहितों (क्लर्जी) भूमि के स्वामियों (नाइट), सौदागरों (मर्चेंट) और ज़मीन जोतने वाले किसानों (सर्फ़) में बँटा हुआ था। व्यापार और उद्योग-धंधों की बढ़ती के साथ यह व्यवस्था हर

जगह टूटी है। जो लोग इस व्यवस्था से पीड़ित थे, उन्होंने इसके टूटने में सहायता की, जो प्राचीनता-प्रेमी और रूढ़िवादी थे, उन्होंने इस विनाश को कलियुग का अनाचार कहा। आज भी अनेक ऐसे व्यक्ति हैं जो भारत की विपत्तियों का मूल कारण यह मानते हैं कि वर्ण-व्यवस्था से जनता की आस्था उठ गयी है। वे बड़ा प्रयत्न करते हैं कि पुरानी व्यवस्था फिर लौट आये, जितनी बची है, उतनी ही कायम रहे लेकिन जैसे-जैसे ज़मीन से सामंती प्रभुत्व उठता जाता है, वैसे-वैसे भूपाल और उसके साथ पुरोहित पर से वह पुरानी श्रद्धा भी उठती जाती है और उसकी जगह नये वर्ग-संबंध कायम होते जाते हैं। यह क्रम भारत में जातियों (नैशनैलिटी) के संगठन और उनके दृढ़ होने का क्रम भी है।

भारत में वर्ण-व्यवस्था का विरोध और उस व्यवस्था के टूटने पर आपत्ति - ये दोनों बातें बहुत पुरानी हैं। कबीर के समय से ही ये दोनों बातें साहित्य में ख़ूब उभर कर आयी हैं। हिंदी, बंगला, मराठी, पंजाबी, काश्मीरी आदि भाषाओं में भक्ति-आंदोलन मनुष्य-मात्र की समानता घोषित करने वाला एक व्यापक और शक्तिशाली आंदोलन था। यह आंदोलन वर्णों और मतमतांतरों में बँटे हुए सामंती समाज की व्यवस्था के विरुद्ध था, और इस व्यवस्था के कमज़ोर होने से वह उत्पन्न हुआ था। ग़रीब किसानों, कारीगरों, सौदागरों आदि की सक्रिय सहानुभूति से उसका प्रसार हुआ था। प्राचीन रूढ़िवाद जहाँ धार्मिक कर्मकांड को महत्व देता था, वहाँ यह आंदोलन प्रेम को भक्ति और मुक्ति का आधार मानता था। कबीर, तुलसी, सूर और जायसी में सामान्य भाव-धारा इस प्रेम की ही है। प्राचीन रूढ़िवाद जहाँ म्लेच्छ और काफ़िर, द्विज और शूद्र के भेद को महत्व देता था, वहाँ भक्ति-आंदोलन का मूल स्वर था - 'जाति-पाँति पूछे नहिं कोई, हरि का भजै सो हरि का होई ।' भक्ति-आंदोलन श्रद्धा के मानदंड बदल रहा था, भूमि के स्वामी होने से तुम श्रद्धास्पद नहीं हो, श्रद्धा की कसौटी है प्रेम! उस कसौटी पर साधारण किसान बड़े-बड़े भूपतियों से श्रेष्ठ सिद्ध हो सकता है।

झूमत द्वार अनेक मतंग जंजीर जरे मद-अंबु चुचाते।
तीखे तुरंग मनो गति चंचल पौन के गौनहुतै बढ़ि जाते।।
भीतर चन्द्रमुखी अवलोकति बाहर भूप खड़े न समाते।
ऐसे भये तो कहा तुलसी जु पै जानकीनाथ के रंग न राते।।

इसी तरह ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से या पुरोहिताई करने से तुम श्रद्धास्पद नहीं हो। असली कसौटी है प्रेम की, जहाँ शबरी, निषाद और 'जायो कुलमंगन' तुमसे श्रेष्ठ सिद्ध हो सकते हैं।

जप, जोग, विराग, महा मखसाधन, दाव, दया, हम कोटि करै।
मुनि सिद्ध, सुरेस, गनेस, महेस से सेवत जन्म अनेक मरै।
निगमागम ज्ञान पुरान पढ़ै, तपसानल में जुग पुंज जरै।

मन सों पन रोपि कहैं तुलसी रघुनाथ बिना दुख कौन हरै?

इस तरह श्रद्धा की कसौटी बदल कर भक्ति-आंदोलन ने सामंतों और पुरोहितों के प्रभुत्व को भारी धक्का लगाया।

सामंती व्यवस्था में जहाँ नारी को विलास और केलि का साधन बना दिया गया- जिसका प्रतिबिंब दरबारी कवियों का नायिका-भेद है - और रूढ़िवाद ने नारी को बहुपत्नी प्रेमी नर की दासी बना दिया था, वहाँ सूर, जायसी, मीरा और तुलसी ने उसके नारीत्व की फिर प्रतिष्ठा की, उसकी मानव सुलभ समानता और व्यक्तित्व की घोषणा की। रामराज्य में - 'एक नारि व्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी।' पतिव्रत पत्नीव्रत के साथ ही चलता है।

सामंत व्यवस्था ने मनुष्य की सौंदय-वृत्तियों को, उसके अनेक मानव-मूल्यों को जहाँ दबा रखा था, भक्ति-आंदोलन ने इन सबको निखारा और विकसित किया।

सामंती व्यवस्था ने जहाँ मनुष्य को निष्क्रियता और भाग्यवाद का पाठ पढ़ाया था, भक्ति-आंदोलन ने राम और कृष्ण के चरित्रों द्वारा जनता को अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध करना सिखाया।

भक्ति-आंदोलन से पहले जहाँ साहित्य रचने का काम मुख्यतः ब्राह्मणों ने किया था, वहाँ भक्ति-साहित्य में जुलाहे, अछूत, मुसलमान, ब्राह्मण-अब्राह्मण, नर-नारी सभी ने भाग लिया और वह वास्तव में एक लोकप्रिय जन-साहित्य बन गया। संस्कृति की ठेकेदारी किसी वर्ण-विशेष या धर्म-विशेष के हाथ में न रह गयी।

इन कारणों से भक्ति-आंदोलन को मूलतः सामंत विरोधी आंदोलन कहना उचित है। वह सामंती व्यवस्था के विरोध में उठ खड़ा हुआ था, उस व्यवस्था के कमज़ोर होने से पैदा हुआ था। यह आंदोलन हमारी जातीयता के अभ्युदयकाल का प्रगतिशील आंदोलन था।

आज अपनी जातीय संस्कृति का विकास करने के लिए उसके महत्व को समझना आवश्यक है। वह इस बात का प्रमाण है कि उत्तर भारत में सामंती व्यवस्था नष्ट हो रही थी और साहित्य इस कार्य में सहायक था।

सामंती व्यवस्था के ह्रास के साथ भारत की आधुनिक भाषाओं का उत्थान जुड़ा हुआ है। ये भाषाएँ सामंती व्यवस्था के ह्रास के कारण पैदा नहीं हुई, भाषाएँ पहले से थीं, उन्हें अब अपने प्रसार और विकास का अवसर मिला। संस्कृत जहाँ धर्म और साहित्य की भाषा थी, फ़ारसी जहाँ राज-भाषा थी, वहाँ उत्तर भारत के संत कवि बोलचाल की भाषाओं को माध्यम बनाकर आगे बढ़े। संस्कृत या फ़ारसी की जगह अनेक भाषाओं के

विकास से भारत की एकता टूटी नहीं, वह और दृढ़ हुई, क्योंकि जनता की शिक्षा और उसका सांस्कृतिक विकास उसकी भाषा द्वारा ही संभव है। सुशिक्षित और सुसंस्कृत जनता ही एकता का सबसे दृढ़ आधार है। इसीलिए जो लोग अंग्रेज़ी द्वारा भारत की एकता बनाये रखना चाहते हैं, वे एकता के दृढ़ आधार को नहीं समझते, वे जनता की शक्ति नहीं पहचानते। जो लोग बंगाल या महाराष्ट्र में बंगला या मराठी के बदले हिंदी को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते हैं, वे भारत की आधुनिक भाषाओं के विकास का महत्व नहीं समझते, वे इन भाषाओं द्वारा जनता के शिक्षण और सांस्कृतिक विकास का मूल्य नहीं पहचानते। जिस समय संस्कृत द्वारा एकता की रक्षा करने वाले पराजित हो चुके थे, उस समय बोलचाल की भाषाओं द्वारा ही भक्त कवियों ने जनता के जातीय आत्म-सम्मान को जगाया था और उसकी रक्षा की थी। इस ऐतिहासिक श्रम-विकास को रोकना आज किसी की सामर्थ्य में नहीं है।

भाषा और साहित्य का इतिहास यह बतलाता है कि 16वीं-17वीं सदी में ब्रज, खड़ीबोली, अवधी आदि के क्षेत्र अपना अलगाव दूर करके एक दूसरे के निकट आ रहे थे। यही कारण है कि सूर के पद केवल ब्रज की संपत्ति न थे, वे ब्रज के बाहर भी गाये जाते थे। संगीत और कविता के लिए ब्रजभाषा का प्रयोग सर्वमान्य-सा हो गया था। इससे पहले विभिन्न जनपदों के लेखक संस्कृत में लिखते थे, तब से अब में अंतर यह था कि संस्कृत के छंद गाँवों के किसान वैसे न गाते थे जैसे अब वे सूर के पद गाते थे। ब्रजभाषा का साहित्य जन साधारण में प्रचलित हो रहा था और इस तरह विभिन्न जनपदों के लोगों को एक दूसरे के निकट ला रहा था। इसी तरह अवधी की रचनाएँ अवध तक सीमित न रहीं, विशेषरूप से रामचरितमानस का प्रचार अवध के बाहर दूर-दूर तक हुआ। इस तरह यह महान् ग्रंथ जनपदों का अलगाव दूर करने और उन्हें एक दूसरे के निकट लाने का बहुत बड़ा साधन बना। तुलसीदास ने ब्रज और अवधी दोनों में रचनाएँ कीं और यह बात अपने आप इस ऐतिहासिक सत्य की ओर संकेत करती है कि ब्रज और अवध जैस जनपदों की जनता एक दूसरे के निकट आ रही थी। इस समय की काव्य-भाषा में एक से अधिक बोलियों के शब्द आना, यहाँ तक कि अनेक बोलियों के व्याकरण-रूपों का आना भी असाधारण बात नहीं है। इसका कारण यही है कि जनपदीय बोलियों का दुराव ख़त्म हो रहा था और वे एक दूसरे को प्रभावित कर रही थीं। आगे चल कर इन जनपदों की एक सामान्य जातीय भाषा न तो ब्रज हुई, न अवधी, जातीय भाषा के रूप में विकसित हुई खड़ी बोली। सूर और तुलसी जैसे समर्थ कवियों की सहायता पा कर भी ब्रज या अवधी यहाँ की जातीय भाषा क्यों न बनी और खड़ी बोली क्यों बनी, इसके ऐतिहासिक कारण हैं। ब्रज के बाहर ब्रजभाषा का प्रसार केवल साहित्यिक भाषा के रूप में हुआ, बोलचाल की भाषा के रूप में नहीं। यही बात अवधी के साथ भी हुई। बोलचाल की भाषा के रूप में केवल खड़ी बोली अपने क्षेत्र से बाहर फैली। तभी तो 19वीं सदी में

गद्य, शिक्षा और मासिक पत्रों आदि की भाषा खड़ी बोली स्वीकृत हो गयी और ब्रज, अवधी आदि को लेकर कोई संघर्ष न हुआ। काव्य में ब्रजभाषा को बनाये रखने के लिए संघर्ष किया गया, वह असफल रहा। कारण यह कि खड़ी बोली हमारी जातीय भाषा के रूप में विकसित हो रही थी और काव्य में उसका उपयोग आगे-पीछे होना ही था।

भारतेंदु हरिश्चंद्र और रामचंद्र शुक्ल ने खड़ी बोली के प्रसार का संबंध पच्छिम से पूर्व की ओर आने वाली व्यापारी जातियों से जोड़ा था। यह स्थापना सही है। आगरा, प्रयाग, काशी आदि में न जोने कितने व्यापारी पछाँह से आकर बसे थे। स्वयं दिल्ली और आगरा व्यापार के बहुत बड़े केंद्र थे। ग्रियर्सन के 'लिग्विस्टिक सर्वे' से पता चलता है कि यूरोप के व्यापारी अपनी सुविधा के लिए खड़ी बोली सीखते थे। व्यापार के प्रसार के साथ भारत के भीतर खड़ी बोली का महत्व बढ़ा। सरदेसाई के अनुसार इटालियन यात्री मनुच्ची और शिवाजी की बातचीत खड़ी बोली में हुई थी। शेरशाह के समय से ही हिंदी भाषी क्षेत्र में व्यापार का प्रसार आरंभ हो गया था। अकबर ने एक तरह के सिक्के चला कर, यायायात के साधनों को सुरक्षित करके व्यापार की उन्नति में सहायता की। 16वीं सदी में व्यापार और औद्योगिक उन्नति का सबसे बड़ा प्रमाण बड़े-बड़े शहरों का निर्माण और विकास था। दिल्ली, आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, पटना आदि व्यापार के बड़े-बड़े केंद्र थे, इन्हीं केंद्रों से खड़ी बोली का प्रसार भी हुआ। उद्योग-धंधों का मुख्य आधार दस्तकारी थी, लेकिन इस दस्तकारी का उद्योग राजाओं और नवाबों की विलासिता की चीज़ें तैयार करना ही न था, न यह दस्तकारी हर गाँव में सीमित रह कर उसी की ज़रूरतें पूरा करने के लिए थी। बनारस, लखनऊ और आगरा दस्तकारों के केंद्र थे और यहाँ की बनी हुई चीज़ें विदेश में इतनी बिकती थीं कि वहाँ के अपने उत्पादन के लिए ख़तरा पैदा हो गया था। उद्योग-धंधों का बढ़ाना, व्यापार की मंडियों के रूप में बड़े-बड़े शहरों का पनपना सामंती अलगाव कम करता था और जनता को एक सूत्र में बाँधता था। यह हिंदी-भाषी जाति के निर्माण का सिलसिला था। यह सिलसिला सामंती ढाँचे के अंदर चल रहा था। यह ढाँचा कमज़ोर था और दिन-पर-दिन अपने भीतर उभरती ताकतों से कमज़ोर होता जा रहा था लेकिन वह चरमरा कर बैठ न गया था, उसका नाश न हुआ था कि उसकी जगह नया पूँजीवादी ढाँचा आकर जम जाता। व्यापार की मंडियाँ मुख्यतः गंगा-यमुना के किनारे कायम हुईं, इसलिए पूर्वी भोजपरी और मैथिल प्रदेश व्यापारी संबंधों की लपेट से प्रायः बचे रहे। यातायात के साधन हर जगह एक से विकसित न हुए थे, इसलिए मध्यभारत इस विकास से बहुत कुछ अलग रहा। बीसवीं सदी में नये उद्योग-धंधों के कायम होने के साथ विकास का यह सिलसिला और बढ़ा और मध्यभारत तथा मिथिला, भोजपुर आदि एक सामान्य जातीय जीवन की धारा के और निकट आए। यह विकास औपनिवेशिक भारत में हो रहा था, जहाँ अंग्रेज़ शासक वर्ग की नीति यह थी कि औद्योगिक उन्नति रोक कर भारत को अंग्रेज़ी माल की खपत के लिए बाज़ार बनाया

जाय और यहाँ के सामंती अवशेषों को अपना सहायक बना कर उनकी रक्षा की जाय। इसलिए यह औद्योगिक विकास बहुत ही सीमित था और उसके साथ हमारे जातीय निर्माण और गठन का काम भी अधूरा रहा।

हमारे जातीय निर्माण की एक विशेषता यह थी कि यहाँ सैकड़ों साल तक फ़ारसी राज-भाषा रह चुकी थी। इसका फल यह हुआ कि उच्च वर्गों में फ़ारसी पढ़ी-पढाई जाती थी और सुसंस्कृत शब्दावली वह समझी जाती थी जिसमें फ़ारसी के शब्द अधिक हों। इसलिए एक ओर नज़ीर और मीर जैसे सरल उर्दू लिखने वाले कवि हुए, दूसरी ओर फ़ारसी गर्भित उर्दू लिखने वालों की कमी न थी। अंग्रेज़ी ने इस भाषा-भेद को - जिसमें लिपि-भेद भी शमिल था - और आगे बढ़ाया और विशेष रूप से जब सन् 1857 में उन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों को अपने विरुद्ध मिल कर लड़ते देखा, तब उन्होंने यह भेद-भाव बढ़ाने में अपनी ओर से कुछ उठा न रखा। कचहरी और पुलिस के द्वारा उन्होंने वह अरबी प्रधान-भाषा चलायी जो उनके जातीय उत्पीड़न की नीति का अंग बन गयी। इधर अनेक जनपदों में कुछ लोगों ने अलगाव का नारा दिया। जातीय विकास की धारा न समझ कर इन्होंने बोलियों को भाषा का दर्ज़ा दिया, इन बोलियों के क्षेत्रों को जातीय प्रदेश माना, यहाँ तक कि हिंदी-भाषी प्रदेश को तेरह क्षेत्रों में बाँटने की योजना भी सामने रखी। हिंदी-भाषी क्षेत्र में वर्ण-व्यवस्था का अब भी ज़ोर है। यहाँ के शिक्षा केंद्रों में कौन ब्राह्मण है, कौन कायस्थ है, यह प्रश्न बड़े महत्व का है। यही नहीं बहुतों में अहीर, जाट, गूजर, राजपूत आदि के प्रति वफ़ादारी पहले है, समूची हिंदी-भाषी जाति के लिए बाद को। इन्हीं कारणों से हिंदी भाषी क्षेत्र में जिस जातीय चेतना का विकास होना चाहिए था, वह नहीं हुआ।

जातियों का विकास और निर्माण सामंती व्यवस्था के ह्रास और पतन से ही संभव होता है। इसलिए जातीय चेतना का विकास भी सामंती विचार धारा का खंडन करता है, अपना प्रगतिशील मूल्य रखता है। अंग्रेज़ शासकों ने यहाँ का औद्योगिक विकास रोका, यहाँ के सामंती अवशेषों की रक्षा की, नवाबों, राजाओं और ताल्लुकदारों की रियासतें बनाये रखकर जातीय एकता क़ायम होने में बाधा डाली। उदाहरण के लिए निज़ाम की रियासत के कारण तेलुगु-भाषी जाति एक न हो पायी। कन्नड़ और मराठी-भाषी जातियाँ भी इसी तरह एक न हो पायीं। एक ही जाति को उन्होंने कई प्रांतों में बांट दिया, जिसकी सबसे बड़ी मिसाल हिंदी-भाषी प्रदेश है। बोलियों का ध्यान भी रखा जाय तो भोजपुरी का आधा क्षेत्र बिहार में है, आधा उत्तर प्रदेश में। बिहार को उन्होंने कभी बंगाल के साथ रखा, कभी बंगाल का थोड़ा-सा हिस्सा बिहार में मिला दिया। बंगाल का विभाजन करने की कोशिश की, जो पहले असफल रही और सन् 47 में सफल हुई। कांग्रेस ने अपनी सूबा-कमेटियाँ मुख्य भाषाओं को ध्यान में रखकर बनायीं, अपवाद केवल

हिंदी-भाषी प्रदेश था। मुख्य भाषाओं के हिसाब से प्रांतों का नया संगठन करने की माँग उचित थी, इस माँग के पूरा होने से भारत की प्रमुख जातियों का ऐतिहासिक विकास क्रम आगे बढ़ता था। इस विकास क्रम में सामंती अवशेषों के सिवा दूसरी बाधा थी - साम्राज्यवाद, जो अपनी कूटनीति से जातियों को संगठित न होने देता था। इसलिए जातीय गठन और जातीय चेतना के विकास का एक साम्राज्य विरोधी मूल्य भी है। जातीय विकास क्रम को पूरा करना देश-भक्ति का ही कार्य माना जाएगा।

जातीय चेतना का सही मूल्यांकन करके ही भारतीय एकता दृढ़ की जा सकती है। भारतीय एकता जनता की एकता के सिवा, विभिन्न वर्गों की एकता के सिवा, विभिन्न भाषाएँ बोलने वाली जातियों की एकता भी है। विभिन्न जातियों की परस्पर एकता उनके उचित अधिकर मान कर ही की जा सकती है। तेलुगू-भाषी जनता ने जातीय गठन का सवाल बहुत तीखे ढंग से देश के सामने रखा है। आन्ध्र राज्य के निर्माण के लिए पोत्ती श्री शमुलु जैसा अहिंसावादी शहीद हो गया। इससे अनुमान किया जा सकता है कि जातीय भावना कितनी दृढ़ है। कांग्रेसी नेताओं को बाध्य होकर राज्य पुनर्गठन समिति बनानी पड़ी। इस समिति ने केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक आदि राज्य बनाने का अनुमोदन किया। महाराष्ट्र और आन्ध्र के निर्माण में जो बाधाएँ थीं, उनसे फिर असंतोष बढ़ा और कांग्रेसी नेतृत्व ने विशाल आन्ध्र के तुरंत बनने की माँग स्वीकार की।

यहाँ भाषा और बोली के संबंध पर दो शब्द कह देना आवश्यक है। किसी भी देश में जातीय भाषा के विकास के साथ बोलियाँ ख़त्म नहीं हो जातीं। ब्रिटेन, फ्रांस जैसे उद्योग प्रधान देशों तक में वेल्श, प्रोवाँसाल आदि बोलियाँ कायम हैं जो व्याकरण, की दृष्टि से भी जातीय भाषा-अंग्रेज़ी या फ्राँसीसी - से भिन्न हैं। हमारे देश में ही तेलंगाना की तैलगू और विजयवाड़ा की तैलगू, पूर्वी बंगला और कलकत्ते की बंगला में अंतर है। इसका अर्थ यह नहीं कि पूर्वी बंगाल या तेलंगाना के लोगों की जातीय भाषा बंगला या तैलगू नहीं है। इसी तरह हिदीं की अनेक बोलियों का अस्तित्व यह साबित नहीं करता कि हिंदी हमारी जातीय भाषा नहीं है। जिन लोगों की जातीय भाषा हिंदी है, वे लोग चीनी जनता के बाद संसार की सबसे बड़ी जाति है। भारत की एक तिहाई जनता की भाषा हिंदी है। इसलिए हिंदी-भाषी जनता का अलगाव भारत की एक तिहाई जनता का अलगाव है। उसकी संगठित शक्ति एक तिहाई भारत की संगठित शक्ति होगी। हिंदी-भाषी जनता का संगठन और उसकी जातीय एकता सारे देश की जनता के संगठन और एकता के लिए आवश्यक है।

फिर भी लोग इस एकता से डरते हैं। तमाम हिंदी-भाषी जनता को एक राज्य में लाने के बदले वे उत्तर प्रदेश को भी दो हिस्सों में बाँटने की बात करते हैं। विभाजन के द्वारा संतुलन कायम रखना साम्राज्यवादियों की नीति रही है, देशभक्तों की नहीं। उत्तर

प्रदेश का विभाजन किसी भी सैद्धांतिक कसौटी पर सही नहीं उतरता। उसका आधार केवल भय या ईर्ष्या हो सकती है। इस भय के कारण हैं। भारत के संविधान में जातियों की समानता और उनके अधिकारों की रक्षा का विधान नहीं है। जनतंत्र का अर्थ हर व्यक्ति को समान अधिकार देना ही नहीं है, उसका अर्थ प्रत्येक जाति को समान अधिकार देना भी है। जब तक भारत में लोकसभा के साथ एक जातीय परिषद् नहीं कायम होता, जिसमें हर जाति का समान प्रतिनिधित्व हो और जो लोक सभा के देशव्यापी कार्यों पर नियंत्रण रख सके, तब तक छोटी-बडी जातियों में परस्पर ईर्ष्या-द्वेष बना ही रहेगा। यह ईर्ष्या द्वेष - भाषावार राज्य क़ायम हो जाने पर भी - भारतीय एकता में बाधक होगा। ईर्ष्या-द्वेष को दूर करने का उपाय जातियों की समानता और उनके अधिकारों की रक्षा है, न कि बड़ी जातियों को तोड़ कर छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट देना।

शासन की सुविधा के लिए छोटे राज्य बनाना कोई अर्थ नहीं रखता। हिंदी-भाषियों का एक राज्य बहुत बड़ा हो जायगा - या उत्तर प्रदेश ही बहुत बड़ा है - तर्कसंगत बात नहीं है। भारत की केंद्रीय सरकार ने सारे भारत पर शासन करने के लिए न जाने कितने अधिकर ले रखे हैं, उनमें कुछ कमी हो जाय तो जातियों का भला ही होगा। शासन तंत्र ऐसा होना चाहिए जिससे जातीय विकास में सहायता मिले, न कि उसमें बाधा पड़े। जनता का हित बड़े-बड़े राज्य क़ायम करने में है जहाँ वह सुविधापूर्वक सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति कर सके। इसीलिए यह आवश्यक नहीं है कि हर भाषा के लिए एक राज्य का निर्माण कर ही दिया जाय। सोवियत संघ में 60 से ऊपर भाषाएँ हैं, लेकिन वहाँ 16 राज्य ही स्थापित किये गए हैं। जिन भाषाओं के बोलने वाले बहुत बड़ी संख्या में नहीं हैं, उनके जातीय विकास के लिए मुख्य राज्यों के अंतर्गत स्वायत्त प्रदेश कायम किए गए हैं।

'जातियों के आत्मनिर्णय का अधिकार' नाम की पुस्तक में लेनिन ने बड़े राज्यों का लाभ बतलाते हुए लिखा है, "जनता अपने दैनिक अनुभव से जानती है कि भौगोलिक और आर्थिक संबंधों का मूल्य क्या है और एक बड़े बाज़ार और एक बड़े राज्य के लाभ क्या हैं। इसलिए लोग अलग होना तभी पसंद करेंगे, जब जातीय उत्पीड़न और जातीय संघर्ष से सम्मिलित जीवन एकदम असंभव हो गया हो और सभी तरह के आर्थिक आदान-प्रदान में अड़चन पड़ती हो।" लेनिन ने यह बात उन बड़े राज्यों के लिए कही थी, जिनमें विभिन्न जातियों के लोग रहते थे। हिंदी-भाषी जनता का एक बड़ा राज्य क़ायम करने में तो विभिन्न जातियों का नहीं, एक ही जाति का सवाल है। वर्तमान काल में आर्थिक विकास की योजनाएँ बनाने और उन्हें अमल में लाने को लिए हिंदी-भाषी प्रदेश की एकता और भी आवश्यक है। बिहार का लोहा और कोयला, उत्तर-प्रदेश की मिलें,

मध्यभारत के पठार में रुई का उत्पादन और इन सबका योजना-बद्ध उपयोग हिंद-प्रदेश को उन्नत और समृद्ध बना सकता है।

जातियों की राजसत्ता की प्रतिष्ठा, उनकी भाषा में उनके राज्यगत जीवन का विकास, समाजवाद का उद्देश्य है। इसके विपरीत राज्यसत्ता के जीवाणुओं का नाश, जातियों का विभाजन और उनकी भाषाओं का दमन साम्राज्यवादियों, पूँजीपतियों और सामंतों की नीति है। भारत की अन्य बड़ी जातियों के समान देश की सबसे बड़ी जाति, हिंदी-भाषी जाति, का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह एक राज्य के अंतर्गत संगठित होकर अपना औद्योगिक और सांस्कृतिक विकास कर सके।

इस देश में अनेक भाषाएँ हैं, अनेक जातियाँ हैं, इन जातियों की अपनी-अपनी संस्कृति है। इन सभी जातियों की संस्कृतियों के सामान्य तत्वों का, उनके समुच्चय का नाम भारतीय संस्कृति है। भारत की जातियों से भिन्न भारतीय संस्कृति की सत्ता कहीं नहीं है। वर्गों की, जनसाधारण की संस्कृति की कुछ जातीय विशेषताएँ होती हैं। सामंत वर्ग इंग्लैंड में भी था, यहाँ भी रहा है लेकिन नायिका भेद का प्रसार यहाँ की सामंती संस्कृति की जातीय विशेषता है। सामंतकाल में जनसाहित्य यहाँ भी रचा गया है, यूरोप में भी, लेकिन संत साहित्य की कुछ अपनी जातीय विशेषताएँ हैं। आधुनिक युग में साहित्य शरच्चन्द्र ने भी रचा है, वल्लथोल और भारती ने भी लेकिन बहुत सी बातों में इनके समान होते हुए भी प्रेमचन्द की अपनी जातीय विशेषताएँ हैं। इसलिए संस्कृति की जातीय विशेषताओं के विकास के लिए जातीय गठन ज़रूरी है।

सामाजिक संगठन के बाहर न संस्कृति का अस्तित्व है, न भाषा का। जब हिंदी-भाषी जाति न थी, तब जातीय भाषा के रूप में हिंदी भी न थी। वह खड़ी बोली के रूप में एक जनपद तक सीमित थी और वहाँ भी उसका एक टकसाली रूप न था, वरन् मिलते-जुलते अनेक रूप थे। खड़ी बोली का प्रसार और निखार का काम अभी पूरा नहीं हुआ और तब तक पूरा न होगा, जब तक हमारे जातीय विकास और जातीय गठन का काम पूरा न होगा। इसके लिए जहाँ औद्योगिक विकास आवश्यक है, खेती की उन्नति आवश्यक है, शिक्षा का प्रसार आवश्यक है, वहाँ इन कार्यों का संगठन करने के लिए और समस्त जातीय जीवन का संचालन करने के लिए जातीय राज्यसत्ता भी आवश्यक है। जातीय-भाषा हिंदी की पूर्ण समृद्धि के लिए जातीय गठन आवश्यक है।

जातीय आंदोलनों मे हर तरह के लोग शामिल होते हैं। इसलिए इन आंदोलनों का दिग्भ्रांत होना अचरज की बात नहीं। हम सबसे बड़े हैं, हमारे साहित्य के आगे सब कुछ तुच्छ है, इस तरह के भाव अक्सर देखने-सुनने को मिलते हैं। इसी तरह सीमाओं को लेकर झगड़े खड़े करना, एकता और मेलजोल के बदले ईर्ष्या-द्वेष का प्रचार आदि भी है।

इस तरह की दुर्भावनाओं से हम तभी बच सकते हैं जब यह याद रखें कि इस देश में हर जाति दूसरी को प्रभवित करती है, हर जाति का विकास दूसरी जातियों की सहायता और विकास पर निर्भर है। जातीय गठन के साथ अंतर्जातीय मैत्री पर ज़ोर देना भी आवश्यक है।

हिंदी-भाषी प्रदेश में जातीय आंदोलन पिछड़ा हुआ है। उत्तर प्रदेश के विभाजन की समस्या, हिंदी बनाम भोजपुरी-मैथिली आदि की समस्या, हिंदी-उर्दू की समस्या आदि हमारे जातीय जीवन के असंगठित होने के चिन्ह हैं। जितना ही प्रगतिशील विचारक इस जातीय आंदोलन को अपने आप बढ़ने के लिए छोड़ देंगे, उतना ही इस तरह की समस्याएँ और भी उलझती जायेंगी और नयी समस्याएँ खड़ी होती जायेंगी। इस तथ्य पर ज़ोर देना आवश्यक है कि हिंदी-भाषी जनता एक विशाल जाति है, उसके ऐतिहासिक विकास का सिलसिला कई सदियों से चल रहा है, हमारी भाषा और संस्कृति की उन्नति के लिए इस जाति का एक राज्य में संगठित होना आवश्यक है, इसका विशाल आकार शासन के लिए असुविधाजनक होने के बदले योजनाबद्ध सामाजिक विकास के लिए हितकर है, यह जातीय गठन न केवल हिर्दी-भाषियों के लिए वरन् सारे देश के लिए हितकर है। आशा है, हिंदी लेखक और हिर्दी प्रेमी पाठक इस समस्या की ओर उदासीन न रहेंगे।

जो लोग यह मानते हैं कि 19वीं सदी के आरंभ से पहले उत्तर भारत के समाज में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ, उनसे निवेदन है कि वे 16वीं-17वीं सदी में नये शहरों के उत्थान पर ध्यान दें, इस उत्थान का करण बतायें, भारत के आर्थिक जीवन में इन शहरों की भूमिका पर प्रकाश डालें, उस समय के ब्रिटेन के शहरों से इनकी तुलना करें और यह देखें कि इस समय यहाँ जो व्यापार बढ़ा, वह वैसा ही था जैसा पहले के सामंती समाज में था या उसका कुछ और महत्व था। जो लोग यह नहीं मानते कि हमारा जातीय निर्माण 16वीं सदी में आरंभ हुआ था, वे इस बात की व्याख्या करें कि ब्रजभाषा की कविता अपने क्षेत्र से बाहर जनसाधारण में क्यों लोकप्रिय हो रही थी, रामचरित मानस अवध के बाहर क्यों लोकप्रिय हो रहा था, तुलसीदास ब्रज और अवधी दोनों में क्यों लिख रहे थे, इस समय के कवियों की रचनाओं में अनेक बोलियों के शब्द और व्याकरण-रूप क्यों मिलते हैं? ऐसे सज्जन साहित्य की भी साखी लें और देखें कि संत साहित्य के सामंत विरोधी मूल्यों का सामाजिक आधार क्या है, वह साहित्य अनेक जनपदों की जनता का साहित्य बना था या नहीं और उसकी सामंत विरोधी जातीय चेतना को प्रकट करता है या नहीं। इस तरह आर्थिक जीवन, साहित्य-निर्माण और भाषा-विज्ञान तीनों की दृष्टि से 16वीं-17वीं सदी का समय हमारे जातीय उत्थान और जातीय गठन का युग ठहरता है।

जो लोग इस जातीय विकास और जातीय गठन का कार्य पूरा नहीं होने देना चाहते, उनसे निवेदन है कि वे इस तथ्य पर विचार करें कि हर संस्कृति की जातीय विशेषताएँ होती हैं, जातीय रूप होता है, हर भाषा की पूर्ण समृद्धि के लिए उसे बोलने वाली जाति का गठन आवश्यक होता है। जातीय गठन को रोकने का अर्थ है, भाषा और संस्कृति के विकास और समृद्धि को रोकना। जातीय गठन को रोकने का अर्थ है, किसी जाति के अंदर विद्यमान राज्यसत्ता के जीवाणुओं को कुचलना। भारत का विकास उसकी विभिन्न जातियों के विकास से ही संभव है। इसके लिए बड़ी संख्या वाली जातियों के राज्य बनाना, छोटी संख्या वाली जातियों के स्वायत्त प्रदेश कायम करना, प्रत्येक जाति को अपनी ही भाषा में शिक्षा पाने और अपना सांस्कृतिक जीवन संगठित करने का अधिकार देना आवश्यक है। एक जातीय प्रदेश के अंदर दूसरी भाषा और जाति के अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा भी आवश्यक है। इस तरह भारत सशक्त ज़ातियों का संघ बन कर अजेय होगा। यदि जातियाँ असंतुष्ट होकर लड़ती रहेंगी तो देश कमजोर होगा। बड़ी जातियों से छोटी जातियों को भय न हो, इसके लिए यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि सभी जातियों को समान प्रतिनिधित्व देने वाला ऐसा परिषद् कायम किया जाय जो लोकसभा के भारत व्यापी कार्यों पर नियंत्रण रख सके।

आज के भारत की एक अमिट सच्चाई है - विशाल हिंदी-भाषी जाति। इससे आँख चुरा कर कोई समस्या हल नहीं की जा सकती। अब समय आ गया है कि अपनी जातीय एकता कायम करने के लिए हिंदी-भाषी आगे बढ़ें।

7.हरिशंकर परसाई और 'तीसरे दर्ज़े के श्रद्धेय'

जीवन परिचय

हरिशंकर परसाई का जन्म 22 अगस्त 1924 को मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले के जमानी गाँव में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा उनकी स्थानीय पाठशालाओं और स्कूलों में हुई। उच्च शिक्षा के लिए वे नागपुर गए। वहीं से उनहोंने एम.ए. किया। फिर 'डिप्लोमा इन टीचिंग' की उपाधि हासिल की। कुछ सालों तक उन्होंने पढ़ाया भी। लेकिन बाद में नौकरी करने की बजाए मसिजीवी लेखक बनकर जीवनयापन करना ही उन्होंने श्रेयस्कर समझा। हिंदी में लेखन के आधार पर आजीविका चलाना आसान काम नहीं है। लेकिन परसाईजी जीवनपर्यंत अपने निश्चय पर अडिग रहे। जबलपुर से 'वसुधा' नाम की साहित्यिक मासिक पत्रिका का भी प्रकाशन उन्होंने किया। घाटे के बावजूद कई वर्षों तक उसका सफलतापूर्वक प्रकाशन होता रहा 'वसुधा' के साहित्यिक अवदान और लेखन के लिए जबलपुर विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.लिट् की मानद उपाधि देकर सम्मानित किया। अनेक पत्र पत्रिकाओं में वर्षो तक उन्होंने स्तंभ लेखन किया। उन्हें कई अन्य पुरस्कारों से भी सम्मानित किया गया जिसमें 1982 में केन्द्रीय साहित्य अकादमी सम्मान भी शामिल है। उनकी रचनाओं को उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में भी साहित्य सम्मान मिला। उन्होंने विश्व शांति सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि मंडल के सदस्य के नाते सोवियत संघ की यात्रा भी की।

परसाईजी कई क्षेत्रों में लगातार सक्रिय रहे। वे मध्य प्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के समय से ही अध्यक्ष मंडल के अध्यक्ष रहे। वे मजदूर आंदोलन से जुड़े हुए थे। अध्यापन के दौरान जीवन के विविधतापूर्ण अनुभवों ने उनके लेखन को ठोस सामाजिक आधार दिया। शिक्षक संघ की गतिविधियों से भी वे जुड़े रहे। परसाईज़ी का अगस्त 1995 में निधन हो गया।

साहित्यिक योगदान

श्री हरिशंकर परसाई चार दशकों से अधिक समय तक साहित्य लेखन में सक्रिय रहे। परसाईजी के साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है कि उन्होंने कहानी और निबंध की विधा को निरंतर तोड़ा है। उनकी रचनाओं में कहानी, रिपोर्ताज, संस्मरण, रेखाचित्र, पत्र

लेखन, साक्षात्कार, आत्मकथा, निबंध, आदि विधाओं की विशेषताओं का समुच्चय मिलता है। लेकिन उनके लेखन का केंद्रीय तत्व है - व्यंग्य। व्यंग्य को आमतौर पर लेखन की शैली माना जाता रहा है, लेकिन परसाईजी ने उसे स्वतत्र विधा का रूप दे दिया।

परसाईजी की रचनाओं में ताजगी और मौलिकता है। वे रोजमर्रा जीवन के भीतर से समस्याओं और सामाजिक आचारण से जुड़े प्रश्नों को उठाते हैं। इनमें हमारे संपर्क में आने वाले कई तरह के लोग भी शामिल हैं। उनके तरह-तरह के आचरण हैं और अपनी आकांक्षाएँ हैं, कुंठाएँ हैं, नैतिक संकट हैं और तरह-तरह के बद्धमूल संस्कार हैं। विभिन्न विधाओं के पारस्परिक अन्तरावलंबन के जरिए व्यंग्य उभारना उनकी लेखन क्षमता की सबसे बड़ी विशेषता है।

हरिशंकर परसाई के संदर्भ में परंपरागत बनावट को तोड़ना जरूरी हो जाता है। परसाईजी ने व्यंग्य के माध्यम से इन सभी क्षेत्रों में जारी प्रतिगामिता और रूढ़िवाद को तोड़ा है। उनकी प्रत्येक रचना अपने समय और उससे जुड़े संदर्भों का उत्पादन होती है। इसलिए यह ज़रूरी हो जाता है कि रचना में निहित लेखकीय संदेश को समझने के लिए उस समय और संदर्भ को ध्यान में रखें।

परसाईजी जिस तरह के जीवनानुभवों से प्रेरित होकर व्यंग्य लेखन की ओर उन्मुख हुए, वे जनपक्षीय, प्रगतिशील और मानवीय करुणा से ओतप्रोत लेखन के आधार होते हैं। यहाँ यह भी समझना ज़रूरी है कि निजी अनुभवों से उत्पन्न तल्खी किसी लेखक को महान् रचनाकार नहीं बनाती, जब तक कि वह अपने उन अनुभवों को सामाजिक वास्तविकताओं के परिप्रेक्ष्य में रखकर नहीं जांचता-परखता। रचना में व्यंग्य का जन्म यथार्थ में निहित असंगति और अंतर्विरोध की पहचान तथा उनकी अभिव्यक्ति के माध्यम से होता है। यथार्थ में अंतर्विरोध की पहचान सरल नहीं होती क्योंकि यथार्थ जितना अधिक जटिल है, उसके अंतर्विरोधी पहलू भी उतने ही अंतर्ग्रथित होते हैं। जब रचनाकार के सम्मुख यथार्थ की जटिलता उद्घाटित होने लगती है तो वह उस जटिलता के कारणों को पहचानने की प्रक्रिया में, उसमें निहित असंगतियों, अंतर्विरोधों और विषमताओं को पहचानने लगता है। वह उन प्रयासों को भी देखता है जिनके द्वारा समाज का शक्तिशाली वर्ग इन पर आवरण डालने की कोशिश करता है। वह इन स्थितियों में निहित विडंबना को पहचान जाता है और उसके अंदर गहरा आक्रोश जन्म लेता है। यही आक्रोश रचना में व्यंग्य बनकर फूटता है।

परसाईजी अपनी रचनाओं में प्रायः मध्यवर्गीय चरित्र लेते हैं। इस व्यंग्य निबंध में भी मध्यवर्गीय चरित्र ही केंद्र में है। उनमें जो द्वैतता और छद्म है उसको वे व्यंग्य का निशाना बनाते हैं। इसके साथ ही वे समाज के प्रभुवर्ग पर भी तीखा व्यंग्य करते हैं,

लेकिन इस वर्ग पर उनके व्यंग्य में आक्रोश और गुस्सा भी अभिव्यक्त होता है। व्यंग्य के लिए वे कथ्य, चरित्र, भाषा और शैली सभी का प्रयोग करते हैं। इसीलिए उनकी रचनाओं में व्यंग्य उसके आंतरिक गठन में निहित होता है, ऊपर से आरोपित नहीं लगता।

परसाईजी का व्यंग्य हास्य के लिए नहीं है बल्कि अपने पाठकों को सामाजिक विषमताओं के प्रति सावधान और जागरूक बनाने के लिए है। उनका लेखन उनके विचारों का वाहक है जिसे उनके संपूर्ण लेखन में अभिव्यक्त होता हुआ पाते हैं। परसाईजी की रचनाओं पर विचार करते हुए इस पक्ष को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

परसाईजी का संपूर्ण लेखन छह खंडों में विभाजित 'परसाई रचनावली' में संकलित है। वैसे उनकी प्रुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं :

कहानी संग्रह : 'हँसते हैं रोते हैं', 'जैसे उनके दिन फिरे'।

उपन्यास : 'रानी नागफनी की कहानी', 'तट की खोज'।

निबंध संग्रह : 'तब की बात और थी', 'भूत के पाँव पीछे', 'बेईमानी की परत','पगडंडियों का जमाना', सदाचार का ताबीज', 'शिकायत मुझे भी है', 'वैष्णव की फिसलन', 'विकलांग श्रद्धा का दौर'।

अन्य विधाएँ : 'निठल्ले की डायरी', 'तिरछी रेखाएँ', 'एक लड़की पाँच दीवाने', 'बोलती रेखाएँ', 'माटी कहे कुम्हार से', 'पाखंड का अध्यात्म तथा 'सुनो भाई साधो'।

रचना के बारे में

'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' हरिशंकर परसाई की प्रतिनिधि निबंध रचना है। यह निबंध उनके संग्रह 'वैष्णव की फिसलन' में संकलित है। परसाई ने व्यंग्यपरक निबंधों को उत्कर्षता प्रदान की। इस क्षेत्र के वे श्रेष्ठ हिंदी रचनाकार हैं। उनके निबंध का विषय राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक होता है। स्वातंत्र्योत्तर भारत की सामाजिक और राजनीतिक विषमता को उन्होंने अपने निबंधों का विषय बनाया है। 'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' का रचनाकाल स्वतंत्रता की पच्चीसवीं वर्षगाठ के समय यानी 1972 ई. के आसपास का है।

'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' में निबंधकार ने मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग की सुविधाभोगी मानसिकता पर तीखा प्रहार किया है। सत्य, न्याय और क्रांति पर प्रवचन देने वाले बुद्धिजीवी पर लेखक का सीधा-सीधा कटाक्ष है जिसकी कथनी और करनी में बहुत बड़ा अंतर दिखाई देता है। बुद्धिजीवी की दोहरी नैतिकता को प्रकाश में लाने के लिए इस निबंध की रचना हुई है।

लेखक द्वारा अपने समय की समस्याओं पर विचार करना उसका सामाजिक और रचनात्मक दायित्व है। परसाईजी ऐसे ही लेखक हैं जो अपनी समकालीन समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में साहित्य रचते रहे हैं। 'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' में स्वतंत्रता की पच्चीसवीं वर्षगांठ पर देश के राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक स्थितियों का आकलन किया गया है। बड़े-बड़े दावे करने वाला बुद्धिजीवी किस तरह मामूली स्वार्थों के लिए समझौता करता है। सामाजिक परिवर्तन और नैतिकता की बात करने वाला बुद्धिजीवी चंद रुपये बचाने के लिए तीसरी श्रेणी में यात्रा करता है और प्रथम श्रेणी का किराया वसूलता है। कथनी और करनी का यह अंतराल उसकी बौद्धिक जड़ता और पाखंड का प्रमाण है। ऐसे लोग समाज को क्या दिशा दे सकते हैं। वे आम आदमी को अपने कथन और कर्म से कैसे प्रभावित कर सकते हैं। यही वह केंद्रीय प्रश्न है जो लेखक को कचोटता है और इसी से इस व्यंग्य निबंध का जन्म हुआ है। हरिशंकर परसाई ने जब यह निबंध लिखा था, तब से स्थितियाँ और बदतर हुई हैं। बुद्धिजीवी वर्ग का पाखंड और दोहरी नैतिकता का आडंबर और बढ़ा है। यही कारण है कि इस निबंध की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है।

हरिशंकर परसाई निबंध में अपनी तरह से एक नयी राह को चुनते हैं। उनके निबंध में कई तरह के संश्लिष्ट अनुभव हमें प्राप्त होते हैं। उन्होंने व्यंग्य से निबंध को इतना अधिक वास्तविक बना दिया है कि निबंध के पुराने प्रतिमान उनके सामने बौने नजर आते हैं। 'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' में वे अपनी बात जीवन के वास्तविक अनुभवों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं। वे अपनी बात की शुरुआत अपने एक यात्रा-अनुभव से करते हैं। आत्मालोचना अपने वर्ग में व्याप्त पाखंड पर व्यंग्य करने का प्रभावशाली तरीका है। लेखक से वे पूरे बुद्धिजीवी वर्ग पर आते हैं और उसकी आत्महीनता को रखते हैं। बुद्धिजीवी के बहाने विश्वविद्यालयों और उनके पाठ्यक्रमों को अपना निशाना बनाते हैं। बुद्धिजीवी के दोहरे मानदण्ड को सामने रखते हैं। स्वतंत्रता के पच्चीस वर्ष बाद भी समाज के प्रतिमान नहीं बदले। उसके नजरिए में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इस पर वे गहरी चिंता व्यक्त करते हैं। राजनीति के खोखले नारे और इस नारे के भीतर दम तोड़ता हुआ कथित समाजवाद उस समय की सच्चाई है। भ्रष्टाचार, अनिश्चय और अविश्वास यही हमारी पीढ़ी की अर्जित संपत्ति है। यह चिंता परसाईजी के निबंध में बराबर व्यक्त हुई है।

परसाईजी के निबंधो की अपनी निजी शैली है। निबंध की समूची बनावट में उनकी मौलिकता और नवीनता झलकती है। वे व्यंग्य के माध्यम से कहानी और निबंध दोनों की परंगरागत बनावट को तोड़ते हैं। 'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' में भी हमें कहानी, निबंध, आत्मकथा और यात्रा संस्मरण आदि विधाओं के तत्वों को जोड़कर वे इस निबंध को नये प्रकार से रचते हैं। लेकिन इन विधाओं की विशेषताओं का उपयोग वे व्यंग्य को उभारने और प्रभावशाली बनाने के लिए करते हैं। परसाईजी के निबंध में जिस समाज का चित्र है

भाषा भी उसी की बोल-चाल में ढली हुई है। भाषा में खालिस देशी बोली के तेवर हैं। हरिशंकर परसाई के लेखन का महत्व व्यंग्य की ऊर्जा के विस्फोट में है। व्यंग्य की उनकी भाषा संप्रेषणीय भी है और सर्जनात्मक भी।

शब्दावली

मेजबान : किसी आयोजन को आयोजित करन वाला

ज्यार्ज लुकाच - प्रसिद्ध मार्क्सवादी लेखक और चिंतक।

निर्देशक सिद्धांत - भारतीय संविधान के अन्तर्गत नीति निर्देशक तत्व जिससे कार्यपालिका को मार्ग निर्देशन प्राप्त होते हैं।

जचकी : वह अवधि जब स्त्री के बच्चा होने वाला होता है और बच्चा होने के बाद जितने दिन तक वह घर के कामों से अलग रहती है। इस अवधि में माँ को खाने-पीने के लिए पौष्टिक आहार दिया जाता है।

व्याखा के लिए प्रमुख अंश

1. 'श्रद्धेय के भी दर्ज़े होते हैं। तीसरे दर्ज़े का श्रद्धेय प्रेरणा नहीं देता। वह शर्म देता है। गांधीजी की बात अलग थी। वे तीसरे को भी पहले दर्ज़े की महिमा दे देते थे। हम तो पहल दर्ज़े में बैठकर भी तीसरे की हीनता अनुभव करते हैं। संत और बुद्धिजीवी में यही फर्क है। मुझे विशेष सावधान रहना पड़ता है।

2. लौटते में मैं तीसरे दर्ज़े में यह कहकर बैठ जाता हूँ कि पहला दर्ज़ा रात को असुरक्षित रहता है। यही बुद्धिजीवी की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था है, जो देश की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अनुरूप ही है। देश के प्रति बुद्धिजीवी बहुत जागरूक है। वह पहले दर्ज़े से उतरता और तीसरे में चढ़ता है।

3. सोचता हूँ - मुझे हो क्या गया है? इतना अनिश्चय, इतना अविश्वास! क्या आज़ादी के पच्चीस वर्षों ने यही अनिश्चय और अविश्वास की मानसिकता दी है हमारी पीढ़ी को? और यही हम आगामी पीढ़ी को विरासत में दे रहे हैं?

4. जिस रास्ते पर चल रहे हैं, वह 'समाजवाद मार्ग' है, पर ले कहीं और जा रहा है। महात्मा गांधी मार्ग पर सारे ठग रहते हैं। रवीन्द्र मार्ग पर बूचड़खाना खुला है। परीक्षा में कोई बैठता है, और पास दूसरा हो जाता है। सारे देश में शक्कर के दाम दो रुपये किलो निश्चित किये गए हैं, पर इस घोषणा के बाद ही उसका दाम चार रुपये से बढ़कर सवा चार रुपये हो जाता है। सहकारी दूकान के सामने कतार लगी है और पीछे के दरवाज़ों से चीज़ें कालाबाजार में चली जा रही हैं। क्षेत्र में काम कोई करता है और टिकिट दूसरे को मिल जाती है। हम

किसी को महान् भ्रष्टाचारी घोषित करते हैं और वह सदाचार-अधिकारी बना दिया जाता है।

व्याख्या का उदाहरण

पच्चीस सालों से क्या-क्या नहीं चिपका है इस देश में! संविधान के निर्देशक सिद्धांत चिपके हैं। पर अमल नहीं। चिपका है गांधीजी का वाक्य -'स्वराज्य में हर आँख का आँसू पोंछा जायगा'। मगर यही तय नहीं हो पा रहा कि रुला कौन रहे हैं। पचपन करोड़ के हाथों में एक-एक रुमाल दे दिया गया है कि लो, एक दूसरे के स्वराज्य के आँसू पोंछो। चिपके कागज़ का क्या भरोसा। समाजवादी ढंग का नारा चिपका था। पर काम सब बेढ़ंगा हो रहा था। फिर 'जनतांत्रिक समाजवाद' चिपक गया। फिर 'समाजवाद' चिपका। अब 'गरीबी हटाओ' चिपका है। मगर कीमतें बढ़ रही हैं। चिपके कागज़ का कोई भरोसा नहीं रह गया।

व्याख्या-संकेत

यदि आपने निबंध पढ़ लिया है तो आपने जान लिया है कि यह अंश हरिशंकर परसाई के व्यंग्य निबंध 'तीसरे दर्ज़े के श्रद्धेय' में से लिया गया है। परसाईजी का यह व्यंग्य निबंध उस कथित बुद्धिजीवी पर तीक्ष्ण प्रहार करता है जो बातें तो क्रांति की करता है, लेकिन जिसका आचरण उसके विपरीत होता है।

उपर्युक्त अंश मे निबंधकार अपने से संबंधित एक घटना का उल्लेख करते हुए अपने मन में पैदा हुए भ्रम को तत्कालीन हालात से जोड़ देता है। वह गाड़ी पकड़ने के लिए स्टेशन पर इंतजार कर रहा है। अधिकारियों से वह गाड़ी के आने का समय पूछता है, वहाँ नोटिस बोर्ड पर लगे टाइम-टैबिल में भी देखता है, फिर भी उसे विश्वास नहीं होता। नोटिस बोर्ड पर चिपके हुए टाइम-टेबिल पर भरोसा करे या नहीं इसी पर विचार करता हुआ लेखक आज़ादी के पच्चीस साल बाद की स्थितियों पर विचार करता है। इस अंश का यही संदर्भ है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश का संविधान बना। उसमें नीति-निर्देशक सिद्धांत लिखे हुए हैं जिनके अनुसार कार्यपालिका (सरकार) को काम करना चाहिए। लेकिन सरकारें उन नीति-निर्देशक सिद्धांतों पर अमल तो दूर उनकी परवाह भी नहीं करती। लेखक गांधीजी के एक कथन कि आजादी प्राप्त होने के बाद 'हर आँख का आँसू पौंछा जायगा' उसे भी भूल दिया गया। अपने व्यंग्यात्मक अंदाज़ में वे यह प्रश्न करते हैं कि अभी तो यही तय नहीं है कि 'रुला कौन रहे हैं' जाहिर है कि लोगों के दुख-दर्द दूर होने की बजाए उन्हें दूसरी-दूसरी बातों से गुमराह किया जा रहा है। एक तरफ स्वराज्य की बात है तो दूसरी तरफ समाजवाद की। लेकिन न तो आम आदमी को स्वराज्य मिला और न ही समाजवाद

आया। सभी काम उससे उलट ही होते रहे। लेखक अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहता है कि अब जब गरीबी हटाओं का नारा दिया जा रहा है तो वास्तव में कीमतें बढ़ रही हैं। एक लोकतांत्रिक देश में यदि कथनी और करनी में इतना अंतर हो तो इससे जनता की परेशानियाँ कितनी बढ़ जाएगी, इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

भारत के आजाद होने के बाद जो सरकारें बनी उन्होंने लोकतंत्र, समाजवाद और गरीबी हटाने के जो वादे किए वे कभी पूरे नहीं हुए। यहाँ इसी बात को लेखक ने व्यंग्य द्वारा कहा है। स्टेशन पर टाइम टेबल का चिपका होना और गाड़ी का उसके अनुसार न पहुँचना यहाँ ऐसा रूपक बन जाता है जो उस समय की राजनीतिक स्थितियों पर व्यंग्य का माध्यम बन जाता है। चिपकना क्रिया के द्वारा वे उन सिद्धांतों के चिपकने से जोड़ देते हैं जो दुकान पर साइनबोर्ड की तरह लगा तो है लेकिन जिस पर लिखी बातों का कोई अर्थ नहीं रह गया है। राजनीतिक अंतर्विरोध को उभारते हुए देश की विडंबनापूर्ण स्थिति का चित्रण करते हुए वे व्यंग्य उभारते हैं। इन बातों के परिप्रेक्ष्य में आप उपर्युक्त अंश की भाषा और शैली संबंधी विशेषताओं को उजागर कर सकते हैं।

सहायक पुस्तकें

परसाई रचनावली (छह भाग), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

मूल पाठ : निबंध

तीसरे दर्ज़े के श्रद्धेय

बुद्धिजीवी बहुत थोड़े में संतुष्ट हो जाता है। उसे पहले दर्ज़े का किराया दे दो ताकि वह तीसरे में सफर करके पैसा बचा ले। एकाध माला पहना दो, कुछ श्रोता दे दो और भाषण के बाद थोड़ी तारीफ - वह मान जाता है, इतने में। मैं भी विश्वविद्यालय में भाषण देकर संतुष्ट था। उस शहर से बीस मील इधर के स्टेशन से मैं तीसरे से पहले दर्ज़े में आ गया था, जिससे मेज़बानों को बुद्धिजीवी को तीसरे दर्ज़े से उतारने की शर्म न झेलनी पड़े। मैं दरवाज़े पर हेण्डिल पकड़े तब तक खड़ा रहा, जब तक उन्होंने मुझे देख नहीं लिया। ऐसा हो चुका है कि स्वागतकर्ता मुझे पहले दर्ज़े में तलाश कर रहे हैं और मैं चुपचाप तीसरे दर्ज़े से उतरकर उनका इंतज़ार कर रहा हूँ। जब वे मिलते हैं, तो दोनों पार्टियों को शर्म महसूस होती है। वे सोचते हैं कि थर्ड क्लासिये को बुला लिया। और मैं सोचता हूँ - इन्होंने मुझे पकड़ लिया। कभी मौका मिला तो नज़र बचाकर प्लेटफार्म पर तीसरे दर्ज़े के सामने से सरककर पहले के सामने आ जाता हूँ और फिर बाबू को टिकिट इस तरह देता हूँ कि मेजबान जान न सके कि वह तीसरे दर्ज़े का है।

'श्रद्धेय के भी दर्ज़े होते हैं। तीसरे दर्ज़े का श्रद्धेय प्रेरणा नहीं देता। वह शर्म देता है। गांधीजी की बात अलग थी। वे तीसरे को भी पहले दर्ज़े की महिमा दे देते थे। हम तो पहल दर्ज़े में बैठकर भी तीसरे की हीनता अनुभव करते हैं। संत और बुद्धिजीवी में यही फर्क है। मुझे विशेष सावधान रहना पड़ता है। पाठ्यक्रम में आ गया हूँ। कोर्स का लेखक हो गया हूँ। कोर्स का लेखक वह पक्षी है, जिसके पाँवों में घुंघरू बाँध दिये गए हैं। उसे ठुमककर चलना पड़ता है। ये आभूषण भी हैं और बेड़ियाँ भी। रायल्टी मिलने लगती है तो जी होता है कि 'सत्साहित्य' ही लिखो, जिससे लड़के-लड़कियों का चरित्र बने। उसे आचार्यगण तुरंत गले लगा लेंगे। परेशानी यही है कि 'सत्साहित्य' कुल आठ-दस वाक्यों में आ जाता है, जैसे - सत्य बोलो, किसी को कष्ट मत दो, ब्रह्मचर्य से रहो, परायी स्त्री को माता समझो, आदि।'

एक तो बुद्धिजीवी, फिर कोर्स का बुद्धिजीवी - मुझे विशेष सावधान रहना पड़ता है। कितना ही प्रखर बुद्धिजीवी हो, अगर तीसरे दर्जे से उतरता हुआ देख लिया जाता है, तो उसका मनोबल घट जाता है। तीसरे दर्ज़े से उतरा और बुद्ध (नहीं अबुद्ध) शाकाहारी होटल में ठहरा बुद्धिजीवी आधा बुझ जाता है। मैं मनोबल बनाये रखने के लिए पन्द्रह-बीस मील पहले तीसरे से पहले दर्ज़े में आ जाता हूँ और पेट चाहे पचा न सके, अच्छे मांसाहारी होटल में ठहरता हूँ। पहला दर्ज़ा और गोश्त बुद्धिजीवी को प्रखर बनाते हैं।

लौटते में मैं तीसरे दर्ज़े में यह कहकर बैठ जाता हूँ कि पहला दर्ज़ा रात को असुरक्षित रहता है। यही बुद्धिजीवी की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था है, जो देश की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अनुरूप ही है। देश के प्रति बुद्धिजीवी बहुत जागरूक है। वह पहले दर्ज़े से उतरता और तीसरे में चढ़ता है।

मेरे भाषण का विषय था - 'आजादी के पच्चीस वर्ष' सामने लड़कियाँ बैठी थीं, जिनकी शादी बिना दहेज के नहीं होने वाली थी। बैल की तरह मार्केट में उनके लिए पति खरीदना ही होगा। वर का बाप जचकी तक का खर्च जोड़कर ले लेगा। स्त्री के लिए अभी भी पत्नी के पद पर नौकरी सबसे सुरक्षित जीविका है। और लड़के बैठे थे, जिन्हें डिग्री लेने के बाद सिर्फ़ सिनेमा-घर पर पत्थर फेंकने का काम मिलने वाला है। आज़ादी के पच्चीस वर्षों का यही हिसाब है। पर पिछले दो वर्षों से कहा जा रहा है कि देश में क्रांति हो रही है। बुद्धिजीवी इसे समझे और इस प्रक्रिया में सहयोगी बने। बुद्धिजीवी को क्रांति की बात करने में क्या लगता है। वह सारा गुस्सा सरकार पर उतार देता है। इससे वाहवाही मिलती है, वह साहसी कहलाता है, लोकप्रिय होता है- मगर यह छद्म क्रांतिकारिता है। ऐसा लेखक सरकार पर नाटकीय हमले करके सारी क्रांतिविरोधी बुर्जुआ ताकतों को बचा लेता है। इस तरह वह बुर्जुआसमर्थक हो जाता है। लुकाच का तो यही निष्कर्ष है। माँग है तो मैंने क्रांतिकारिता की बात की। तीन पहले दर्ज़े का किराया और पेट में मुर्गा बुद्धिजीवी को क्रांतिकारी बना देता हे। मुर्गा दिन में सबसे पहले क्रांति का आह्वान करता है। क्रांति की बाँग देता है और फिर घूड़े पर दाने बीनने लगता है। भारतीय बुद्धिजीवी का भी यही हाल है। क्रांति की बाँग, घूड़े पर दाने चुगना और हलाल होने का इंतज़ार करना। यों दूध और कलाकंद खानेवाले (नहीं सेवन करनेवाले) भी अपने को क्रांतिकारी बुद्धिजीवी कहते हैं, पर मैं नहीं मानता।

लौटने के लिए स्टेशन पहुंचा तो टहलते हुए सोचने लगा - इन पच्चीस वर्षों ने क्या दिया? इस समय मेरी क्या चिंता है। क्या मैं क्रांति की बात सोच रहा हूँ? नहीं, मुझमें यात्रा की घबराहट है। बर्थ की घबराहट है। मैं बार-बार टिकिट निकालकर देखता हूँ। आज का ही है? कहीं जाली तो नहीं है? रिजर्वेशन सही है कि नहीं? कोई भरोसा नहीं।

मुझे गाड़ी के समय की चिंता है। मैं चिपका हुआ टाइम-टेबिल देखता हूँ। कहीं ऐसा तो नहीं है कि गाड़ी निकल गयी हो। टाइम-टेबिल देखता हूँ। पर मुझे इस पर भरोसा नहीं। यह पुराना भी हो सकता है। मैं वहीं खड़े बाबू से पूछता हूँ। वह कहता है, 'आपने अभी तो वह चिपका हुआ टाइम-टेबिल देखा है।' मैं कहता हूँ, 'चिपके का क्या भरोसा! पच्चीस सालों से क्या-क्या नहीं चिपका है इस देश में! संविधान के निर्देशक सिद्धांत चिपके हैं। पर अमल नहीं। चिपका है गांधीजी का वाक्य - 'स्वराज्य में हर आँख

का आँसू पोंछा जायगा'। मगर यही तय नहीं हो पा रहा कि रुला कौन रहे हैं। पचपन करोड़ के हाथों में एक-एक रुमाल दे दिया गया है कि लो, एक दूसरे के स्वराज्य के आँसू पोंछो। चिपके कागज़ का क्या भरोसा। समाजवादी ढंग का नारा चिपका था। पर काम सब बेढ़ंगा हो रहा था। फिर 'जनतांत्रिक समाजवाद' चिपक गया। फिर 'समाजवाद' चिपका। अब 'गरीबी हटाओ' चिपका है। मगर कीमतें बढ़ रही हैं। चिपके कागज़ का कोई भरोसा नहीं रह गया।

बाबू मुझे गाड़ी का समय बताता है। पर मैं एक बाबू पर भरोसा नहीं करता। एक पर भरोसा करके नागपुर में भुगत चुका हूँ। उसने कहा था कि यह गाड़ी बैतूल रुकती है। पर बाद में मालूम हुआ कि नहीं रुकती। मैं दूसरे बाबू से पूछता हूँ। थोड़ा आश्वस्त होता हूँ।

मैं अब काले तख्ते पर देखता हूँ। लिखा है - 'राइट टाइम'। मुझे भरोसा नहीं होता। कल का लिखा हो और मिटाया न गया हो। या कोई और गाड़ी 'राइट टाइम' हो लेकिन लिख इसके सामने दिया गया हो। मैं फिर दो बाबुओं से पूछता हूँ, जो कहते हैं कि गाड़ी 'राइट टाइम' है। फिर भी मुझे विश्वास नहीं होता। गाड़ी समय से पहले भी आ सकती है और लेट भी।

अब मुझे समय की चिंता लग गयी है। रेलवे की घड़ी का भरोसा नहीं। महीनों बन्द पड़ी रहती हैं ये घड़ियाँ। अपनी घड़ी देखता हूँ, पर उस पर भी मुझे भरोसा नहीं। पता नहीं, कब चाबी दी। फिर इन घड़ियों का कोई ठिकाना है। मैं एक-दो लोगों से समय और पूछ लेता हूँ।

अब मैं प्लेटफार्म पर खड़ा गाड़ी का इंतज़ार कर रहा हूँ। मैं जानता हूँ, गाड़ी पूर्व से आती है, पर मैं पश्चिम की तरफ भी देखता हूँ। दोनों तरफ से गाड़ी का इंतजार करता हूँ। कोई ठिकाना नहीं है। पूर्व से आने वाली गाड़ी पश्चिम से भी आ सकती है।

सोचता हूँ - मुझे हो क्या गया है? इतना अनिश्चय, इतना अविश्वास! क्या आज़ादी के पच्चीस वर्षों ने यही अनिश्चय और अविश्वास की मानसिकता दी है हमारी पीढ़ी को? और यही हम आगामी पीढ़ी को विरासत में दे रहे हैं?

जिस रास्ते पर चल रहे हैं, वह 'समाजवाद मार्ग' है, पर ले कहीं और जा रहा है। महात्मा गांधी मार्ग पर सारे ठग रहते हैं। रवीन्द्र मार्ग पर बूचड़खाना खुला है। परीक्षा में कोई बैठता है, और पास दूसरा हो जाता है। सारे देश में शक्कर के दाम दो रुपये किलो निश्चित किये गए हैं, पर इस घोषणा के बाद ही उसका दाम चार रुपये से बढ़कर सवा चार रुपये हो जाता है। सहकारी दूकान के सामने कतार लगी है और पीछे के दरवाज़ों से

चीज़ें कालाबाजार में चली जा रही हैं। क्षेत्र में काम कोई करता है और टिकिट दूसरे को मिल जाती है। हम किसी को महान् भ्रष्टाचारी घोषित करते हैं और वह सदाचार-अधिकारी बना दिया जाता है।

अनिश्चय और अविश्वास!

दवा की शीशी पर नाम सही है, पर पता नहीं क्या खा रहे हैं। 'हनुमानभक्त' मेरा एक मित्र कहता है, "अब आदमी पर भरोसा नहीं रहा। कुछ निश्चित नहीं है। अब तो हनुमानजी से प्रार्थना करते हैं कि अब के जब राम के काम से गन्ध-मादन जाओ तो हमारे लिए भी पेचिश की दवा लेते आना।"

गाड़ी आती है। तीसरे दर्ज़े के श्रद्धेय जब अपनी सुरक्षित बर्थ पर जाते हैं, तो देखते हैं कि वहाँ कोई दूसरा बिस्तर फैला रहा है।

9. अज्ञेय और 'वसंत का अग्रदूत'

जीवन परिचय

आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में अज्ञेय का महत्व सर्वविदित है। कवि और चिंतक के रूप में लगभग आधी सदी तक परवर्ती पीढ़ी के लिए प्रेरणा और चुनौती बने रहे। उनकी रचनाशीलता, उनके साहित्य चिंतन, जीवनव्यापी साहित्यिक आयोजन और अन्य गतिविधियों में सांस्कृतिक अस्मिता का आग्रह निरंतर व्यक्त होता हुआ दिखाई देता है।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' का जन्म 7 मार्च 1911 को उत्तर प्रदेश देवरिया जिले में कसिया नामक स्थान में, एक पुरातत्व खुदाई शिविर में हुआ था। वात्स्यायनजी की प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही हुई थी। पंडित से संस्कृत, मौलवी से फारसी और उर्दू और अमरीकी पादरी से अंग्रेजी की पढ़ाई की। सन् 1919 में अज्ञेय पिता के साथ नालंदा आ गये। बचपन के दिन उनके पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में बीते। यहीं से उनमें हिंदी के प्रति सहज अनुराग उत्पन्न हुआ। 1921-1925 तक उनके पिता का तबादला दक्षिण भारत के नीलगिरि प्रदेश में हो गया था। इस बीच अज्ञेय ने अपने पिता के समृद्ध पुस्तकालय का जमकर उपयोग किया।

विद्यार्थी जीवन में उन्होंने देश-विदेश के साहित्य का व्यापक अध्ययन किया। उन्हें सबसे अधिक प्रभावित टेनीसन की कविताओं ने किया। टेनीसन की कृतियों की गीतात्मक चेतना और लयात्मक संवेदना ने उन्हें अभिभूत कर दिया। मद्रास में, कॉलेज के दिनों तक अज्ञेय में सौंदर्य का एक विशिष्ट अर्थ खुलता चला गया। इंटरमीडियेट तक के अध्ययन ने अज्ञेय को अनेक दिशाओं में सम्पन्न किया।

बी.एस.सी. करने के लिए सच्चिदानंद को लाहौर के फोरमेन कॉलेज में भेजा गया। अज्ञेय की निष्ठा साहित्य के प्रति अधिक थी। उनके लिए विज्ञान का अध्ययन संसार और ब्रह्माण्ड की सही समझ के लिए एक सहायक तत्व के रूप में था। बाद में उन्होंने अंग्रेजी से एम.ए. करने का निश्चय किया। एम.ए. पूर्वार्द्ध की पढ़ाई के वक्त अज्ञेय का क्रांतिकारियों से संपर्क बना। 1929 में वे हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी के सदस्य हो चुके थे। यह वह क्रांतिकारी संगठन था जिसमें भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद, आदि क्रांतिकारी शामिल थे। 1930 में अज्ञेय बम बनाने के सिलसिले में गिरफ्तार किए

गए, फिर दिल्ली षड्यंत्र केस के सिलसिले में उन पर मुकदमा चला और उन्हें कारावास की सजा हुई।

जेल से छूटने के उपरांत उन्होंने पत्रकारिता में कुछ अनुभव हासिल किया। 'सैनिक' और 'विशाल भारत' पत्र से कुछ अवधि के लिए जुड़े। सन 1942 में दिल्ली में अखिल भारतीय फासिस्ट विरोधी सम्मेलन का आयोजन किया। सुरक्षात्मक युद्ध की अनिवार्यता में अपने विश्वास को प्रमाणित करने के लिए वे दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान अंग्रेजी सेना में भरती हो गए। सन् 1945 तक वे कोहिमा फ्रंट पर कार्यरत थे।

सन् 1944 में अज्ञेय ने 'तार सप्तक' का संपादन किया। 'तार सप्तक' में उस समय के सात युवा कवि शामिल किए गए जिनमें अज्ञेय भी एक थे। 'तार सप्तक' को प्रयोगवाद की शुरुआत का आधार माना जाता है। मार्च 1947 में वे इलाहाबाद आ गए और 1950 तक वहीं रह कर 'प्रतीक' पत्रिका का संपादन किया। सन् 1950 में वे दिल्ली चले आये और रेडियो की नौकरी करते हुए दो वर्षों तक 'प्रतीक' निकालते रहे। 1955 तक वे रेडियो में रहे। 1955 में यूनेस्को के निमंत्रण पर अज्ञेय एक वर्ष के लिए यूरोप भ्रमण के लिए गये। उनका पहला विवाह ज्यादा देर नहीं टिक पाया और जल्दी ही संबंध विच्छेद हो गया। उनका दूसरा विवाह प्रख्यात कलाविद् कपिला वात्स्यायन से हुआ। समय-समय पर उन्होंने विदेश यात्राएँ की। इन यात्राओं ने जहाँ एक ओर उनके भावबोध का विस्तार किया, तो दूसरी ओर, उनकी रचनाधर्मिता को वैश्विक आयाम भी प्राप्त हुआ। कुछ समय वे अमरीका के कैलिफोर्निया राज्य में भारतीय संस्कृति और साहित्य के अध्यापन से जुड़े रहे। 1964 ई. में वे प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्रिका 'दिनमान' के संपादक बनाए गए। उन्हें उनकी काव्यकृति 'आँगन के पार द्वार पर' 1961 में साहित्य अकादेमी पुरस्कार और कुछ सालों बाद में 'कितनी नावों में कितनी बार' के लिए भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हुआ। इस पुरस्कार की राशि का उपयोग उन्होंने 'वत्सल निधि' नामक संस्था की स्थापना के लिए किया। वे लेखकों के शिविर और व्याख्यान मालाओं को आयोजित कर देश की सांस्कृतिक चिंता को जताते रहे।

अज्ञेय ने कविता और साहित्य को बंद कमरे में नहीं पाया था। उसके लिए वे अनेक तरह के अनुभव की यात्रा थी। उन्होंने हिंदी लेखकों के बीच हमेशा संवाद स्थापित करने का प्रयत्न किया। नये रचनाकार और पुरानी पीढ़ी के रचनाकार के बीच के अंतराल को भी पाटने की कोशिश की। डॉ. रमेश चंद्र शाह के शब्दों में " मेरी स्वाधीनता सबकी स्वाधीनता के अन्वेषी अज्ञेय की संवादोन्मुख समकालीनता का ठोस प्रमाण न केवल उनके हाल-हाल तक के चिंतन में उपलब्ध है बल्कि उसे उनके द्वारा आयोजित लेखक शिविरों में भी बराबर देखा जा सकता है।" अज्ञेय 1987 तक लगातार रचनाकर्म में संलग्न रहे। इसी वर्ष उनका निधन हुआ।

साहित्यिक योगदान

निर्मल वर्मा ने 'कला का जोखिम' में अज्ञेय पर टिप्पणी करते हुए लिखा था "गाँधी ने शायद उन्हें कभी उद्वेलित नहीं किया, वह असली अर्थों में नेहरु युग के प्रतिनिधि लेखक माने जा सकते हैं। रेडिकल, लेकिन मार्क्सवादी नहीं, लोकतंत्र की मान्यताओं में विश्वास करने वाले, जिसके भीतर उन्होंने वैयक्तिक स्वतंत्रता को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना, अपनी मानसिक संरचना में अज्ञेय बहुत हद तक बंगाल रेनेसेन्स के बुद्धिजीवियों के उत्तराधिकारी रहे हैं, पश्चिमी भावबोध के प्रति एक खुला मोह और आकर्षण किंतु अपनी जातीय परंपरा और भाषा के प्रति गहन स्तर पर संवेदनशील.....।" इस टिप्पणी से अज्ञेय की मानसिक बनावट और उनके सर्जना की प्रकृति को समझने में मदद मिलेगी। अज्ञेय का साहित्य चौराहा है उसमें कई दिशाओं की ओर राह गुजरती दिखाई पड़ती है। अज्ञेय में संस्कार और संवेदना का एक द्वंद्व प्रारंभ से ही रहा। जो बृहतर सांस्कृतिक अस्मिता से प्रेरित था।

अज्ञेय ने निम्नलिखित काव्य ग्रंथों की रचना की : 'भग्नदूत' (1933), 'चिंता' (1942), 'ईत्यलम्' (1946), 'प्रिजन डेज एंड अदर पोएम्स' (अंग्रेजी में 1946), 'हरी घास पर क्षण भर' (1943), 'बावरा अहेरी' (1954), 'इंद्रधनुष रौदें हुए ये' (1957), 'अरी ओ करुणा प्रभामय' (1959), 'आँगन के पार द्वार' (1961), 'कितनी नावों में कितनी बार' (1967), 'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ' (1968), 'सागर मुद्रा' (1969), 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ' (1970), 'सर्जना के क्षण' (1971), 'महावृक्ष के नीचे' (1977), 'नदी की बाँक पर छाया' (1981), 'ऐसा कोई घर आपने देखा है' (1986), 'सदानीरा' (1986) प्रमुख हैं। अज्ञेय के कवि व्यक्तित्व में रोमांटिक भावबोध है परंतु है वह छायावाद के बोध से बिल्कुल अलग। वह आधुनिकतावादी भावबोध से उपजी चेतना है। उनकी अनुभूति में द्वंद्वात्मकता है। रचना उनके लिए अपने नैतिक, भाविक और बौद्धिक संश्लिष्टता की अभिव्यक्ति है। अनुभूति को कवि ने जीवन रस दिया है वही उनकी प्रेरणा का आधार है। अनुभूति, दर्शन और चिंतन की छाया उनके कवि कर्म पर पड़ती है। उन्होंने प्रसाद की परंपरा को आगे बढ़ाया। अज्ञेय की कविता में मौन और रहस्य की घनीभूत संवेदना है। उसमें यातना और अकेलापन है। यह अज्ञेय द्वारा अर्जित अनुभूति का पर्याय बन कर रह जाती है। अकेलेपन में साझा अनुभव की पुकार नहीं है। उनकी कविता शिल्प से सधी हुई है। वे मुक्तिबोध की तरह बेचैन और जटिल नहीं हैं। उनमें सबसे बड़ी बात यह है कि कविता के लिए शब्द चयन में वे अत्यंत सजग हैं। अज्ञेय ने कलात्मक संप्रेषणीयता की चुनौती को बहुत साहस के साथ स्वीकार किया है।

अज्ञेय ने उपन्यास भी लिखे। उनके द्वारा लिखित उपन्यास हैं : 'शेखर एक जीवनी' (भाग-एक) (1941) 'शेखर एक जीवनी' (भाग-2) (1944), 'नदी के द्वीप' (1952) और

'अपने-अपने अजनबी' (1961)। उपन्यास में मानवीय व्यक्तित्व की परिपूर्णता की ओर क्रमिक यात्रा केंद्रीय तत्व है। 'शेखरः एक जीवनी' में किशोर मानसिकता, जीवन के विद्रोह और रागात्मक संवेदना का विस्फोट है। वहीं 'नदी के द्वीप' सुकुमार और संवेदनशील प्रेमकथा है। उसमें बौद्धिकता और शारीरिक आकर्षण है। 'अपने-अपने अजनबी' में अज्ञेय ने मनुष्य के मृत्युबोध और उसकी नियिति को अस्तित्ववादी विचारधारा के अनुरूप प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में मृत्युबोध की निरर्थकता नहीं है बल्कि मृत्यु की रचनात्मकता को नये आयाम में प्रस्तावित किया गया है।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्सायायन का नाम 'अज्ञेय' प्रेमचंद ने दिया था। जब अज्ञेय जेल में थे तो, उनकी एक कहानी जैनेन्द्र कुमार ने 'हंस' में प्रकाशन के लिए प्रेमचंद के पास भेजी। चूँकि वे क्रांतिकारी थे उनका नाम नहीं छप सकता था इसलिए प्रेमचंद ने लेखक के नाम के स्थान पर 'अज्ञेय' नाम छाप दिया। बाद में वात्सयायनजी ने यही उपनाम स्वीकार कर लिया और वे अज्ञेय हो गए। उनकी प्रारंभिक कहानियाँ क्रांति और भावनात्मक आदर्शवाद की विषय वस्तु के ईद-गिर्द रची गई हैं। उनके प्रमुख कहानी संग्रह है : 'विपथगा' (1937), 'परंपरा' (1944), 'कोठरी की बात' (1945), 'शरणादाता' (1948), 'जयदोल' (1951), 'अमरवल्लरी' (1954), 'ये तेरे प्रतिरूप' (1961)। अज्ञेय एक कहानीकार के रूप में भी कम प्रतिष्ठित नहीं है। आधुनिकतावादी चेतना से युक्त उनकी कहानियों में व्यक्ति मन की अंतर्गुहाओं को तलाशने का प्रयत्न देखा जा सकता है। 'उतर प्रियदर्शी' नाम से उन्होंने एक नाटक की भी रचना की थी।

कविता और कथा साहित्य के अलावा अज्ञेय ने गद्य की अनेक विधाओं में भी रचना की है। यात्रा वृतांत, संस्मरण, निबंध, आलोचना के द्वारा उन्होंने हिंदी के गद्य साहित्य को समृद्ध किया है। अपने यात्रा संस्मरण में उन्हों यात्राओं का अत्यंत मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। ये हैं : 'अरे ययावर रहेगा याद' (1953) और 'एक बूँद सहसा उछली' (1960)। पहले की पृष्ठभूमि स्वदेश है, दूसरे की विदेश है। अपने उत्तरकालीन रचना जीवन में अज्ञेय ने - 'भवन्ती' (1972) 'अन्तरा' (1973) तथा 'शाश्वती' (1973) नामक गद्य रचनाओं में अपनी गहन चिंतनशीलता और जिज्ञासा वृत्ति का परिचय दिया है। अपने अग्रजों और समकालीनों के बारे में लिखे गए विभिन्न संस्मरणों का संग्रह 'स्मृति-लेखा' (1982) पुस्तक में है। 'वसंत का अग्रदूत' इसी पुस्तक से लिया गया है।

आलोचना और चिंतन साहित्य का समृद्ध भंडार अज्ञेय के यहाँ मौजूद है। इनमें 'त्रिशंकु' (1945), 'संवत्सर' (1978), 'जोगलिखी' (1977), 'स्रोत और सेतु' (1978) 'युगसंधियों पर' (1981) प्रमुख हैं। संस्कार और परिवेश की चिंता के कारण लेखक का दृष्टिकोण साहित्यवादी नहीं है। लेखक ने रचना की समस्या को केंद्र में रखकर भी संस्कृति की ही

व्यापक पड़ताल करने का यत्न किया है। अज्ञेय की रचना और विचारणा आंतरिक उन्मेष की ओर क्रमशः आगे बढ़ती है। वे समाज का अध्ययन व्यक्ति के माध्यम से करते हैं।

अज्ञेय में रचनाकार, साहित्य चिंतक और संस्कृतिकर्मी तीनों प्रतिभाएँ एक साथ दिखाई पड़ती है। संपादक के रूप में उनका व्यक्तित्व अप्रतिम है। उन्होंने 'प्रतीक', 'नया प्रतीक' और 'दिनमान' जैसी पत्रिकाओं का संपादन किया। उनके द्वारा संपादित ये पत्रिकाएँ संपादन का प्रतिमान हैं। उन्होंने 'तार सप्तक' (1943), 'दूसरा सप्तक' (1951), 'तीसरा सप्तक' (1959) और 'चौथा सप्तक' (1978) का संपादन कर कवियों की विभिन्न पीढ़ियों को मंच प्रदान किया। 'तार सप्तक' प्रयोगवादियों का घोषणापत्र जैसा है। अज्ञेय में उच्च कोटि का सृजन सामर्थ्य और प्रखर विचार शक्ति के साथ-साथ अपने युग परिवेश की भी रचनात्मक संभावनाओं को पहचानने और उन्हें व्यवस्थित करने की सामर्थ्य थी।

रचना के बारे में

'स्मृति लेखा' का रचनाकाल 1982 ई. है। इस पुस्तक में लेखक ने जिन्हें स्मरण किया है, वे सभी उस समय तक दिवंगत हो चुके थे। लेखक का उन रचनाकारों और साहित्य सेवियों के साथ का अनुभव 'स्मृति लेखा' का प्राण तत्व है। इस पुस्तक के संस्मरणों का उद्देश्य सिर्फ यह नहीं है कि अज्ञेय इनके बहाने इन महापुरुषों के साथ अपनी निकटता का प्रमाण देना चाहते थे। इसके विपरीत, उनका प्रयत्न उनके व्यक्तित्व के ऐसे पहलुओं को उजागर करना है, जिनके जरिए हम उनके व्यक्तित्व को ज्यादा गहराई और ज्यादा आत्मीयता के साथ जान सकें और समझ भी सकें।

'स्मृति लेखा' ऐतिहासिक दस्तावेज नहीं है, लेकिन स्मृति का विशिष्ट सजर्नात्मक उपयोग है। दरअसल 'स्मृति लेखा' यह देखने-समझने के लिए प्रेरित करती है कि एक कलाकार दूसरे कलाकार को कैसे देखता है। निराला और अज्ञेय दोनों हिंदी के महान् काव्य स्रष्टा और रचनाकार थे, जिन्होंने अपने समय और बाद की पीढ़ियों को गहरे रूप से प्रभावित किया था। अज्ञेय से पूर्व पीढ़ी के निराला के बारे में उनका यह संस्मरण साहित्य की जीवंत परंपरा को समझने की दृष्टि भी देता है।

ऐतिहासिक स्मृति एक ऐसे मिथकीय आयाम में घुल मिल जाती है जहाँ अर्थ की अनंत संभावना उपजती है। 'वसंत के अग्रदूत' में अज्ञेय निराला का स्मरण करते हुए एक कवि के अंतर्मन की जटिलता को भी समझते हैं। दो पीढ़ियों के बीच किस तरह के अंतःसूत्र होते हैं, इसे भी यह संस्मरण प्रभावशाली ढंग से बताता है। निराला की आधुनिक कविता की पहचान को अज्ञेय ने जिस तरह संस्मरण के माध्यम से प्रस्तुत किया है। सामान्यतः उसकी ओर आलोचकों का ध्यान नहीं जाता है। सांस्कृतिक अस्मिता का सूत्र दोनों

रचनाकारों को जोड़ता है। इसीलिए 'तुलसीदास' काव्य अज्ञेय को अधिक अच्छा लगता है। संस्मरण से रचनाकार को समझने की तकनीक द्वारा अज्ञेय एक स्वच्छ दृष्टि प्रदान करते है। जहाँ रचनाकार का संवाद अकुंठ होता है, वहाँ विचारधाराओं का घटाटोप नहीं होता है। स्मृति से रचना और रचनाकार का व्यक्तित्व निकलता दिखाइ देता है। स्मृति के पारदर्शी आईने के सामने स्मरण में आये हुए व्यक्ति और जिन्होंने स्मरण किया दोनों का साझा अनुभव प्रतिबिंबित होता है।

निराला के संस्मरण को लेखक छोटी-छोटी घटनाओं से शुरू करता है ताकि उनके व्यक्तित्व के कुछ पहलू उजागर हो सकें। इसके बाद वे लेखक की रचनाओं के बारे में अपनी पूर्ववर्ती और वर्तमान धारणाओं का उल्लेख करते हैं। अज्ञेय 'तुलसीदास' के माध्यम से निराला की रचना में प्रवेश करते हैं। निराला की साहित्यिक समझ की गहराई को भी वे अपने संस्मरण के माध्यम से स्थापित करते हैं। निराला के पागलपन को जीनियस का पागलपन अज्ञेय जैसा प्रतिभावान लेखक ही समझ सकता है, जो स्वयं रचना प्रक्रिया का साक्षी होता है। निराला के औघड़ स्वभाव को समझकर रचना के साथ उसका तालमेल बिठाना एक जटिल प्रक्रिया है। अज्ञेय इस जटिलता को बड़ी सहजता से साकार कर देते हैं। कविता के अवसाद और जीवन के अवसाद निराला में कितने साथ-साथ चल रहे थे। 'वसंत के अग्रदूत' में पतझड़ के सूनेपन की पहचान कितनी गहरी है, अज्ञेय की मर्मस्पर्शी नजर उसे भी देखती है। यही समीक्षक और रचनाकार की दृष्टि में अंतर हो जाता है।

अज्ञेय की भाषा संबंधी सजगता उनके संस्मरण में सहज रूप में देखी जा सकती है। यहाँ भाषा का रूप एकदम अनौपचारिक नहीं है, कुछ तनाव है पर इतना नहीं कि आत्मीयता के भाव में बाधा हो, और इतना भी नहीं कि भाषा में कविता, कहानी जैसी भावसघनता उत्पन्न हो जाए। भाषा में आत्मीयता का स्पर्श है। अज्ञेय की भाषा साधारणतः तत्सम प्रधान है परंतु उसमें जड़ता नहीं है। भाषा अपने संदर्भो के साथ प्राणवान है। अज्ञेय के संस्मरण की शैली में वर्णनात्मकता की बजाए चित्रात्मकता अधिक है। घटनाएँ साकार रूप में जीवित हो उठती हैं लेकिन आवश्यकतानुसार वे उनमें विचार-विवेचन भी प्रस्तुत कर देते हैं। संस्मरण में कलात्मक उत्कर्षता का परिचय पाठक को सहज ही हो जाता है।

शब्दावली

अभिधा : शब्द की वह शक्ति जो वाच्यार्थ पर निर्भर करती है। तीन शब्द शक्तियों में से एक।

सींकिया : पतला-दुबला

युद्धंदेहि : युद्ध की चुनौती

अनुमोदन : स्वीकृति

झीना : पतला
प्रकृतावस्था : नैसर्गिक या स्वाभाविक दशा
विक्षेप : चित्त की अस्थिरता
व्यंजना-संगीत : ऐसा संगीत जिसमें स्वर की बजाए व्यंजन के संगीतत्व पर बल हो।
आप्यायित : तृप्त, प्रसन्न
गुद्दी : गला
आदेशना : आदेश देना
सुरूर : नशे की हालत में
आज्ञापना : आदेश
संचारी भाव : संचारी भाव वे भाव कहलाते हैं जो पानी के बुलबुले की तरह उठते और खत्म हो जाते हैं।
प्रत्यवलोकन : गहराई से देखना
मुखरतर : और अधिक तेज़ और साफ
भँवराते : मँडराते
देदीप्यमान : प्रकाशमान
भवितव्यदर्शी : भाविष्य को जानने वाला
अमार्ज्य : जिसका मार्जन न हो सके अर्थात् जिसका दोष दूर न हो सके।

व्याख्या के लिए प्रमुख अंश

1. अब भी उस अनुभव को याद करता हूँ तो मानो एक गहराई में खो जाता हूँ। अब भी 'राम की शक्तिपूजा' अथवा निराला के अनेक गीत बार-बार पढ़ता हूँ, लेकिन 'तुलसीदास' जब-जब पढ़ने बैठता हूँ तो इतना ही नहीं कि एक नया संसार मेरे सामने खुलता है, उस से भी विलक्षण बात यह है कि वह संसार मानो एक ऐतिहासिक अनुक्रम में घटित होता हुआ दीखता है। मैं मानो संसार का एक स्थिर चित्र नहीं बल्कि एक जीवंत चलचित्र देख रहा होता हूँ। ऐसी रचनाएँ तो कई होती हैं जिन में एक रसिक हृदय बोलता हे। बिरली ही रचना ऐसी होती है जिसमें एक सांस्कृतिक चेतना सर्जनात्मक रूप में अवतरित हुई हो।

2. "स्वर की बात तो हम भी सोचते थे। लेकिन असल में हमारे सामने संगीत का स्वर रहता था और तुम्हारे सामने बोल-चाल की भाषा का स्वर रहता है।" वह फिर थोड़ा रुक गए, सुमन फिर कुछ कहने को कुलबुलाये और मैंने उन्हें फिर टोक दिया। "ऐसा नहीं है कि हम बात को समझते नहीं हैं। हमने सब पढ़ा है

और हम सब समझते हैं। लेकिन हमने शब्द के स्वर को वैसा महत्व नहीं दिया, हमारे लिए संगीत का स्वर ही प्रमाण था।'

3. रघुवीर सहाय ने लिखा है, 'मेरे मन में पानी के कई संस्मरण है।' निराला के काव्य को अजस्र निर्झर मानकर मैं भी कह सकता हूँ कि 'मेरे मन में पानी के अनेक संस्मरण हैं - अजस्र बहते पानी के, फिर वह बहना चाहे मूसलाधार वृष्टि का हो, चाहे धुआँधार जल-प्रपात का, चाहे पहाड़ी नदी का, क्योंकि निराला जब कविता पढ़ते थे तब वह ऐसी ही वेगवती धारा सी बहती थी। किसी रोक की कल्पना भी तब नहीं की जा सकती थी - सरोवर-सा ठहराव उनके वाचन में अकल्पनीय था।

4. संसद के गंगा तटवर्ती बँगले को छोड़कर ही निराला जी फिर दारागंज की अपनी पुरानी कोठरी में चले गए, वहीं अवसाद और भक्ति का यह मिश्र स्वर मुखरतर होता गया। और वहीं गहरे धुँधलके और तीखे प्रकाश के बीच भँवराते हुए निराला उस स्थिति की ओर बढ़ते गए जहाँ एक ओर वह कह सकते थे, 'कौन निराला? निराला इज़ डेड !' और दूसरी ओर दृढ़ विश्वासपूर्वक 'हिंदी के सुमनों के प्रति' सम्बोधित होकर एक आहत किंतु अखंड आत्मविश्वास के साथ यह भी कह सकते थे, 'मैं ही वसंत का अग्रदूत'।

व्याख्या का उदहारण

अब भी उस अनुभव को याद करता हूँ तो मानो एक गहराई में खो जाता हूँ। अब भी 'राम की शक्तिपूजा' अथवा निराला के अनेक गीत बार-बार पढ़ता हूँ, लेकिन 'तुलसीदास' जब-जब पढ़ने बैठता हूँ तो इतना ही नहीं कि एक नया संसार मेरे सामने खुलता है, उस से भी विलक्षण बात यह है कि वह संसार मानो एक ऐतिहासिक अनुक्रम में घटित होता हुआ दीखता है। मैं मानो संसार का एक स्थिर चित्र नहीं बल्कि एक जीवंत चलचित्र देख रहा होता हूँ। ऐसी रचनाएँ तो कई होती हैं जिन में एक रसिक हृदय बोलता हे। बिरली ही रचना ऐसी होती है जिसमें एक सांस्कृतिक चेतना सर्जनात्मक रूप में अवतरित हुई हो।

संदर्भ-संकेत

एक बड़े रचनाकार में विपुलता, वैविध्य और कर्म कौशल उसके सर्जनात्मक कर्म में मौजूद होता है। अज्ञेय ऐसे ही रचनाकार थे। यह वैविध्य उनके काव्य कृतित्व में ही नहीं उनके गद्य कृतित्व में भी प्रकट हुआ है। 'स्मृति लेखा' अज्ञेय द्वारा रचित संस्मरणों का संग्रह है। इसमें लेखक का अंदाज रचनाकार के बारे में भिन्न है। इतिहास और आलोचना की सीमा से ऊपर उठकर अज्ञेय रचनाकार को देखते हैं। इस संस्मरण के बहाने अज्ञेय ने

निराला के व्यक्तित्व के उन पहलुओं को समझने का प्रयास किया है, जिसका संबंध उनके रचना संसार से है।

'वसंत का अग्रदूत', 'स्मृति लेखा' का एक अंश है। जिसमें लेखक निराला के साथ के अनुभव को स्मृति के ज़रिए प्रस्तुत करता है। उपर्युक्त गद्यांश 'वसंत का अग्रदूत' से उपस्थित है। निराला और अज्ञेय दो अलग-अलग पीढ़ी के श्रेष्ठ रचनात्मक व्यक्तित्व हैं। संस्मरण में दोनों का व्यक्तित्व बड़े रोचक और नवीन रूप में उभरकर सामने आता है।

व्याख्या-संकेत

अज्ञेय को निराला की कालजयी कृति 'राम की शक्तिपूजा' अथवा 'जूही की कली' की अपेक्षा 'तुलसीदास' श्रेष्ठ लगती है। 'तुलसीदास' के निराला और 'राम की शक्तिपूजा' के निराला में अंतर समझने पर ही हमें यह समझने में आसानी होगी है कि अज्ञेय की काव्याभिरुचि किस तरह की है। निराला में जितना इतिहास बोध है उतना ही उनका रोमांटिक बोध और सांस्कृतिक बोध भी प्रखर है। 'राम की शक्तिपूजा' की अपेक्षा 'तुलसीदास' में निराला की रसिकता और सांस्कृतिक बोध का आग्रह अज्ञेय को अच्छा लगा। 'राम की शक्तिपूजा' में विक्षोभ है, उसमें अंधकार की शक्ति है, प्रखर नाटकीयता है, जीवन में उठा तूफान है, और अन्याय के बीच हारते मनुष्य का संघर्ष है। पूरी कविता कवि की बेचैन आत्मा से साक्षात्कार कराती है। उसमें यदि विजयी होने की कामना है, तो वह घनघोर अंधकार से गुजरकर ही प्राप्त होती है। यह जानना दिलचस्प है कि अज्ञेय जो वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति पर अधिक बल देते रहे हैं, उन्हें अपेक्षाकृत निजता आग्रही कविता की अपेक्षा 'तुलसीदास' अधिक श्रेष्ठ लगती है।

'तुलसीदास' कविता में जीवन और समाज के बृहतर सत्य की ओर संकेत है। निराला जिस नजर से तुलसीदास को देख रहे थे, अज्ञेय के पास भी शायद वही दृष्टि है। वे भी उसी सांस्कृतिक दृष्टि से निराला को देख रहे थे। यहाँ रचना और व्यक्तित्व को संपृक्त रूप में देखा जा सकता है। रचना से अलग रचनाकार की पहचान नहीं है। 'तुलसीदास' कविता में साहित्यिक और सांस्कृतिक परंपरा के प्रति कवि की संवेदनशीलता लेखक को आकर्षक प्रतीत हुई। सबसे बड़ी बात रचना प्रक्रिया है। कवि की रचना प्रक्रिया में कितने तरह के घात प्रतिघात पैदा होते हैं। उन्हें महसूस करता हुआ कवि आगे बढ़ता है। तुलसीदास के शब्द अस्थिर नहीं रह जाते हैं। शब्दों में बस विराट संसार मूर्तिमान हो जाता है। घटना एक ऐतिहासिक अन्विति में उपस्थित हो जाती है।

'तुलसीदास' अज्ञेय के लिए निराला के काव्य की कसौटी है। निराला की हर रचना को वह 'तुलसीदास' के प्रतिमान से मापते हैं। उनकी काव्य प्रेरणा में सांस्कृतिक अस्मिता का भाव है। 'तुलसीदास' कविता में अज्ञेय जिस सांस्कृतिक चेतना के सर्जनात्मक रूप को

देखते हैं, वही वह चीज़ है जो दोनों कवियों को एक-दूसरे से जोड़ती है। जीवन के सांस्कृतिक पक्ष का ऐसा जीवंत चित्रण निराला के 'तुलसीदास' में व्यक्त हुआ है, वही अज्ञेय के लिए मुख्य प्रेरक है। उक्त अंश को इसी संदर्भ में समझने का प्रयास कीजिए। इस अंश में 'ऐतिहासिक अनुक्रम' 'सांस्कृतिक चेतना' जैसे पदों का प्रयोग किया गया है, इनको समझने का भी प्रयत्न करें।

'तुलसीदास' और 'राम की शक्तिपूजा' को साथ-साथ पढ़कर स्वयं उनके अंतर को जानने की कोशिश करें।

सहायक पुस्तकें

डॉ. राम स्वरूप चतुर्वेदी : *अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या,* भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली।
रमेश चंद्र शाह : *अज्ञेय,* साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली।
अशोक वाजपेयी : *अज्ञेय,* पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली।
विश्वनाथ प्रसाद तिवारी : *अज्ञेय,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
प्रेम सिंह : *अज्ञेय : सर्जक और चिंतक,* डायमंड पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

मूलपाठ : संस्मरण

वसन्त का अग्रदूत

'निराला' जी को स्मरण करते हुए एकाएक शांतिप्रिय द्विवेदी की याद आ जाय, इस की पूरी व्यंजना तो वही समझ सकेंगे जिन्होंने इन दोनों महान् विभूतियों को प्रत्यक्ष देखा था। यों औरों ने शांतिप्रिय जी का नाम प्रायः सुमित्रानन्दन पंत के संदर्भ में लिया है क्योंकि वास्तव में तो वह पन्त जी के ही भक्त थे, लेकिन मैं निराला जी के पहले दर्शन के लिए इलाहाबाद में पंडित वाचस्पति पाठक के घर जा रहा था तो देहरी पर ही एक सींकिया पहलवान के दर्शन हो गए जिसने मेरा रास्ता रोकते हुए एक टेढ़ी उँगली मेरी ओर उठा कर पूछा, 'आपने निराला जी के बारे में विश्वभारती पत्रिका में बड़ी अनर्गल बातें लिख दी हैं।' यह सींकिया पहलवान, जो यों अपने को कृष्ण-कन्हैया से कम नहीं समझता था और इसलिए हिंदी के सारे रसिक समाज के विनोद का लक्ष्य बना रहता था, शांतिप्रिय की अभिधा का भूषण था।

जिस स्वर में सवाल मुझ से पूछा गया था उससे शांतिप्रियता टपक रही हो ऐसा नहीं था। आवाज़ तो रसिक-शिरोमणि की जैसी थी वैसे थी ही, उसमें भी कुछ आक्रामक चिड़चिड़ापन भर कर सवाल मेरी ओर फेंका गया था। मैंने कहा, 'लेख आपने पढ़ा है?'

'नहीं, मैंने नहीं पढ़ा। लेकिन मेरे पास रिपोर्टें आयी हैं।'

'तब लेख आप पढ़ लीजिएगा तभी बात होगी,' कह कर मैं आगे बढ़ गया। शांतिप्रिय जी की युद्धं देहि वाली मुद्रा एक कुंठित मुद्रा में बदल गयी और वह बाहर चले गए।

यों 'रिपोर्टें' सही थीं। विश्वभारती पत्रिका में मेरा एक लम्बा लेख छपा था। आज यह मानने में भी मुझे कोई संकोच नहीं है कि उसमें निराला के साथ घोर अन्याय किया गया था। यह बात 1936 की है जब 'विशाल भारत' में पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी निराला के विरुद्ध अभियान चला रहे थे। यों चतुर्वेदी जी का आक्रोश निराला जी के कुछ लेखों पर ही था, उनकी कविताओं पर उतना नहीं (कविता से तो वह बिलकुल अछूते थे) लेकिन उपहास और विडम्बना का जो स्वर चतुर्वेदी जी की टिप्पणियों में मुखर था उसका प्रभाव निराला के समग्र कृतित्व के मूल्यांकन पर पड़ता ही था और मेरी अपरिपक्व बुद्धि पर भी था ही।

अब यह भी एक रोचक व्यंजना-भरा संयोग ही है कि सींकिया पहलवान से पार पाकर मैं भीतर पहुँचा तो वहाँ निराला जी के साथ एक दूसरे दिग्गज भी विराजमान थे

जिनके खिलाफ़ भी चतुर्वेदी जी एक अभियान चला चुके थे। एक चौकी के निकट आमने-सामने निराला और 'उग्र' बैठे थे। दोनों के सामने चौकी पर अधभरे गिलास रखे थे और दोनों के हाथों में अधजले सिगरेट थे।

उग्रजी से मिलना पहले भी हो चुका था, मेरे नमस्कार को सिर हिलाकर स्वीकार करते हुए उन्होंने निराला से कहा, 'यह अज्ञेय है।'

निराला जी ने एक बार सिर से पैर तक मुझे देखा। मेरे नमस्कार के जवाब में केवल कहा, 'बैठो।'

मैं बैठने ही जा रहा था कि एक बार फिर उन्होंने कहा, 'ज़रा सीधे खड़े हो जाओ।'

मुझे कुछ आश्चर्य तो हुआ, लेकिन मैं फिर सीधा खड़ा हो गया। निराला जी भी उठे और मेरे सामने आ खड़े हुए। एक बार फिर उन्होंने सिर से पैर तक मुझे देखा, मानो तौला और फिर बोले, 'ठीक है।' फिर बैठते हुए उन्होंने मुझे भी बैठने को कहा। मैं बैठ गया तो मानो स्वगत-से स्वर में उन्होंने कहा, 'डौल तो रामबिलास जैसा ही है।'

रामविलास (डॉ. रामविलास शर्मा) पर उनके गहरे स्नेह की बात मैं जानता था, इस लिए उनकी बात का अर्थ मैंने यही लगाया कि और किसी क्षेत्र में न सही, एक क्षेत्र में तो निराला जी का अनुमोदन मुझे मिल गया है। मैंने यह भी अनुमान किया कि मेरे लेख की 'रिपोर्ट' अभी उन तक नहीं पहुँची या पहुँचायी गयी हैं।

निराला जी सामान्य शिष्टाचार की बातें करते रहे - क्या करता हूँ, कैसे आना हुआ अदि। बीच में उग्र जी ने एकाएक गिलास की ओर इशारा करते हुए पूछा, 'लोगे?' मैंने सिर हिला दिया तो फिर कुछ चिढ़ाते हुए स्वर में बोले, 'पानी नहीं है, शराब है, शराब।'

मैंने कहा, 'समझ गया, लेकिन मैं नहीं लेता।'

निराला जी के साथ फिर इधर-उधर की बातें होती रहीं। कविता की बात न उठाना मैंने भी श्रेयस्कर समझा।

थोड़ी देर बाद उग्र जी ने फिर कहा, 'जानते हो, यह क्या है? शराब है, शराब।'

अपनी अनुभवहीनता के बावजूद तब भी इतना तो मैं समझ ही सकता था कि उग्र जी के इस आक्रामक रवैये का कारण वह आलोचना और भर्त्सना ही है जो उन्हें वर्षों से मिलती रही है। लेकिन उसके कारण वह मुझे चुनौती दें और मैं उसे मान कर अखाड़े में उतरूँ, इसका मुझे कोई कारण नहीं दीखा। यह भी नहीं कि मेरे जानते शराब

पीने का समय शाम का होता, दिन के ग्यारह बजे का नहीं! मैंन शांत स्वर में कहा, 'तो क्या हुआ, उग्र जी, आप सोचते हैं कि शराब के नाम से मैं डर जाऊँगा? देश में बहुत से लोग शराब पीते हैं।'

निराला जी केवल मुस्करा दिये, कुछ बोले नहीं। थोड़ी देर बाद मैं विदा लेने को उठा तो उन्होंने कहा, 'अब की बार मिलोगे तो तुम्हारी रचना सुनेंगे।'

मैंने खैर मनायी कि उन्होंने तत्काल कुछ सुनाने को नहीं कहा, 'निराला जी, मैं तो यही आशा करता हूँ कि अब की बार आप से कुछ सुनने को मिलेगा।'

आशा मेरी ही पूरी हुई। इसके बाद दो-तीन बार निराला जी के दर्शन ऐसे ही अवसरों पर हुए जब उनकी कविता सुनने को मिली। ऐसी स्थिति नहीं बनी कि उन्हें मुझ से कुछ सुनने की सूझे और मैंने इसमें अपनी कुशल ही समझी।

इसके बाद की जिस भेंट का उल्लेख करना चाहता हूँ उससे पहले निराला जी के काव्य के विषय में मेरा मन पूरी तरह बदल चुका था। वह परिवर्तन कुछ नाटकीय ढंग से ही हुआ। शायद कुछ पाठकों के लिए यह भी आश्चर्य की बात होगी कि वह उनकी 'जुही की कली' अथवा 'राम की शक्तिपूजा' पढ़कर नहीं हुआ, उनका 'तुलसीदास' पढ़कर हुआ। अब भी उस अनुभव को याद करता हूँ तो मानो एक गहराई में खो जाता हूँ। अब भी 'राम की शक्तिपूजा' अथवा निराला के अनेक गीत बार-बार पढ़ता हूँ, लेकिन 'तुलसीदास' जब-जब पढ़ने बैठता हूँ तो इतना ही नहीं कि एक नया संसार मेरे सामने खुलता है, उस से भी विलक्षण बात यह है कि वह संसार मानो एक ऐतिहासिक अनुक्रम में घटित होता हुआ दीखता है। मैं मानो संसार का एक स्थिर चित्र नहीं बल्कि एक जीवंत चलचित्र देख रहा होता हूँ। ऐसी रचनाएँ तो कई होती हैं जिन में एक रसिक हृदय बोलता है। बिरली ही रचना ऐसी होती है जिसमें एक सांस्कृतिक चेतना सर्जनात्मक रूप में अवतरित हुई हो। 'तुलसीदास' मेरी समझ में ऐसी ही एक रचना है। उसे पहली ही बार पढ़ा तो कई बार पढ़ा। मेरी बात में जो विरोधाभास है वह बात को स्पष्ट ही करता है। 'तुलसीदास' के इस आविष्कार के बाद संभव नहीं था कि मैं निराला की अन्य सभी रचनाएँ फिर से न पढ़ूँ, 'तुलसीदास' के बारे में अपनी धारणा को अन्य रचनाओं की कसौटी पर कस कर न देखूँ।

अगली जिस भेंट का उल्लेख करना चाहता हूँ उसकी पृष्ठभूमि में कवि निराला के प्रति यह प्रगाढ़ सम्मान ही था। काल की दृष्टि से यह खासा व्यक्तिक्रम है क्योंकि जिस भेंट की बात मैं कर चुका हूँ वह सन् 36 में हुई थी और यह दूसरी भेंट सन् 51 के ग्रीष्म में। बीच के अंतराल में अनेक बार अनेक स्थलों पर उनसे मिलना हुआ था और

वह एक-एक, दो-दो दिन मेरे यहाँ रह भी चुके थे, लेकिन उस अंतराल की बात बाद में करूँगा।

मैं इलाहाबाद छोड़कर दिल्ली चला आया था, लेकिन दिल्ली में अभी ऐसा कोई काम नहीं था कि उस से बँधा रहूँ, अक्सर पाँच-सात दिन के लिए इलाहाबाद चला जाता था। निराला जी तब दारागंज में रहते थे। मानसिक विक्षेप कुछ बढ़ने लगा था। और कभी-कभी वह बिल्कुल ही बहकी हुई बातें करते थे, लेकिन मेरा निजी अनुभव यही था कि काफ़ी देर तक वह बिल्कुल संयत और संतुलित विचार-विनिमय कर लेते थे, बीच-बीच में कभी-कभी वह बिल्कुल ही बहकते भी तो दो-चार मिनट में ही फिर लौट आते थे। मैं शायद उनकी विक्षिप्त स्थिति की बातों को भी सहज भाव से ले लेता था, या बहुत गहरे में समझता था कि जीनियस और पागलपन के बीच का पर्दा काफ़ी झीना होता है - कि निराला का पागलपन 'जीनियस का पागलपन' है, इसीलिए वह भी सहज ही प्रकृतावस्था में लोट आते थे। इतना ही था कि दो-चार व्यक्तियों और दो-तीन संस्थाओं के नाम मैं उनके सामने नहीं लेता था और अंग्रेज़ी का कोई शब्द या पद अपनी बात में नहीं आने देता था - क्योंकि यह मैं लक्ष्य कर चुका था कि इन्हीं से उनके वास्तविकता-बोध की गाड़ी पटरी से उतर जाती थी।

उस बार 'सुमन' (शिवमंगल सिंह) भी आए हुए थे और मेरे साथ ही ठहरे थे। मैं निराला जी से मिलने जाने वाला था और 'सुमन' भी साथ चलने को उत्सुक थे। निश्चय हुआ कि सवेरे-सवेरे ही निराला जी से मिलने जाया जाएगा - वही समय ठीक रहेगा। लेकिन सुमन जी को सवेरे तैयार होने में बड़ी कठिनाई होती है। पलंग-चाय, पूजा-पाठ और सिंगार-पट्टी में नौ बज ही जाते हैं और उस दिन भी बज गए। हम दारागंज पहुँचे तो प्रायः दस बजे का समय था।

निराला जी अपनी बैठक में नहीं थे। हम लोग वहाँ बैठ गए और उनके पास सूचना चली गयी कि मेहमान आये हैं। निराला जी उन दिनों अपना भोजन स्वयं बनाते थे और उस समय रसोई में ही थे। कोई दो मिनट बाद उन्होंने आकर बैठक में झांका और बोले, "अरे तुम !" और तत्काल ओट हो गए।

सुमन जी तो रसोई में खबर भिजवाने के लिए मेरा पूरा नाम बताने चले थे, लेकिन अपने नाम की कठिनाई मैं जानता हूँ इसीलिए मैंने संक्षिप्त सूचना भिजवायी थी कि 'कोई मिलने आये हैं'। उस क्षण भर की झाँकी में हमने देख लिया कि निराला जी केवल कौपीन पहने हुए थे। थोड़ी देर बाद आये तो उन्होंने तहमद लगा ली थी और कंधे पर अँगोछा डाल लिया था।

बातें होने लगीं। मैं तो बहुत कम बोला। यों भी कम बोलता और इस समय यह देखकर कि निराला जी बड़ी संतुलित बातें कर रहे हैं मैंने चुपचाप सुनना ही ठीक समझा। लेकिन सुमन जी और चुप रहना? फिर वह तो निराला को प्रसन्न देखकर उन्हें और भी प्रसन्न करना चाह रहे थे, इसलिए पूछ बैठे, 'निराला जी आज-कल आप क्या लिख रहे हैं?'

यों तो किसी भी लेखक को यह प्रश्न एक मूर्खतापूर्ण प्रश्न जान पड़ता है। शायद सुमन से कोई पूछे तो उन्हें भी ऐसा ही लगे। फिर भी न जाने क्यों लोग यह प्रश्न पूछ बैठते हैं।

निराला ने एकाएक कहा, 'निराला, कौन निराला? निराला तो मर गया। निराला इज डेड।'

अंग्रेज़ी का वाक्य सुनकर मैं डरा कि अब निराला बिलकुल बहक जायेंगे और अंग्रेज़ी में न जाने क्या-क्या कहेंगे, लेकिन सौभाग्य से ऐसा हुआ नहीं। हमने अनुभव किया कि निराला जो बात कह रहे हैं वह मानो सच्चे अनुभव की ही बात है। जिस निराला के बारे में सुमन ने प्रश्न पूछा था वह सचमुच उनसे पीछे कहीं छूट गया है।

निराला ने मुझ से पूछा, 'तुम कुछ लिख रहे हो?'

मैंने टालते हुए कहा, 'कुछ न कुछ तो लिखता ही हूँ, लेकिन उससे संतोष नहीं है - वह उल्लेख करने लायक भी नहीं है।

इसके बाद निराला जी ने जो चार-छः वाक्य कहे उनसे मैं आश्चर्यकित रह गया। उन्हें याद करता हूँ तो आज भी मुझे आश्चर्य होता है कि हिंदी काव्य-रचना में जो परिवर्तन हो रहा था उसकी इतनी खरी पहचान निराला को थी - उस समय के तमाम हिंदी आचार्यों से कहीं अधिक सही और अचूक - और वह तब जब कि ये सारे आचार्य उन्हें कम से कम आधा विक्षिप्त तो मान ही रहे थे।

निराला ने कहा, 'तुम जो लिखते हो वह मैंने पढ़ा है।' (इस पर सुमन ने कुछ उमँग कर पूछना चाहा था, 'अरे, निराला जी, आप अज्ञेय का लिखा हुआ भी पढ़ते हैं?' मैंन पीठ में चिकोटी काट कर सुमन को चुप कराया, और अचरज यह कि वह चुप भी हो गए - शायद निराला की बात सुनने का कुतूहल जयी हुआ।) निराला का कहना जारी रहा, 'तुम क्या करना चाहते हो वह हम समझते हैं।' थोड़ी देर रूक कर और हम दोनों को चुपचाप सुनते पाकर उन्होंने बात जारी रखी। 'स्वर की बात तो हम भी सोचते थे। लेकिन असल में हमारे सामने संगीत का स्वर रहता था और तुम्हारे सामने बोल-चाल की भाषा का स्वर रहता है।' वह फिर थोड़ा रुक गए, सुमन फिर कुछ कहने को कुलबुलाये

और मैंने उन्हें फिर टोक दिया। 'ऐसा नहीं है कि हम बात को समझते नहीं हैं। हमने सब पढ़ा है और हम सब समझते हैं। लेकिन हमने शब्द के स्वर को वैसा महत्व नहीं दिया, हमारे लिए संगीत का स्वर ही प्रमाण था।' मैं फिर भी चुप रहा, सुनता रहा। मेरे लिए यह सुखद आश्चर्य की बात थी कि निराला इस अंतर को इतना स्पष्ट पहचानते हैं। बड़ी तेज़ी से मेरे मन के सामने उनकी 'गीतिका' की भूमिका और फिर सुमित्रानंदन पंत के 'पल्लव' की भूमिका दौड़ गयी थी। दोनों ही कवियों ने अपने प्रारंभिक काल की कविता की पृष्ठभूमि में स्वर का विचार किया था, यद्यपि बिल्कुल अलग-अलग ढंग से। उन भूमिकाओं में भी यह स्पष्ट था कि निराला के सामने संगीत का स्वर है, कविता में स्वर और ताल का विचार वह संगीत की भूमि पर खड़े होकर ही करते हैं, जब कि स्वर और स्वर-मात्रा के विचार में पंत के सामने संगीत का नहीं, भाषा का ही स्वर था और सांगीतिकता के विचार में भी वह व्यंजन-संगीत से हटकर स्वर-संगीत को वरीयता दे रहे थे। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि 'पल्लव' के पंत, 'गीतिका' के निराला से आगे या अधिक 'आधुनिक' थे। लेकिन जिस भेंट का उल्लेख मैं कर रहा हूँ उसमें निराला का स्वर-संवेदन कहीं आगे था जब कि उस समय तक पंत अपनी प्रारंभिक स्थापनाओं से न केवल आगे नहीं बढ़े थे बल्कि कुछ पीछे ही हटे थे (और फिर पीछे ही हटते गये)। उस समय का नये से नया कवि भी मानने को बाध्य होता कि अगर कोई पाठक उसके स्वर से स्वर मिलाकर उसे पढ़ सकता है तो वह आदर्श सहृदय पाठक निराला ही है। एक पीढ़ी का महाकवि परवर्ती पीढ़ी के काव्य को इस तरह समझ सके, परवर्ती कवि के लिए इससे अधिक आप्यायित करने वाली बात क्या हो सकती है।

सुमन ने कहा, 'निराला जी, अब इस बात पर अपना एक नया गीत सुना दीजिए।'

मैंने आशंका भरी आशा के साथ निराला की ओर देखा। निराला ने अपनी पुरानी बात दोहरा दी, 'निराला इज़ डेड। आइए एम नॉट निराला।'

सुमन कुछ हार मानते हुए बोले, 'मैंने सुना है, आप की नयी पुस्तक आयी है 'अर्चना'। वह आप के पास है - हमें दिखायेंगे?'

निराला ने एक वैसे ही खोये हुए स्वर में कहा, 'हाँ, आयी तो है, देखता हूँ।' वह उठकर भीतर गए और थोड़ी देर में पुस्तक की दो प्रतियाँ ले आये। बैठते हुए उन्होंने एक प्रति सुमन की ओर बढ़ायी जो सुमन ने ले ली। दूसरी प्रति निराला ने दूसरे हाथ से उठायी, लेकिन मेरी ओर बढ़ायी नहीं, उसे फिर वापस अपने सामने रखते हुए बोले, 'यह तुम को दूँगा।'

सुमन ने ललक कर कहा, 'तो यह प्रति मेरे लिए है? तो इसमें कुछ लिख देंगे?'

निराला ने प्रति सुमन से ले ली और आवरण खोल कर मुखपृष्ठ की ओर थोड़ी देर देखते रहे। फिर पुस्तक सुमन को लौटाते हुए बोले, 'नहीं, मैं नहीं लिखूंगा। वह निराला तो मर गया।'

सुमन ने पुस्तक ले ली, थोड़े से हतप्रभ तो हुए, लेकिन यह तो समझ रहे थे कि इस समय निराला को उनकी बात से डिगाना संभव नहीं होगा।

निराला फिर उठकर भीतर गए और कलम लेकर आये। दूसरी प्रति उन्होंने उठायी, खोल कर उसके पुश्ते पर कुछ लिखने लगे। मैं साँस रोक कर प्रतीक्षा करने लगा। मन तो हुआ कि ज़रा झुक कर देखूँ कि क्या लिखने जा रहे हैं, लेकिन अपने को रोक लिया। कलम की चाल से मैंने अनुमान किया कि कुछ अंग्रेज़ी में लिख रहे हैं।

दो-तीन पंक्तियाँ लिख कर उनका हाथ थमा। आँख उठाकर एक बार उन्होंने मेरी ओर देखा और फिर कुछ लिखने लगे। इसी बीच सुमन ने कुछ इतराते हुए से स्वर में कहा, 'निराला जी, इतना पक्षपात? मेरे लिए तो आपने कुछ लिखा नहीं और ....'

निराला जी ने एक-दो अक्षर लिखे थे, लेकिन सुमन की बात पर चौंक कर रूक गए। उन्होंने फिर कहा, 'नहीं, नहीं, निराला तो मर गया। देयर इज़ नो निराला। निराला इज़ डेड।'

अब मैंने देखा कि पुस्तक में उन्होंने अंग्रेज़ी में नाम के पहले दो अक्षर लिखे थे - एन् आई, लेकिन अब उसके आगे दो बिंदियाँ लगाकर नाम अधूरा छोड़ दिया, नीचे एक लकीर खींची और उसके नीचे तारीख डाली 18.5.51और पुस्तक मेरी ओर बढ़ा दी।

पुस्तक मैंने ले ली। तत्काल खोल कर पढ़ा नहीं कि उन्होंने क्या लिखा है। निराला ने इसका अवसर भी तत्काल नहीं दिया। खड़े होते हुए बोले, 'तुम लोगों के लिए कुछ लाता हूँ।'

मैंने बात की व्यर्थता जानते हुए कहा, 'निराला जी, हम लोग अभी नाश्ता करके चले थे, रहने दीजिए।' और इसी प्रकार सुमन ने भी जोड़ दिया, 'बस, एक गिलास पानी दे दीजिए।'

'पानी भी मिलेगा,' कहते हुए निराला भीतर चले गए। हम दोनों ने अर्थभरी दृष्टि से एक-दूसरे की ओर देखा। मैंने दबे स्वर में कहा, 'इसीलिए कहता था कि सेवेरे जल्दी चलो।'

फिर मैंने जल्दी से पुस्तक खोल कर देखा कि निराला जी ने क्या लिखा था। कृतकृत्य होकर मैंने पुस्तक फुर्ती से बंद की तो सुमन ने उतावली से कहा, 'देखें, देखें ....'

मैंने निर्णयात्मक ढंग से पुस्तक घुटने के नीचे दबा ली, दिखायी नहीं। घर पहुँचकर भी देखने का काफ़ी समय रहेगा।

इस बीच निराला एक बड़ी बाटी में कुछ ले आये और हम दोनों के बीच बाटी रखते हुए बोले, 'लो, खाओ, मैं पानी ले कर आता हूँ,' और फिर भीतर लौट गए।

बाटी में कटहल की भुजिया थी। बाटी में ही सफ़ाई से उसके दो हिस्से कर दिये गए थे।

निराला के लौटने तक हम दोनों रूक गए। यह क्लेश हम दोनों के मन में था कि निराला जी अपने लिए जो भोजन बना रहे थे वह सारा का सारा उन्होंने हमारे सामने परोस दिया है और अब दिन-भर भूखे रहेंगे। लेकिन मैं यह भी जानता था कि हमारा कुछ भी कहना व्यर्थ होगा - निराला का आतिथ्य ऐसा ही ज़ालिम आतिथ्य है। सुमन ने कहा, 'निराला जी, आप...'

'हम क्या?'

'निराला जी, आप नहीं खायेंगे तो हम भी नहीं खायेंगे।'

निराला जी ने एक हाथ सुमन की गर्दन की ओर बढ़ाते हुए कहा, 'खाओगे कैसे नहीं? हम गुद्दी पकड़ कर खिलायेंगे।'

सुमन ने फिर भी हठ करते हुए कहा, 'लेकिन, निराला जी, यह तो आप का भोजन था। अब आप क्या उपवास करेंगे?'

निराला ने स्थिर दृष्टि से सुमन की ओर देखते हुए कहा, 'तो भले आदमी, किसी से मिलने जाओ तो समय-असमय का विचार भी तो करना होता है।' और फिर थोड़ा घुड़क कर बोले : 'अब आये हो तो भुगतो।'

हम दोनों ने कटहल की वह भुजिया किसी तरह गले से नीचे उतारी। बहुत स्वादिष्ट बनी थी, लेकिन उस समय स्वाद का विचार करने की हालत हमारी नहीं थी।

जब हम लोग बाहर निकले तो सुमन ने खिन्न स्वर में कहा, 'भाई, यह तो बड़ा अन्याय हो गया।'

मैंने कहा, 'इसीलिए मैं कल से कह रहा था कि सवेरे जल्दी चलना है, लेकिन आपको सिंगार-पट्टी से और कोल्ड-क्रीम से फ़ुरसत मिले तब तो! नाम 'सुमन' रख लेने से क्या होता है अगर सवेरे-सवेरे सहज खिल भी न सकें!'

यों हम लोग लौट आये। घर आकर फिर 'अर्चना' की मेरी प्रति खोल कर हम दोनों ने पढ़ा। निराला ने लिखा था :

To Ajneya,
The Poet, Writer and Novelist
In the foremost rank.

Ni..
18-5-51

सन् 36 और सन् 51 के बीच, जैसा मैं कह चुका हूँ, निराला जी से अनेक बार मिलना हुआ। उनके 'तुलसीदास' का पहला प्रकाशन 1938 में हुआ था और मैंने उनकी रचनाओं के बारे में अपनी धारणा के आमूल परिवर्तन की घोषणा रेडियो से जिस समीक्षा में की थी उसका प्रसारण शायद 1940 के आरंभ में हुआ था। मेरठ में हिदीं साहित्य परिषद् के समारोह के लिए मैंने उन्हें आमंत्रित किया तो आमंत्रण उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया और मेरठ के प्रवास में वह कुछ समय श्रीमती होमवती देवी के यहाँ और कुछ समय मेरे यहाँ ठहरे। होमवती जी उस समय परिषद् की अध्यक्षा भी थीं और निराला जी को अपने यहाँ ठहराने की उनकी हार्दिक इच्छा थी। जिस बंगले में वह रहती थीं उसके अलावा एक और बंगला उनके पास था जो उन दिनों आधा खाली था और निराला जी के वहीं ठहरने की व्यवस्था की गयी। यह बंगला होमवती जी के आवास से सटा हुआ होकर भी अलग था, इसलिए सभी आश्वस्त थे कि अतिथि अथवा आतिथेय को कोई असुविधा नहीं होगी - यों थोड़ी चिंता भी थी कि होमवती जी के परम वैष्णव संस्कार निराला जी की आदतों को कैसे सँभाल पायेंगे। मेरा घर वहाँ से तीन-एक फ़र्लांग दूर था और छोटा भी था, सुमन, प्रभाकर माचवे और भारत-भूषण अग्रवाल को मेरे यहाँ ठहराने का निश्चय हुआ था।

होमवती जी ने श्रद्धापूर्वक निराला जी को ठहरा तो लिया, लेकिन दोपहर का भोजन उन्हें कराने के बाद वह दौड़ी हुई मेरे यहाँ आयीं। 'भाई जी, शाम का क्या होगा? लोग तो कह रहे हैं कि निराला जी तो शाम को शराब के बिना भोजन नहीं करते और भोजन भी मांस के बिना नहीं करते। हमारे यहाँ तो यह सब नहीं चल सकता। और फिर अगर हम उधर अलग इंतज़ाम करें भी तो लायेगा कौन और सँभालेगा कौन?'

यह कठिनाई होने वाली है इसका हमें अनुमान तो था, लेकिन होमवती जी के उत्साह और उनकी स्नेहभरी आदेशना के सामने कोई बोला नहीं था।

उन्हें तो किसी तरह समझा-बुझा कर लौटा दिया गया कि हम लोग कुछ व्यवस्था कर लेंगे, उन्हें इसमें नहीं पड़ना होगा। संयोजकों में शराब से परिचित कोई न हो ऐसा तो नहीं था। शाम को एक अद्धा निरालाजी की सेवा में पहुँचा दिया गया और निश्चय हुआ कि भोजन कराने भी उन्हें सदर के होटल में ले जाया जाएगा।

इधर हम लोग शाम को भोजन करने बैठे ही थे कि होटल से लौटते हुए निराला जी मेरे यहाँ आ गए। (मैं दूसरी मंजिल पर रहता था) पता लगा कि उन्होंने ही सीधे बँगले पर न लौटकर मेरे यहाँ आने की इच्छा प्रकट की थी। सुरूर की जिस हालत में वह थे उससे मैंने यह अनुमान किया कि ऐसा निराला जी ने इसी लिए किया होगा कि वह उस हालत में होमवती जी के सामने नहीं पड़ना चाहते थे। (मैंने दूसरे अवसरों पर भी लक्ष्य किया कि ऐसे मामलों में उनका शिष्ट आचरण का संस्कार बड़ा प्रबल रहता था।) लेकिन यहाँ पर भी मेरी बहिन अतिथियों को भोजन करा रही थीं, इससे निराला जी को थोड़ा असमंजस हुआ। वह चुप-चाप एक तरफ़ एक खाट पर बैठ गए। हम लोगों ने भोजन जल्दी समाप्त करके उनका मन बहलाने की कोशिश की, लेकिन वह चुप ही रहे। एक-आधा बार 'हूँ' से अधिक कुछ बोले नहीं। उनसे जो बात करता उसकी ओर एकटक देखते रहते मानो कहना चाहते हों, 'हम जानते हैं कि हमें बहलाने की कोशिश की जा रही है, लेकिन हम बहलेंगे नहीं।'

एकाएक निराला जी ने कहा, 'सुमन, इधर आओ।' सुमन जी उनके समीप गए तो निराला ने उनकी कलाई पकड़ ली और कहा, 'चलो।'

'कहाँ, निराला जी?'

'घुमने।' सुमन ने बेबसी से मेरी ओर देखा। वह भी जानते थे कि छुटकारा नहीं है और मैं भी समझ गया कि बहस व्यर्थ होगी। नीचे उतरकर मैं एक बढ़िया सा ताँगा बुला लाया। निराला जी सुमन के साथ उतरे और उस पर आगे सवार होने लगे तो ताँगे वाले ने टोकते हुए कहा, 'सरकार, घोड़ा दब जाएगा - आप पीछे बैठें और आपके साथी आगे बैठ जायेंगे।

निराला जी क्षण ही भर ठिठके। फिर अगली तरफ़ ही सवार होते हुए बोले, 'ये पीछे बैठेंगे, ताँगा दबाऊ होता है तो तुम भी पीछे बैठ कर चलाओ। नहीं तो रास हमें दो - हम चलायेंगे।'

ताँग वाले ने एक बार सबकी ओर देख कर हुक्म मानना ही ठीक समझा। वह भी पीछे बैठ गया, रास उसने नहीं छोड़ी। पूछा, 'कहाँ चलना होगा, सरकार?'

निराला जी ने उसी आज्ञापना भरे स्वर में कहा, 'देखो, दो घंटे तक यह सवाल हमसे मत पूछना। जहाँ तुम चाहो लेते चलो। अच्छी सड़कों पर सैर करेंगे। दो घंटे बाद इसी जगह पहुंचा देना, पैसे पूरे मिलेंगे।'

ताँगे वाले ने कहा, 'सरकार,' और ताँगा चल पड़ा। मैं दो घंटे के लिए निश्चिंत होकर ऊपर चला आया।

रात के लगभग बारह बजे ताँगा लौटा और सुमन अकेले ऊपर आये। निराला जी देर से लोटने पर वहीं सो सकते हैं, यह सोच कर उनके लिए एक बिस्तर और लगा दिया गया था, लेकिन सुमन ने बताया कि निराला जी सोयेंगे तो वहीं जहाँ ठहरे हैं क्योंकि होमवती जी से कहकर नहीं आये थे। लिहाजा मैंने उसी ताँगे में उन्हें बँगले पर पहुँचा दिया और टहलता हुआ पैदल लौट आया।

अगले दिन सवेरे ही मैं होमवती जी के यहाँ देखने गया कि सब कुछ ठीक-ठाक तो है, तो होमवती जी ने अलग ले जाकर मुझे कहा, 'भैया, तुम्हारे कवि जी ने कल शाम को बाहर जो किया हो, यहाँ तो बड़े शांत भाव से, शिष्ट ढंग से रहते हैं।'

मैंने कहा, 'चलिये, आप निश्चित हुईं तो हम भी निश्चिंत हुए। यों डरने की कोई बात थी नहीं।'

दूसरे दिन मैं शाम से ही निराला जी को अपने यहाँ ले आया। भोजन उन्होंने वहीं किया और फिर प्रसन्न होकर कई कविताएँ सुनायीं। काश कि उन दिनों टेप-रिकार्डर होते - 'राम की शक्तिपूजा' अथवा 'जागो फिर एक बार' अथवा 'बादल राग' को वे वाचन परवर्ती पीढ़ियों के लिए संचित कर लिये गए होते। प्राचीन काल में काव्य-वाचक जैसे भी रहे हों, मेरे युग में तो निराला जैसा काव्य-वाचक दूसरा नहीं हुआ।

रघुवीर सहाय ने लिखा है, 'मेरे मन में पानी के कई संस्मरण है।' निराला के काव्य को अजस्र निर्झर मानकर मैं भी कह सकता हूँ कि 'मेरे मन में पानी के अनेक संस्मरण हैं - अजस्र बहते पानी के, फिर वह बहना चाहे मूसलाधार वृष्टि का हो, चाहे धुआँधार जल-प्रपात का, चाहे पहाड़ी नदी का, क्योंकि निराला जब कविता पढ़ते थे तब वह ऐसी ही वेगवती धारा सी बहती थी। किसी रोक की कल्पना भी तब नहीं की जा सकती थी - सरोवर-सा ठहराव उनके वाचन में अकल्पनीय था।

और क्योंकि पानी के अनेक संस्मरण हैं, इसलिए उन्हें दुहराऊँगा नहीं।

उन्हीं दिनों के आस-पास उनसे और भी कई बार मिलना हुआ, दिल्ली में वह मेरे यहाँ आये थे और दिल्ली में एकाधिक बार उन्होंने मेरे अनुरोध किये बिना ही सहज उदारतावश अपनी कई कविताएँ सुनायीं। फिर इलाहाबाद में भी जब-तब मिलना होता, पर

कविता सुनने का ढंग का अवसर केवल एक बार हुआ क्योंकि इलाहाबाद में धीरे-धीरे एक अवसाद उन पर छाता गया था जो उन्हें अपने परिचितों के बीच रहते भी उनसे अलग करता जा रहा था। पहले भी उन्होंने गाया था :

मैं अकेला
देखता हूँ आ रही
मेरे दिवस की सान्ध्य वेला।
....
जानता हूँ नदी झरने
जो मुझे थे पार करने
कर चुका हूँ
हँस रहा यह देख
कोई नहीं भेला।

अथवा

स्नेह निर्झर बह गया है
रेत-सा तन रह गया है
....
बह रही है हृदय पर केवल अमा
मैं अलक्षित रहूँ, यह
कवि कह गया है,

लेकिन इन कविताओं के अकेलेपन अथवा अवसाद का स्वर एक संचारी भाव का प्रतिबिंब है जिससे दूसरे भी कवि परिचित होंगे। इसके अनेक वर्ष बाद के

बाँधे न नाव इस ठाँव, बन्धु
पूछेगा सारा गाँव, बन्धु!

का अवसाद मानो एक स्थायी मनोभाव है। पहले का स्वर केवल एक तात्कालिक अवस्था को प्रकट करता जैसे और भी पहले की 'सखि वसंत आया' अथवा 'सुमन भर न लिये, सखि वसंत गया' आदि कविताएँ तत्कालीन प्रतिक्रिया अथवा भावदशा को दर्शाती है। लेकिन 'अर्चना' और उसके बाद की कविताओं में हताश अवसाद का जो भाव छाया हुआ दीखता है वह तत्कालीन प्रतिक्रिया का नहीं, जीवन के दीर्घ प्रत्यवलोकन का परिणाम है जिससे निराला जब-तब उबरते दीखते हैं तो अपने भक्ति-गीतों में ही :

तुम ही हुए रखवाल
तो उस का कौन न होगा।

अथवा

वे दुख के दिन
काटे हैं जिसने
गिन-गिन कर
पल-छिन, तिन-तिन
आँसू की लड़ के मोती के
हार पिरोये
गले डाल कर प्रियतम के
लगने को शशि मुख
दुःखनिशा में
उज्ज्वल, अमलिन।

कह नहीं सकता, इस स्थायी भाव के विकास में कहाँ तक महादेवी जी द्वारा स्थापित साहित्यकार संसद के उनके प्रवास ने योग दिया जिसमें निराला के सम्मान में दावतें भी हुईं तो मानो ऐसी ही जो उन्हें हिंदी कवि-समाज के निकट न लाकर उससे थोड़ा और अलग ही कर गयीं। संसद के गंगा तटवर्ती बँगले को छोड़कर ही निराला जी फिर दारागंज की अपनी पुरानी कोठरी में चले गए, वहीं अवसाद और भक्ति का यह मिश्र स्वर मुखरतर होता गया। और वहीं गहरे धुँधलके और तीखे प्रकाश के बीच भँवराते हुए निराला उस स्थिति की ओर बढ़ते गए जहाँ एक ओर वह कह सकते थे, "कौन निराला? निराला इज़ डेड !" और दूसरी ओर दृढ़ विश्वासपूर्वक 'हिंदी के सुमनों के प्रति' सम्बोधित होकर एक आहत किंतु अखंड आत्मविश्वास के साथ यह भी कह सकते थे, "मैं ही वसंत का अग्रदूत"। सचमुच वसंत पंचमी के दिन जन्म लेने वाले निराला हिंदी काव्य के वसंत के अग्रदूत थे। लेकिन अब जब वह नहीं हैं तो उनकी कविताएँ बार-बार पढ़ते हुए मेरा मन उनकी इस आत्मविश्वास भरी उक्ति पर न अटक कर उनके 'तुलसीदास' की कुछ पंक्तियों पर ही अटकता है जहाँ मानो उनका कवि भवितव्यदर्शी हो उठता है - उस भवितव्य को देख लेता है जो खंडकाव्य के नायक तुलसीदास का नहीं, उसके रचयिता निराला का ही है :

यह जागा कवि अशेष छविधर
इसका स्वर भर भारती मुक्त होयेंगी
... .
तम के अमार्ज्य रे तार-तार
जो, उन पर पड़ी प्रकाश धार
जग वीणा के स्वर के बहार रे जागो;
इस पर अपने कारुणिक प्राण
कर लो समक्ष देदीप्यमान -

दे गीत विश्व को रुको, दान फिर माँगो।

इस अशेष छविधर कवि ने दान कभी नहीं माँगा, पर गीत विश्व को दिया - गीत दिया, पर उसके लिए भी रुका नहीं, बाँटते-बाँटते ही तिरोधान हो गया :

मैं अलक्षित रहूँ, यह कवि कह गया है।

10. अमृत राय और 'कलम का सिपाही'

जीवन परिचय

अमृत राय बहुमुखी प्रतिभा संपन्न साहित्यकार थे। उनका जन्म 15 अगस्त 1921 को उत्तर प्रदेश के कानपुर नगर में हुआ। इनके पिता हिंदी उपन्यास सम्राट प्रेमचंद थे। अमृत राय के जन्म के लगभग सात - आठ महीने बाद ही प्रेमचंद बनारस चले आए और अपने ग्राम लमही में रहने लगे। कुछ समय बाद प्रेमचंद को सपरिवार लखनऊ आना पड़ा। अमृत राय का बचपन कानपुर, लमही, बनारस और लखनऊ में व्यतीत हुआ। स्कूल शिक्षा उन्होंने बनारस और इलाहाबाद में प्राप्त की। इलाहाबाद से उन्होंने एम.ए. तक की शिक्षा प्राप्त की।

अमृत राय राजनीतिक रूप से जागरूक लेखक थे। सन 1942 में वह तत्कालीन कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बने और सक्रिय रूप से पार्टी द्वारा आयोजित आंदोलनों में भाग लेने लगे। उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ में सक्रिय हिस्सा लिया। भारत-सोवियत मैत्री और विश्व शांति से जुड़ी गतिविधियों आदि कई सांस्कृतिक आंदोलनों में भी उत्साहपूर्वक भाग लिया। अपनी राजनीतिक मान्यताओं के कारण उन्हें जेल भी जाना पड़ा। 1956 में कम्युनिस्ट पार्टी के नीतियों से विरोध होने के कारण पार्टी से त्यागपत्र दे दिया। तथापि उनकी आस्था मार्क्सवाद के प्रति कभी कम न हुई।

अमृत राय ने लगभग तेरह वर्ष की अवस्था से ही साहित्य सृजन आरंभ कर दिया था। उनकी प्रारंभिक रचनाएँ बालोपयोगी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थी। अमृत राय ने प्रेमचंद द्वारा संपादित 'हंस' नामक पत्रिका का कई वर्षों तक सफलतापूवर्क संपादन एवं प्रकाशन किया। 'हंस' के साथ-साथ 'नई कहानियाँ' नामक एक अन्य मासिक पत्रिका का भी संपादन किया। उन्हें भारत सरकार की 'नेशनल बुक ट्रस्ट' एवं 'साहित्य अकादेमी' आदि संस्थाओं का सदस्य मनोनीत किया गया। अमृत राय ने कई बार विदेश यात्राएं की।

उनकी पुस्तक 'कलम का सिपाही' की 1963 को श्रेष्ठ पुस्तक घोषित किया गया। उन्हें उस पर साहित्य अकादेमी पुरस्कार भी प्राप्त हुआ। 'अग्निदीक्षा' नामक कृति को 1963 में 'सोवियत लेंड नेहरू पुरस्कार' के द्वारा सम्मानित किया गया। यह प्रसिद्ध सोवियत

लेखक आस्त्रोवस्की के विश्वविख्यात उपन्यास का हिंदी अनुवाद था जो अत्यंत लोकप्रिय भी हुआ। उन्होंने साहित्य की विभिन्न विधाओं के साथ-साथ आलोचना साहित्य को भी समृद्ध किया। अमृत राय निरंतर रचनाशील रहे। 1998 में उनका निधन हो गया।

साहित्यिक योगदान

अमृत राय प्रगतिशील विचारधारा के प्रतिनिधि रचनाकार हैं। इनकी रचनाओं में समाज के दबे-कुचले लोगों का विद्रोह व्यक्त हुआ है। जो लोग शोषित और पीड़ित हैं, जो लोग समाज में हाशिए पर हैं उनको अमृत राय की रचनाओं में केन्द्रीयता प्राप्त हुई है। अमृत राय ने गद्य की विभिन्न विधाओं का प्रयोग किया है जिनमें उपन्यास, कहानी, निबंध, जीवनी, नाटक, यात्रा साहित्य और आलोचना प्रमुख हैं। अमृत राय ने विश्व साहित्य की कई प्रख्यात कृतियों का हिंदी में श्रेष्ठ अनुवाद भी किया है।

अमृत राय द्वारा रचित, उपन्यासों में 'बीज', 'नागफनी का देश', 'हाँथी के दाँत', 'भटयाली जंगल', 'सुख-दुःख' एवं 'धुआँ' प्रमुख हैं। 'बीज' में सन 1942 से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति तक के राजनीतिक और सामाजिक गतिविधिओं की झाँकी मिलती है। 'नागफनी का देश' एक छोटा उपन्यास हैं जिसमें प्रेम के अंध और भावात्मक रूप का चित्रण है। 'हाथी के दाँत' अमृत राय का प्रतीकात्मक उपन्यास है जिसमें एक सामंत के व्यंग्य चित्र द्वारा यह बताया गया है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी उन लोगों के दृष्टिकोण मे कोई अंतर नहीं आया है।

अमृत राय के प्रकाशित कहानी संग्रह में 'जीवन के पहलू' (1945), 'इतिहास' (1948), 'कस्बे का एक दिन' (1956), 'भोर से पहले' (1954), 'कठघरे' (1956), 'गीली मिट्टी' (1960), 'चित्रफलक' (1972) तथा 'सरगम' (1971) प्रमुख हैं। उनकी कहानियों में एक प्रकार का क्रांतिकारी रूमानीपन है। इनकी कहानियों में कटु यथार्थ की जटिलता और संश्लिष्टता का प्रतिबिंब दिखाई देता है। लेखक ने नई सामाजिकता की चुनौती को आगे बढ़कर स्वीकार किया है।

हिंदी के निबंध साहित्य में भी अमृतराय का उल्लेखनीय योगदान है। एक ओर तो उन्होंने कई उत्कृष्ट वैयक्तिक या ललित निबंध लिखे हैं तो दूसरी ओर अनेक विचारात्मक या आलोचनात्मक निबंध भी लिखे हैं। उनके प्रमुख ललित निबंधों में 'रम्पा' (1967) 'बतरस' 'आनंदम्' (1977), प्रमुख हैं। साहित्यिक और आलोचनात्मक पुस्तकों में 'नई समीक्षा' (1950), 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' (1952), सहचिंतन (1967), 'आधुनिक भाव बोध की संज्ञा' (1972) आदि प्रमुख हैं। उनके आलोचनात्मक लेखन पर मार्क्सवादी दृष्टि का प्रभाव साफ तौर पर देखा जा सकता है। उनके द्वारा रचित नाटकों में 'बिंदियों की एक

झालर' (1969), 'शताब्दी' (1971) और 'हम लोग' (1974) का उल्लेख किया जा सकता है।

अमृत राय की रचनात्मकता की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि है उनके द्वारा लिखी हुई प्रेमचंद की जीवनी, जिसे 'कलम का सिपाही' नाम से 1962 में उन्होंने प्रकाशित करवाया। उनकी यात्रा साहित्य संबंधी पुस्तक 'सुबह के रंग' 1953 में प्रकाशित हुई। रिपोतार्ज 'लाल-धरती' भी उल्लेखनीय रचना है। उन्होंने शेक्सपीयर के 'हेमलेट' का हिंदी में एक अच्छा गद्य अनुवाद प्रस्तुत किया। अमृत राय साहित्यकार ही नहीं विचारक भी थे। उनका साहित्य जनता के यथार्थ से जुड़ा है। वे कला और शिल्प की बारीकी के पक्षधर नहीं थे। वे सामाजिक कर्तव्य के प्रति सचेत और जागरूक लेखक थे। आर्थिक विषमता के कारण दम तोड़ती मानवीय संवेदना का सच्चा चित्र उनके साहित्य में उपलब्ध होता है। वे योग्य पिता के योग्य पुत्र थे।

प्रेमचंद की मृत्यु के लगभग छब्बीस साल बाद, सन् 1962 में प्रेमचंद स्मृति दिवस के अवसर पर अमृत राय ने प्रेमचंद की जीवनी 'कलम का सिपाही' नाम से प्रकाशित की। प्रेमचंद बीसवीं सदी के शुरुआती पैंतीस-छतीस सालों की उर्दू-हिंदी रचनाशीलता के आधार स्तंभ थे। कहानी और उपन्यास लेखन द्वारा उन्होंने साहित्य को राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम के बृहत् उद्देश्यों से जोड़ा। इसलिए उनकी जीवनी द्वारा हम उस युग के रचनाकार के अंतर-बाह्य संघर्ष को समझ सकते हैं।

साहित्यकार के जीवन में उसके साहित्य के सूत्र छिपे होते हैं। उस सूत्र की विवेचना साहित्यकार के ऐतिहासिक विकास को समझने में एक नई दृष्टि प्रदान करते हैं। 'कलम का सिपाही' में रचनाकार ने प्रेमचंद के समस्त जीवन को वस्तुपरक, ऐतिहासिक और तार्किक ढ़ंग से प्रस्तुत किया है।

हिंदी में जीवनी साहित्य बहुत समृद्ध कभी नहीं रहा। अमृत राय ने प्रेमचंद की प्रामाणिक जीवनी लिखकर हिंदी साहित्य के इस अभाव को पूरा किया। अमृत राय प्रेमचंद के मर्म और महत्व को स्पष्टता से प्रतिपादित करते हैं। जीवनी लेखक के लिए यह ज़रूरी है कि वह लेखन में संवेदना और निष्पक्षता का यथोचित पालन करे। लेखक ने प्रेमचंद की कमजोरियों को छिपाया नहीं है। प्रेमचंद अमृत राय के पिता थे। श्रद्धा भाव के कारण जीवनी के कमजोर पड़ने की पूरी संभावना थी। लेकिन लेखक अपनी वस्तुनिष्ठ दृष्टि और निष्पक्षता से इस जोखिम को पार कर गया है। प्रेमचंद के जीवन की घटनाओं की ऐतिहासिकता और उपन्यास की रोचकता को एक साथ लेखक ने साकार कर दिया है।

'प्रेमचंद : कलम का सिपाही' में चरित नायक प्रेमचंद को तत्कालीन राष्ट्रीय और सामजिक परिवेश से सही ढ़ंग से जोड़ने और प्रतिष्ठित करने में अमृतराय को बड़ी

सफलता मिली है। इस पाठ्यक्रम में पुस्तक के बत्तीसवें अध्याय के एक अंश को रखा गया है। इस अध्याय में उनके राजनीतिक विचार के साथ-साथ उनके आर्थिक संकट का वर्णन है। लेखक के नाते उनके दायित्व बोध की पीड़ा की साफ झलक मिलती है। लेखक व्यवस्था की भ्रष्टता के बीच किस प्रकार अपने साहित्यिक पत्र 'हंस' को चलाता है। आर्थिक संकट के कारण उसे किस प्रकार अपनी साहित्यिक रचनाओं को फिल्म बनाने के लिए अनुमति देनी पड़ती है।

'कलम का सिपाही' रोचक शैली में लिखी हुई कृति है। इसमें घटना की इतिवृतात्मकता नहीं है, उसमें उपन्यास की सी रोचकता है। जीवन को वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखते हुए भी उसमें लेखक सरसता को लगातार बनाये रखता है। कृति के नाम से ही कलाकार प्रेमचंद के जीवन संघर्ष का चित्र उभर आता है। जीवनी लेखन की सफलता के लिए भाषा का रचनात्मक प्रयोग भी महत्वपूर्ण है। भाषा का स्वरूप बहुत कुछ वही है, जिसमें प्रेमचंद ने रचना की थी। हिंदी और उर्दू के मिले- जुले रूप का प्रयोग। भारत की मिली-जुली संस्कृति की तरह ही भाषा का आदर्श भी उन्होंने उर्दू - हिंदी का मिश्रित प्रयोग रखा है। भाषा का स्वरूप जनसामान्य के बीच प्रचलित भाषा है। मुहावरे, लोकोक्ति और कहने की शैली में अद्‌भुत सफलता प्राप्त की है। इस जीवनी की सफलता का एक बड़ा कारण उसकी भाषा की शक्ति ही है।

शब्दावली

समष्टि : समाज या समूह
राष्ट्रीयता : जिससे राष्ट्र की पहचान हो।
एकात्मवाद : एक ही आत्मा या एक ही परमात्मा में विश्वास करने संबंधी सिद्धांत।
अंतर्राष्ट्रीयता : विभिन्न राष्ट्रों के बीच एकता के विभिन्न आधार।
क्रीतदास : खरीदा हुआ गुलाम
संपत्ति-व्यक्तिवाद : प्रत्येक व्यक्ति को संपत्ति रखने का अधिकार देना। प्रेमचंद ने इसे ही संपत्ति-व्यक्तिवाद कहा है। पूंजीवाद में यह व्यक्तिवाद तेजी से बढ़ता है।
वर्गवाद : यहाँ प्रेमचंद का तात्पर्य वर्ग संघर्ष से है।
असंपत्तिवाद : वह सिद्धांत जहाँ सम्पत्ति को प्रमुखता न दी गई हो। इसे ही समाजवाद भी कहा जा सकता है।
इश्तहार : विज्ञापन
साबिक दस्तूर : पुरानी रीति से
एंटरटेनर्स : मनोरंजक
सोश्लिस्ट : समाजवादी

कांग्रेस सोश्लिस्ट पार्टी : कांग्रेस के अंदर बना समाजवादियों का दल। यह सन् 1934 में अस्तित्व में आया था।
संपूर्णानंदजी : कांग्रेस के समाजवादी धड़े के तत्कालीन नेता, स्वतंत्रता सेनानी और समाजवादी चिंतक
आचार्य नरेंद्र देव : समाजवादी चिंतक और स्वतंत्रता सेनानी।
तखमीना : अनुमान
उजरत : पारिश्रमिक

व्याख्या के प्रमुख अंश

1. जब तक सम्पत्ति मानव समाज के संगठन का आधार है, संसार में अंतर्राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। राष्ट्रों-राष्ट्रों की, भाई-भाई की, स्त्री-पुरुष की लड़ाई का कारण यही सम्पत्ति है, जितनी मूर्खता और अज्ञानता है, उसका मूल रहस्य यही विष की गाँठ है। जब तक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा, तब तक मानव समाज का उद्धार नहीं हो सकता। मज़दूरों के काम का समय घटाइए, बेकारों को गुज़ारा दीजिए, ज़मींदारों और पूंजीपतियों के अधिकारों को घटाइए, मज़दूरों और किसानों के स्वत्वों को बढ़ाइए, सिक्के का मूल्य घटाइए, इस तरह के चाहे जितने सुधार आप करें, लेकिन यह जीर्ण दीवार इस तरह के टीपटाप से नहीं खड़ी रह सकती। इसे नये सिरे से गिराकर उठाना होगा।....

2. सम्पत्ति ने मनुष्य को क्रीतदास बना लिया है। उसकी सारी मानसिक, आत्मिक और दैहिक शक्ति केवल संपत्ति के संचय में बीत जाती है। मरते-दम भी हमें यही हसरत रहती है कि हाय इस सम्पत्ति का क्या हाल होगा। हम सम्पत्ति के लिए जीते हैं, उसी के लिए मरते हैं। हम विद्वान् बनते हैं सम्पत्ति के लिए, गेरुए वस्त्र धारण करते हैं सम्पत्ति के लिए। घी में आलू मिलाकर हम क्यों बेचते हैं? दूध में पानी क्यों मिलाते हैं? भाँति-भाँति के वैज्ञानिक हिंसा-यंत्र क्यों बनाते हैं? वेश्याएँ क्यों बनती हैं, और डाके क्यों पड़ते हैं? इसका एकमात्र कारण सम्पत्ति है। जब तक सम्पत्तिहीन समाज का संगठन न होगा, जब तक सम्पत्ति-व्यक्तिवाद का अंत न होगा, संसार को शांति न मिलेगी।

3. 'साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलते शायद लज्जा आती है, इसलिए वह उस गधे की भाँति जो सिंह की खाल ओढ़कर जंगल के जानवरों पर रोब जमाता फिरता था, संस्कृति का खोल चढ़ाकर आती है। हिंदू अपनी संस्कृति को कयामत तक सुरक्षित रखना चाहता है, मुसलमान अपनी संस्कृति को। दोनों ही अभी तक अपनी-अपनी संस्कृति को अछूती समझ रहे हैं, यह भूल गए हैं कि अब न कहीं मुसलिम

संस्कृति है न कहीं हिंदू संस्कृति, न कोई अन्य संस्कृति, अब संसार में केवल एक संस्कृति है, और वह है आर्थिक संस्कृति, मगर हम आज भी हिंदू और मुसलिम संस्कृति का रोना रोये चले जाते हैं, हालाँकि संस्कृति का धर्म से कोई संबंध नहीं।

4. '.... संघ लेखकों के स्वत्व की रक्षा करेगा, लेकिन कैसे? कुछ सज्जनों का विचार है कि लेखक संघ उसी तरह लेखकों के हितों और अधिकारों की रक्षा करे जैसे अन्य मजूर-संघ अपने सदस्यों की रक्षा करते हैं, क्योंकि लेखक भी मजूर ही हैं, यद्यपि वह हथौड़े और बसूले से काम न करके क़लम से काम करते हैं। और लेखक मज़ूर है तो प्रकाशक पूँजीपति हुए। इस तरह यह संघ लेखकों को प्रकाशकों की लूट से बचाये, और यही उसका मुख्य काम हो। कुछ अन्य सज्जनों का मत है कि लेखक-संघ को पूंजी खड़ी करके एक विशाल सहकारी प्रकाशन-संस्था बनाना चाहिए, जिससे वह लेखक को उसकी मज़दूरी की ज़्यादा उजरत दे सके ...'

व्याख्या का उदाहरण

सम्पत्ति ने मनुष्य को क्रीतदास बना लिया है। उसकी सारी मानसिक, आत्मिक और दैहिक शक्ति केवल संपत्ति के संचय में बीत जाती है। मरते-दम भी हमें यही हसरत रहती है कि हाय इस सम्पत्ति का क्या हाल होगा। हम सम्पत्ति के लिए जीते हैं, उसी के लिए मरते हैं। हम विद्वान् बनते हैं सम्पत्ति के लिए, गेरुए वस्त्र धारण करते हैं सम्पत्ति के लिए। घी में आलू मिलाकर हम क्यों बेचते हैं? दूध में पानी क्यों मिलाते हैं? भाँति-भाँति के वैज्ञानिक हिंसा-यंत्र क्यों बनाते हैं? वेश्याएँ क्यों बनती हैं, और डाके क्यों पड़ते हैं? इसका एकमात्र कारण सम्पत्ति है। जब तक सम्पत्तिहीन समाज का संगठन न होगा, जब तक सम्पत्ति-व्यक्तिवाद का अंत न होगा, संसार को शांति न मिलेगी।

संदर्भ-संकेत

प्रगतिशील विचारकों में अमृतराय का अपना अलग महत्व है। अपने पिता प्रेमचंद के पदचिन्हों पर चलते हुए उन्होंने भी सामाजिक वैषम्य को अपने लेखन का मुख्य विषय बनाया है। वे जीवन पर्यन्त इस असमानता के खिलाफ जूझते रहे। 'कलम का सिपाही' प्रेमचंद की जीवनी है लेकिन जिसमें प्रेमचंद को उनकी समग्रता में देखा और समझा गया है।

उपर्युक्त गद्यांश में अमृतराय ने प्रेमचंद के संपत्ति संबंधी विचारों को उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत किया है। यह अंश प्रेमचंद के पत्रकारिता जीवन से संबंधित है। यह अंश प्रेमचंद के

पूंजीवादी समाज या उन्हीं के शब्दों में कहें तो 'महाजनी सभ्यता' की आलोचना पेश करता है।

व्याख्या-संकेत

प्रेमचंद का मानना है कि संपत्ति ने मनुष्य को अपना दास बना लिया है। उसकी मानवीयता को नष्ट कर दिया है। इस पूँजीवादी समाज में मनुष्य की पहचान उसके मानवीय गुणों से नहीं उसकी झोली में भरे रूपये से होती है। जिस समाज में इस प्रकार के दुर्गुण आते हैं, वहाँ हर चीज वस्तु हो जाती है। पूँजीवाद में श्रम का शोषण और बाजार का तंत्र प्रमुख हो जाता है। मनुष्य में आत्मिक शक्ति के विकास के रास्ते बंद हो जाते हैं। संपत्ति का संचय होने लगता है।

संपत्ति को पाने के लिए हाय-तोबा मची रहती है। वह जीने-मरने का आधार बन जाता है। समाज बाज़ार हो गया है वहाँ हर चीज़ खरीदने और बेचने के लिए होती है। धर्म, कला और संस्कृति भी क्रय-विक्रय की वस्तु हो जाती है। जिस चीज़ को खरीदा और बेचा नहीं जा सकता, उसका पूंजीवादी समाज में कोई मूल्य नहीं रहता।

पूँजीवाद अपनी जरूरत के अनुसार समाज का गठन करता है। अपनी रक्षा के लिए परमाणु बम बनाता है। युद्ध रचता है और विनाश को आमंत्रित करता है। अधिक से अधिक धन कमाने के लिए खाने-पीने तक की चीज़ों में मिलावट करने से भी नहीं चूकता। प्रेमचंद का तो यह भी मानना था कि यह संपत्ति का बल ही है जो स्त्री को वैश्या बनने के लिए विवश करता है। नारीत्व का आदर्श कुछ नहीं होता क्योंकि उसका कोई मूल्य नहीं है। उससे मुद्रा प्राप्त नहीं की जा सकती है। संपत्ति का यह आतंक व्यक्तिवाद को जन्म देता है। इस व्यवस्था में मनुष्य स्वार्थांध हो जाता है। व्यक्ति का अर्थ प्रचंड स्वार्थ में बधाँ मनुष्य है। संपत्ति जब तक व्यक्तिगत रहती है तब तक जीवन में संतोष नहीं आ सकता, शांति नहीं हो सकती। व्यक्तिवादी पूँजीवाद के विनाश के बिना समानता की कल्पना असंभव है। प्रेमचंद ने पूंजीवाद के इस व्यापक विनाशकारी प्रभाव का जो चित्र खींचा है, वह उनके समय से आज कहीं अधिक सच दिखाई देता है। इस अनुच्छेद की इस दृष्टि से आप व्याख्या प्रस्तुत कर सकते हैं।

मूलपाठ : आत्मकथा

कलम का सिपाही

आँखों के आगे से रहे-सहे पर्दे भी गिरते जा रहे हैं। समष्टि का आदर्श जो अब तक केवल एक भावना थी, अब उसे बुद्धि का पक्का आधार मिल रहा है। 'राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता' के शीर्षक से मुंशीजी ने लिखा :

'राष्ट्रीयता वर्तमान का कोढ़ है, उसी तरह जैसे मध्यकालीन युग का कोढ़ साम्प्रदायिकता थी।... लेकिन प्रश्न यह है कि उससे मुक्ति कैसे हो?

.... अर्थ के प्रश्न को हल कर देना ही राष्ट्रीयता के क़िले को ध्वंस कर सकता है।

वेदांत ने एकात्मवाद का प्रचार करके एक दूसरे ही मार्ग से इस लक्ष्य पर पहुंचने की चेष्टा की। उसने समझा, समाज के मनोभाव को बदल देने से ही यह प्रश्न आप ही आप हल हो जायगा, लेकिन इसमें उसे सफलता नहीं मिली। उसने कारण का निश्चय किये बिना ही कार्य का निर्णय कर लिया, जिसका परिणाम असफलता के सिवा और क्या हो सकता था। ... उसकी असफलता का मुख्य कारण यही था कि उसने अर्थ को नगण्य समझा। ....

जब तक सम्पत्ति मानव समाज के संगठन का आधार है, संसार में अंतर्राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। राष्ट्रों-राष्ट्रों की, भाई-भाई की, स्त्री-पुरुष की लड़ाई का कारण यही सम्पत्ति है, जितनी मूर्खता और अज्ञानता है, उसका मूल रहस्य यही विष की गाँठ है। जब तक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा, तब तक मानव समाज का उद्धार नहीं हो सकता। मज़दूरों के काम का समय घटाइए, बेकारों को गुज़ारा दीजिए, ज़मींदारों और पूंजीपतियों के अधिकारों को घटाइए, मज़दूरों और किसानों के स्वत्वों को बढ़ाइए, सिक्के का मूल्य घटाइए, इस तरह के चाहे जितने सुधार आप करें, लेकिन यह जीर्ण दीवार इस तरह के टीपटाप से नहीं खड़ी रह सकती। इसे नये सिरे से गिराकर उठाना होगा।....

संसार आदि काल से लक्ष्मी की पूजा करता चला आता है।.... लेकिन संसार का जितना अकल्याण लक्ष्मी ने किया है, उतना शैतान ने नहीं किया। यह देवी नहीं डायन है।

सम्पत्ति ने मनुष्य को क्रीतदास बना लिया है। उसकी सारी मानसिक, आत्मिक और दैहिक शक्ति केवल संपत्ति के संचय में बीत जाती है। मरते-दम भी हमें यही हसरत रहती है कि हाय इस सम्पत्ति का क्या हाल होगा। हम सम्पत्ति के लिए जीते हैं, उसी के

लिए मरते हैं। हम विद्वान् बनते हैं सम्पत्ति के लिए गेरुए वस्त्र धारण करते हैं सम्पत्ति के लिए। घी में आलू मिलाकर हम क्यों बेचते हैं? दूध में पानी क्यों मिलाते हैं? भाँति-भाँति के वैज्ञानिक हिंसा-यंत्र क्यों बनाते हैं? वेश्याएँ क्यों बनती हैं, और डाके क्यों पड़ते हैं? इसका एकमात्र कारण सम्पत्ति है। जब तक सम्पत्तिहीन समाज का संगठन न होगा, जब तक सम्पत्ति-व्यक्तिवाद का अंत न होगा, संसार को शांति न मिलेगी।

(आज यह कैसा भूत मुंशीजी पर सवार है!)

कुछ लोग समाज के इस आदर्श को वर्गवाद या 'क्लास वार' कहकर उसका अपने मन में भीषण रूप खड़ा कर कर लिया करते हैं। जिनके पास धन है, जो लक्ष्मी-पुत्र हैं, जो बड़ी-बड़ी कंपनियों के मालिक हैं, वे इसे हौआ समझकर आँखें बंद करके गला फाड़कर चिल्ला पड़ते हैं। लेकिन शांत मन से देखा जाय तो असपंत्तिवाद के शरण में आकर उन्हें भी वह शांति और विश्राम प्राप्त होगा, जिसके लिए वे संतों और संन्यासियों की सेवा किया करते हैं, और फिर भी वह उनके हाथ नहीं आती। .... क्या वे अपने ही भाइयों से, अपनी ही स्त्री से सशंक नहीं रहते? क्या वे अपनी ही छाया से चौंक नहीं पड़ते? यह करोड़ों का ढेर उनके किस काम आता है? वे कुंभकर्ण का पेट लेकर भी उसे अंदर नहीं भर सकते। ऐन्द्रिक भोग की भी सीमा है। इसके सिवा कि उनके अहंकार को यह संतोष हो कि उनके पास एक करोड़ जमा है, और तो उन्हें कोई सुख नहीं है। क्या ऐसे समाज में रहना उनके लिए असह्य होगा, जहाँ उनका कोई शत्रु न होगा, जहाँ उन्हें किसी के सामने नाक रगड़ने की ज़रूरत न होगी, जहाँ उन्हें छल-कपट के व्यवहार से मुक्ति होगी, जहाँ उनके कुटुम्बवाले उनके मरने की राह न देखते होंगे, जहाँ वे विष के भय के बग़ैर भोजन कर सकेंगे? क्या यह अवस्था उनके लिए असह्य होगी? .... बेशक उनके पास बड़े-बड़े महल और नौकर-चाकर और हाथी-घोड़े न होंगे, लेकिन यह चिन्ता, संदेह और संघर्ष भी तो न होगा।'

सम्पत्तिहीन, श्रेणीहीन, समष्टिमूलक समाज के विरुद्ध कोई युक्ति, कोई तर्क सुनने के लिए मुंशीजी तैयार नहीं है, सब झूठे तर्क है, सम्पत्ति को बनाये रखने के :

'कुछ लोगों को संदेह होता है कि व्यक्तिगत स्वार्थ के बिना मनुष्य में प्रेरक शक्ति कहाँ से आये। फिर विद्या, कला और विज्ञान की उन्नति कैसे होगी? क्या गोसाईं तुलसीदास ने रामायण इसलिए लिखा था कि उस पर उन्हें रायल्टी मिलेगी? आज भी हम हज़ारों आदमियों को देखते हैं जो उपदेशक हैं, लेखक हैं, कवि हैं, शिक्षक हैं, केवल इसलिए कि इससे उन्हें मानसिक संतोष मिलता है। अभी हम व्यक्ति की परिस्थिति से अपने को अलग नहीं कर सकते, इसलिए ऐसी शंकाएँ हमारे मन में उठती हैं। समष्टि कल्पना के उदय होते ही यह स्वार्थ चेतना स्वयं संस्कृत हो जायगी।'

कहीं कोई दुविधा नहीं, झिझक नहीं है। विचारों की बड़ी लंबी और टेढ़ी-मेढ़ी यात्रा करके मुंशीजी इस जगह पहुँचे हैं, जो कि एक ठहरने का मुकाम है।

अब तो एक दूरबीन आँख उन्हें मिल गयी है, एक समग्र विराट् दृष्टि, एक पक्की कसौटी जिसमें कोई धोखा नहीं है। 'साम्प्रदायिकता और संस्कृति' के उलझे हुए, संघर्षपूर्ण प्रश्न पर विचार करते हुए उन्होंने 15 जनवरी 1934 के 'जागरण' में लिखा -

'साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलते शायद लज्जा आती है, इसलिए वह उस गधे की भाँति जो सिंह की खाल ओढ़कर जंगल के जानवरों पर रोब जमाता फिरता था, संस्कृति का खोल चढ़ाकर आती है। हिंदू अपनी संस्कृति को कयामत तक सुरक्षित रखना चाहता है, मुसलमान अपनी संस्कृति को। दोनों ही अभी तक अपनी-अपनी संस्कृति को अछूती समझ रहे हैं, यह भूल गए हैं कि अब न कहीं मुसलिम संस्कृति है न कहीं हिंदू संस्कृति, न कोई अन्य संस्कृति, अब संसार में केवल एक संस्कृति है, और वह है आर्थिक संस्कृति, मगर हम आज भी हिंदू और मुसलिम संस्कृति का रोना रोये चले जाते हैं, हालाँकि संस्कृति का धर्म से कोई संबंध नहीं। आर्य संस्कृति है, ईरानी संस्कृति है, अरब संस्कृति है लेकिन ईसाई संस्कृति और मुसलिम या हिंदू संस्कृति नाम की कोई चीज़ नहीं है। ....'

यही सब तो बातें हैं बग़ावत से भरी हुई जो बाहर आने के लिए तड़प रही हैं और तड़पती रहती हैं वर्ना क्या पड़ी थी किसी को कि यह सब आफत मोल लेता - हाँ मोल लेता, अपनी किताबों की आमदनी फूँककर, अपनी ज़िंदगी का आराम-चैन गँवाकर। कभी मुंशीजी इश्तहारों के लिए जैनेन्द्र को लिखते हैं कि बिड़ला से मिलो, मेरी खातिर मिलो और उनको बात समझाओ, कभी दयानरायन निगम को लिखते हैं कि कानपुर में फ्लेक्स और लाल इमली के इश्तहार हासिल कीजिए, कभी बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखते हैं कि बंगाल केमिकल बहुत इश्तहार करता है, क्या हमको भी उसका इश्तहार नहीं मिल सकता? छटपटाते हैं, हर तरफ़ हाथ-पैर मारते हैं। सब इसलिए कि कुछ कहना है, जिसे कहना ज़रूरी है।

लेकिन है पूरी फाँसी। 18 अगस्त 1933 के खत में चतुर्वेदी जी को उन्होंने लिखा था -

'बड़े दुःख की बात है कि मेरा कोई पत्र अभी तक अपने पैरों पर नहीं खड़ा हुआ। हंस तो मुझे बहुत महँगा नहीं पड़ रहा है लेकिन जागरण असह्य हो रहा है। मेरी अक़ल चकरा रही है कि कैसे इस स्थिति से बाहर निकलूँ। मुझे हर महीने करीब 200 का घाटा हो रहा है। आख़िर कब तक यह हालत चल सकती है? एक बार उसको शुरू करने की ग़लती करने के बाद अब अहंकार उसे बंद करने की राह में आड़े आता है। लोग मुँह ही मुँह में कैसे हँसेंगे, खिल्ली उड़ायेंगे!'

मगर वाह रे हिम्मत, अभी कुछ ही महीने पहले तो उन्होंने निगम साहब को लिखा था -

'हाँ, रोज़ाना जागरण लखनऊ से निकालने का इंतज़ाम हो रहा है। .... हफ्तेवार के नुक़सान ने रोज़ाना पर आमादा किया है।' ख़ैरियत हुई कि वह बात आयी-गयी हो गयी। ... लेकिन इन छः-सात महीनों में अक़्ल शायद कुछ ठिकाने आ गयी है। पहली सितंबर को उन्होंने जैनेंद्र को लिखा :

आजकल इतनी मंदी है कि समझ में नहीं आता, काम कैसे चलेगा। मज़दूरों को वेतन चुकाने में कठिनाई पड़ रही है।

फिर इसी ख़त में आगे चलकर :

'... समाचारपत्रों की आमदनी का दारोमदार विज्ञापनों पर है। मैंने बिड़ला से मिलने को कहा था। अपनी ग़रज़ से मत मिलो, मेरी ग़रज़ से मिलो, पत्र दिखाओ, उसकी चर्चा करो। ... उनके पास कई मिलें हैं, एकाध पृष्ठ का विज्ञापन उनके लिए तो कुछ नहीं है लेकिन मेरे और तुम्हारे लिए वह पचास रुपये महीने का सहारा है। भाई, यह संसार चुपके से रामभरोसे बैठने वालों के लिए नहीं है। ... यहाँ झेंपू और मेरे जैसे शर्मीले आदमियों का गुज़ारा नहीं। तुम अपने में यह ऐब न आने दो। है भी नहीं। मैं तो कौड़ी दाम का नहीं हूँ। ....'

अगले महीने और भी हताश होकर लिखा :

'... जो कुछ आमदनी होती है वह ऊपर-ऊपर उड़ जाती है। वेतन तक को पूरी नहीं पड़ती। काग़ज़ के कई सौ रुपये बाकी पड़े हैं। .... मैं अपनी ख़ामियों को समझ रहा हूँ, अपनी ग़लतियों को देख रहा हूँ। पर यह आशा है कि शायद कुछ हो जाय। हिम्मत बाँधे हुए हूँ। इधर एक महाशय फिर एक लिमिटेड प्रकाशक संघ खोलने का विचार कर रहे हैं। मैं भी शरीक हो गया। कुछ लोगों ने हिस्से लेने का वचन भी दिया। मगर वह ऐसे ग़ायब हुए कि कुछ पता ही नहीं कहाँ है। ... हंस में दम नहीं है, पर फिर भी शहीदों में शामिल होना चाहता है। मैंने सोच लिया है, जनवरी तक और देखूँगा। अगर उस वक्त तक जागरण कुछ ढंग पर न आया तो इसे बंद कर दूँगा। .... शायद मेरी कामनाएँ सब यों ही रह जायेंगी। मुशकिल तो यह है कि व्यवसाय में जितना मैं कच्चा हूँ, उतने ही तुम भी कच्चे हो। वर्ना क्या बात है कि ऋषभचरण तो सफल हों और हम लोग असफल रहें। उपन्यास लिखता था, वह भी बंद है लेकिन अब ज़्यादा प्रतीक्षा न करूँगा। जनवरी तक और देखता हूँ। तुम्हारी सलाह न मानी, वर्ना इतना घाटा क्यों उठाता। लेकिन कोई काम बंद करते बदनामी होती है और यही लाज ढो रहा हूँ। ... मैं तुमसे सच कहता हूँ, प्रेस और पत्रों पर मैं मरा जा रहा हूँ। कुछ लेखों से, कुछ रायल्टियों से, कुछ उर्दू पुस्तकों से अपनी गुज़र कर रहा हूँ। लेकिन बहुत देख चुका, अब यह तमाम बंद कर दूँगा।'

अगले महीने लिखा :

'जागरण का भार मेरे सिर से उतरा जा रहा है। यहाँ से बाबू संपूर्णानन्दजी उसे अर्द्ध-साप्ताहिक रूप में निकालने जा रहे हैं। आशा है दो-तीन दिन में सब बात तय हो जाएगी।'

काश! मगर वह अभी नहीं होना था।

अगले महीने 16 सितंबर 1933 को मुंशीजी ने लिखा - 'जागरण साबिक़ दस्तूर चल रहा है। बाबू सम्पूर्णानन्दजी को शायद उनके मित्रों ने मदद नहीं दी। अब मैं उसको बंद करने की फ़िक्र में हूँ।'

12 जनवरी 1934 को बनारसीदासजी को लिखा :

'मेरी आर्थिक दशा ठीक नहीं है। इस साल 2000 का घाटा रहा। इसने मेरी कमर तोड़ दी। मैं प्रेस और प्रकाशन और पत्र सभी कुछ लीडर प्रेस के हवाले कर देने के लिए बातचीत कर रहा हूँ। देखूं कैसा क्या होता है।'

हालत बराबर संगीन होती जा रही है।

आखिर 14 फरवरी 1934 को उन्होंने जैनेन्द्र को लिखा :

'काशी अंक निकला। चार सौ वी.पी. गए, 175 वसूल हुए, 225 वापस आये। बस, बधिया बैठ गयी। .... इस वापसी का नतीजा यह कि काग़जवाले को 1300 में कुल 300 दे सका। एक हज़ार पूरे उसके सर पर सवार है। जागरण के काग़जवाले का भी 1000 से कुछ ऊपर ही चढ़ा हुआ है। जो-जो बातें सोची थीं, सब ग़ायब हो गयीं। ऐसी माली हालत में क्या कोई प्रोग्राम बाँधूँ क्या करूँ। 'तुम्हें मालूम होगा कुछ दिनों से लीडर प्रेस वालों से इस सारे संकट को मिटा देने का प्रस्ताव था। बीच में वह प्रस्ताव स्थगित कर दिया था। पर जब ऐसी परिस्थिति आ पड़ी है तो अब इसके सिवा कोई राह नहीं है कि किसी तरह इस झगड़े से गला छुड़ाकर भाग निकलूँ। लीडर को एक प्रस्ताव लिख भेजा है। वे यहाँ 18 को आने वाले हैं। आशा करता हूँ कि उस दिन यह मामला तय हो जायगा। पहले इरादा था कि हंस उन्हें दे दूँगा और प्रेस चलाता रहूँ लेकिन सारी विपत्ति की जड़ तो यह प्रेस है। न जाने किस बुरी साइत में उसकी बुनियाद पड़ी थी। दस हज़ार रुपये और ग्यारह साल की मेहनत और परेशानियाँ अकारथ हो गयीं। इसी प्रेस के पीछे कितने मित्रों से बुरा बना, 'कितनों से वादाखिलाफी की, कितना बहुमूल्य समय जो लिखने-पढ़ने में कटता, बेकार प्रूफ़ देखने में कटा। मेरी ज़िंदगी की यह सबसे बड़ी ग़लती है।'

ग़रज़ की इस तमाम दास्तान में एक खुशखबरी यही है कि सेवासदन का फिल्म हो रहा है। उस पर मुझे साढ़े सात सौ मिले .... 'साढ़े सात सो! वल्लाह आपने तो लूट लिया बेचारे को!!' ... लेकिन तंगी में जब कोई रक़म हाथ आ जाती है तो वे सारी ज़रूरतें जो मुँह दबाये पड़ी थीं, यकायक चीख मारने लगती हैं। किसी के पास कपड़े नहीं हैं, किसी के पास जूते नहीं हैं, किसी की लड़की की शादी के लिए कुछ देना चाहिए। ग़रज़ वह रुपये दो-चार दिन में हवा हो जाते हैं ....'

महालक्ष्मी सिनेटोन ने यह शानदार (!) रक़म देकर 'सेवासदन' लिया था, और चित्र का निर्देशन किया नानूभाई वकील ने, जो घटिया तरह के एण्टरटेनर्स बनाने के लिए मशहूर थे। उन्होंने किताब के उर्दू नाम को ज़्यादा पसंद किया और उसी 'बाज़ारे हुस्न' के नाम से वही घटिया नाच-गानेवाली ठेठ बंबइया तस्वीर बनाकर रख दी। मुंशीजी ने उसको देखा तो अपने लड़के को तार की जबान में बस इतना लिख सके - Sevasadan released. Saw. Fair but not satisfactory. (सेवासदन रिलीज हो गया। देखा। अच्छा ही है पर संतोषजनक नहीं।)

लेकिन यही सेवासदन, लगभग इन्हीं दिनों, तमिल में बना तो बात ही और थी। के. सुब्रह्मण्यम ने उसका निर्देशन किया और बाद की विख्यात गायिका एम. शुभलक्ष्मी के जीवन में पहली बार रंगमंच पर उतरकर सुमन की भूमिका ग्रहण की। नटेश ऐयर ने गजाधर पाण्डे के रूप में बड़ा कमाल किया। सुब्रह्मण्यम अभी जीवित है और तमिल फ़िल्म-जगत के चोटी के लोगों में गिने जाते हैं। अगर सफलता की कसौटी पैसा है तो न वह आज सबसे सफल लोगों में हैं और न तब थे, लेकिन अगर सफलता की कसौटी कला के इस अत्यंत सामाजिक माध्यम को वस्तु और शिल्प के नये शिखरों पर ले जाना, अभिव्यक्ति के नये रास्ते खोलना हो तो सुब्रह्मण्यम तमिल फिल्म जगत् का एक ऐसा नाम है जो कभी भूला नहीं जा सकता। कथाकार के सामाजिक संदेश और कहानी की आत्मा की पूरी तरह रक्षा करते हुए सुब्रह्मण्यम ने 'सेवासदन' बनाया जो कि रुचि-सम्पन्न लोगों के बीच बहुत पसंद किया गया।

लीडरवालों से बातचीत चल रही थी - इसी आधार पर कि हंस का और पुस्तकों का मूल्य जोड़ लिया जाय और उतने हिस्से मुंशीजी को लीडर कंपनी में मिल जायें। हंस के लिए मुंशीजी ने दो हज़ार माँगे थे "हालाँकि इस पर मैं 4000 से ज़्यादा भेंट कर चुका हूँ। पुस्तकों का मामला साफ है। पुस्तकों की असली लागत निकाल ली जाए। जागरण को चलाना मंजूर हो तो उसे चलाया जाय। अच्छा सोशिलस्ट पत्र बना दिया जाय। रहा यह प्रेस, यहाँ रहे या कहीं और मुझे इसमें कोई एतराज नहीं। हाँ काम ऐसे हाथों में हो जो महज 'ड्रीमर्स' न हों, जैसा मैं हूँ और तुम (जैनेन्द्र) हो, बल्कि कुछ व्यावसायिक बुद्धि भी रखते हों। ...."

लेकिन सौदा पटता नहीं दिखायी देता था और उधर कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के सम्पूर्णानन्दजी और नरेन्द्र देव जी से भी बातें चल रही थीं। हालत रोज़-ब-रोज़ दूभर होती जा रही थी, मगर पर्चा जब तक निकल रहा है उसकी वही आनबान है और मुंशीजी हर हफ्ते कभी इस पर रद्दे कभी उस पर कोड़े लगाते चले जा रहे हैं।

यह तो खैर मुंशीजी की तबीयत है। जीवट उसका एक ख़ास जुज है, जिसे रोने-झींखने से कुछ वास्ता नहीं। लेकिन इसमें शक नहीं कि हिंदी पत्रों, क्या दैनिक, क्या साप्ताहिक, क्या मासिक, सभी का हाल ख़राब है। पढ़ने वालों में रुचि की दरिद्रता, पत्रों में सामग्री की। और कैसे न हो पत्रों में सामग्री की दरिद्रता, कितने साधनहीन हैं बेचारे। मुंशीजी से ज़्यादा कौन जानता है इस बात को, जिनके पास भरोसे का प्रूफ़रीडर भी नहीं है। ढेरों प्रूफ़ खुद ही पढ़ना पड़ता है। अजब दुष्ट चक्र है। लोग, जो पत्र खरीद सकते हैं और खरीदना चाहते हैं, हिंदी पत्र नहीं खरीदते क्योंकि उनका स्तर बहुत संतोषजनक नहीं है, और स्तर संतोषजनक हो नहीं सकता जब तक लोग उन्हें अपनायें नहीं। इसी झमेले में ग़रीबों की मिट्टी खराब हो रही है। उनकी ज़िंदगी भी कोई ज़िंदगी है - कुत्ताघसीटी!

तो भी कहीं पर तो इस दुष्ट चक्र को काटना ही होगा। पत्रों को सामग्री की दृष्टि से अधिक सम्पन्न बनाओ। उसके लिए सबसे पहले देशी-विदेशी भाषाओं से अच्छे अनुवाद कराने की व्यवस्था होनी चाहिए। उसके बिना, केवल मौलिक लेखों से, पेट नहीं भर सकता।

और योजनाशूर तो मुंशीजी पुराने हैं, मई 1933 में दिल्ली के 'अर्जुन' में उन्होंने एक अनुवादक-मंडल के संबंध में अपनी विस्तृत योजना पेश की।

यह हो वह हो, ऐसे हो वैसे हो - सरपट दौड़ चला मुंशीजी का दिमाग़। इलाहाबाद में रामचन्द्र टण्डन को उसमें बहुत दिलचस्पी हुई और चिट्ठियाँ दौड़ने लगीं। अभी तक तो केवल रेखाएँ थीं अब रंग भरा जाने लगा।

मुंशीजी को एक सहृदय समानधर्मा मिला तो रही-सही कसर भी पूरी हो गयी, गो मुंशीजी कहे जाते थे (टण्डन को पत्र : 23.5.33) कि - 'मैं तो एक हरकारा मात्र हूँ और सदा ऐसे कामों में हाथ डालने की चेष्टा करता रहता हूँ जिनके लिए मैं नहीं बनाया गया। पत्रकार कला से मेरा स्वभावगत विरोध है पर परिस्थितियों से विवश होने के कारण मैं उसे स्वीकार करने को बाध्य हुआ हूँ। मेरी यह भावना कि मैं किसी क्षेत्र में कोई स्थायी चिह्न अंकित करने में असमर्थ हूँ, मुझे मूर्खतापूर्ण कामों के लिए उकसाती रहती है। ....'

तय पाया कि कार्यालय इलाहाबाद में होगा। रामचन्द्र टण्डन उसकी देखभाल करेंगे। समिति ने इन्द्र वाचस्पति, बनारसीदास चतुर्वेदी, डॉ. हेमचन्द्र जोशी, श्रीप्रकाश, श्रीकृष्णदत्त पालीवाल होंगे। आमदनी का तखमीना, खर्च का बजट, लेखों की विषय-सूची, पत्र-पत्रिकाओं के नाम, क्लर्क, चपरासी, अनुवादक, उनके काम, उनके वेतन आदि सब कुछ तय हो गया। आफ़िस के पोस्टेज खर्च तक, छोटी से छोटी चीज़ भी एक-एक समझ ली गयी, टाँक ली गयी। अब बस काम शुरू करने की देर थी, लेकिन सवाल था कि म्याऊँ का ठौर कौन पकड़े? वक्त न मुंशीजी के पास था न टण्डन जी के पास और न शायद ज़माने को अब तक इस चीज़ की ज़रूरत का एहसास ही हुआ था, बसखयाली पुलाव पककर रह गया।

कुछ-कुछ ऐसी ही चीज़ लेखक-संघ की उनकी स्कीम भी थी जिसे मुंशीजी ने लगभग इन्हीं दिनों इलाहाबाद के अपने एक और दोस्त सत्यजीवन वर्मा के ज़रिये आगे बढ़ाने की, शक्ल देने की कोशिश की। लेकिन उसका भी कुछ वैसा ही हश्र हुआ, क्योंकि जहाँ कथा-कहानी के क्षेत्र में विचारों का बीज छिड़क देना काफ़ी होता है, वहाँ इस मैदान में बीज छिड़कने भर से कुछ नहीं होता। यहाँ तो जो राह दिखाये वह आगे आये वाली बात है - और उसके लिए पहले तो मुंशीजी के पास समय ही न था और समय मान लीजिए किसी जादू से हो भी जाता तो संगठन-क्षमता कहाँ से आती, उसमें तो मुंशीजी कोरे से भी कोरे थे।

मगर ख़ैर, वह जो भी हो, इस लेखक संघ की एक अलग दास्तान है और उसमें सबसे दिलचस्प बात यह है कि रामचन्द्र टण्डन ने ही उसका सबसे डटकर विरोध किया।

निश्चय ही किसी अभागे क्षण में इस विचार की उद्भावना हुई थी, क्योंकि जब यह विचार सम्यक् रूप से एक प्रस्ताव के रूप में हिंदी संसार के सामने आया तो उसके रूप, विधान, कर्म-सूची आदि को लेकर ऐसा बवंडर उठा कि लेखक-संघ उसमें हवा हो गया। बीज रूप में वह लेखक और प्रकाशक का झगड़ा था। रामचन्द्र टण्डन ने, जो इस संघ को लेखकों के ट्रेड यूनियन के रूप में ही देखते थे, डटकर उसकी गोलमोल कल्पना का विरोध किया और अकेले ही लेखक-संघ के संयोजक और श्री रामनरेश त्रिपाठी और श्री किशोरीदास वाजपेयी आदि से मोर्चा लेते हुए लेखक-संघ को क़रीब-क़रीब दफ़ना दिया। खुद मुंशीजी भी, बावजूद एक भुक्तभोगी लेखक होने के, लेखक-संघ को लेखकों के ट्रेड यूनियन के रूप में, जिसका अकेला काम प्रकाशकों से टक्कर लेना हो, न देख पाते थे।

दिसंबर सन् 34 के 'हंस' में लेखक-संघ पर टिप्पणी देते हुए मुंशीजी ने लिखा था :

.... संघ लेखकों के स्वत्व की रक्षा करेगा, लेकिन कैसे? कुछ सज्जनों का विचार है कि लेखक संघ उसी तरह लेखकों के हितों और अधिकारों की रक्षा करे जैसे अन्य मजूर-संघ अपने सदस्यों की रक्षा करते हैं, क्योंकि लेखक भी मजूर ही हैं, यद्यपि वह हथौड़े और बसूले से काम न करके क़लम से काम करते हैं। और लेखक मज़ूर है तो प्रकाशक पूँजीपति हुए। इस तरह यह संघ लेखकों को प्रकाशकों की लूट से बचाये, और यही उसका मुख्य काम हो। कुछ अन्य सज्जनों का मत है कि लेखक-संघ को पूंजी खड़ी करके एक विशाल सहकारी प्रकाशन-संस्था बनाना चाहिए, जिससे वह लेखक को उसकी मज़दूरी की ज़्यादा उजरत दे सके ...'

प्रश्न पर अपनी राय देते हुए मुंशीजी ने लिखा -'मौजूदा हालत ऐसी नहीं है कि प्रकाशकों को लेखकों के साथ ज़्यादा न्यायसंगत व्यवहार करने पर मज़बूर किया जा सके। ... इस समय एक भी ऐसा साहित्यग्रन्थ-प्रकाशक नहीं है जो नफ़े से काम कर रहा हो। जो प्रकाशक धर्मग्रन्थों या पाठ्य पुस्तकों का व्यापार करते हैं, उनकी दशा इतनी बुरी नहीं है, कुछ तो ख़ासा लाभ उठा रहे हैं, लेकिन जो लोग मुख्यकर साहित्य ग्रन्थ ही निकाल रहे हैं, वे प्रायः बड़ी मुश्किल से अपनी लागत निकाल पाते हैं। कारण है साधारण जनता की साहित्यिक अरुचि। जब प्रकाशक को यही विश्वास नहीं कि किसी पुस्तक के काग़ज और छपाई की लागत भी निकलेगी या नहीं, तो वह लेखकों को पुरस्कार या रायल्टी कहाँ से दे सकता है? साहित्यिक रचनाओं का प्रकाशन प्रायः बन्द-सा है .... पहले ऐसी परिस्थिति तो पैदा हो कि प्रकाशक को प्रकाशन से नफ़े की आशा हो ....'

हिंदी प्रकाशन-व्यवसाय की घोर अविकसित स्थिति को देखते हुए मुंशीजी की बात कुछ ऐसी भयानक न थी, काफ़ी पते की थी, व्यावहारिक, दूरदर्शी, लेकिन टण्डन जी को अपने सैद्धांतिक उत्साहवश उसमें कुछ दूसरी ही गंध मिली और उन्होंने 31 दिसंबर के अपने पत्र में काफ़ी क्षुब्ध होकर लिखा -

' .... अभी-अभी पत्र में इस विषय को लेकर पंडित रामनरेश त्रिपाठी के साथ मेरा विवाद समाप्त हुआ है और मैं फिर एक नये विवाद में, और सो भी आपके साथ, नहीं पड़ना चाहता। लेकिन मैं आपके विचारों से अपनी पूर्ण असहमति व्यक्त करने के लिए आपकी अनुज्ञा चाहता हूँ। दुर्भाग्यवश ऐसा लगता है कि वे लेखक, जो प्रकाशक भी बन गए हैं, अपने पुराने सहधर्मियों के प्रति सहानुभूति की क्षमता खो बैठे हैं। आपकी भावधारा ठेठ प्रकाशकों की भावधारा है। ... प्रकाशक व्यापार की मंदी का शोर क्यों मचाते हैं? खर्च की दूसरी मदों का भुगतान तो वह बड़े मज़े में करते हैं और जैसे ही लेखक को पैसा देने की बात आयी, बस यही बात, देखो, व्यापार कैसा मंदा जा रहा है!

मैं पूछता हूँ, क्या यह ईमानदारी की बात है? क्या आप नहीं मानते कि प्रकाशकों में बड़े-बड़े मगरमच्छ पड़े हुए हैं? ... मै आपसे मदद पाने की आस लगाये हूँ, यह नहीं कि आप प्रकाशक के वकील बनकर सामने आये। ....'

इसी सूत न कपास कोरियों में लट्ठमलट्ठा के पीछे वह चीज़ ठण्डी हो गयी - हाँ, उसका मुखपत्र 'लेखक' कुछ दिनों तक जैसे-तैसे चलता रहा।

11. बच्चन और 'क्या भूलँ क्या याद करूँ'

जीवन परिचय

हरिवंश राय बच्चन का जन्म 27 नवबंर 1907 को इलाहाबाद में हुआ था। बच्चन जी के पिता का नाम प्रतापनारायण श्रीवास्तव और माता का नाम श्रीमती सुरसती देवी था। इनका परिवार पारंपरिक ढंग का हिंदू परिवार था जो कुछ खास मान्यताओं, रूढ़ियों परंपराओं में विश्वास करता था। हरिवंश राय जी संयुक्त परिवार के सदस्य थे। साझे परिवार के दुःख सुख और दायित्व बोध का मिश्रित अनुभव बच्चनजी में देखा जा सकता है।

कविवर बच्चन की प्रारंभिक शिक्षा इलाहाबाद के म्युनिसिपल स्कूल तथा कायस्थ पाठशाला में हुई। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में बी.ए. की परीक्षा पास की। बी.ए. के प्रथम वर्ष में ही उनका विवाह कर दिया गया था। उनकी पत्नी का नाम श्यामा था। 1930 में बच्चन ने अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. प्रथम वर्ष की परीक्षा पास की। उन दिनों गांधी जी का सत्याग्रह आंदोलन जोरों से चल रहा था। उन्होंने यूनिवर्सिटी छोड़ दी। नमक बनाने, चरखा कातने, गांवों में व्याख्यान देने और पिकेटिंग करने लगे। कुछ ही महीने बाद परिवार की आर्थिक हालत खराब हो गई। उन्होंने जीवीकोपार्जन करने का निश्चय किया। उनके पिता के प्रयत्न से 1932 में उन्हें दैनिक 'पायोनियर' में जिला कचहरियों के संवाददाता का कार्य मिल गया।

1934 में इलाहाबाद के अग्रवाल विद्यालय में अध्यापक नियुक्त हुए। इस पद पर तीन वर्ष कार्य किया। उनकी पत्नी श्यामा इन दिनों यक्ष्मा से पीड़ित थी। 1936 में श्यामा का निधन हो गया। इससे कवि हृदय को बड़ा आघात लगा। लगभग सालभर वे कुछ नहीं लिख सके। इसके बाद 1937 में उनकी प्रख्यात रचना 'निशा निमंत्रण' प्रकाशित हुई।

1937 में वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में एम.ए. द्वितीय वर्ष के विद्यार्थी के रूप में भरती हुए। सन् 1938 में एम.ए. कर लेने के बाद वे बनारस ट्रेनिंग कॉलेज में पढ़ाने लगे। इन दिनों वह लाहौर काफी आने-जाने लगे थे। इसी समय उनका परिचय तेजीजी से हुआ। तेजीजी उन दिनों लाहौर के एक कालेज में मनोविज्ञान की अध्यापिका थी। वे इलाहाबाद

विश्वविद्यालय में अंग्रेजी साहित्य के जूनियर लेक्चरार नियुक्त हो गए थे। उन्होंने 24 जनवरी 1942 को तेजी बच्चन से विवाह किया।

पहली पत्नी श्यामा की बीमारी और उनके देहावसान के बाद उनके जीवन में गहरी वेदना का जो दौर प्रारंभ हुआ था, वह तेजी बच्चन से विवाह के बाद समाप्त हो गया। इन दिनों 'जो बीत गई सो बात गई' जैसी कविताएँ लिखनी शुरू की, जिसमें नवजीवन और आत्मविश्वास का संदेश था। 1952 में बच्चन अंग्रेजी साहित्य में डाक्टरेट करने के लिए केंब्रिज विश्वविद्यालय चले गए। पी.एच.डी सामाप्त कर 1954 में वे स्वदेश लौट आए। दिसम्बर 1955 में भारत सरकार ने उन्हें विदेश मंत्रालय के हिंदी विशेषज्ञ के रूप में नियुक्त किया, जहाँ वे दस वर्ष तक रहे। अप्रैल 1966 में राष्ट्रपति डा.राधाकृष्णन ने उन्हें राज्य सभा का सदस्य मनोनीत किया।

1966 में बच्चनजी ने शिक्षा मंत्रालय की ओर से सोवियत संघ, मंगोलिया, पूर्वी जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया आदि देशों की यात्राएं की। 1972 में उन्हें राष्ट्रपति द्वारा दुबारा राज्यसभा में मनोनीत किया गया। बच्चन को अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। 1966 में सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार से पुरस्कृत किया गया। 'दो चट्टानें' संग्रह पर उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार से 1969 में पुरस्कृत किया गया। अफ्रो एशियन राइटर्स कान्फ्रेंस द्वारा लोटस पुरस्कार से उन्हें सम्मानित किया गया। बच्चन आज भी हमारे बीच मौजूद हैं, लेकिन वृद्धावस्था के कारण वे साहित्य और सामाजिक जीवन से अलग हो गए हैं।

साहित्यिक योगदान

छायावाद के युग में बच्चन जैसे कवि का उदय अपना एक विशेष स्थान तथा महत्व रखता है। छायावाद के उत्कर्ष काल में बच्चन ने रूमानी परंतु लौकिक कविता का नया मुहावरा हिंदी कविता को दिया। बच्चन के गीतों में जो सहजता और तन्मयता है, वह हिंदी कविता के लिए नई बात थी। उन्होंने रागात्मक अनुभूति को जन सामान्य की मानसिकता के स्तर पर मूर्त किया है। उनकी कविता में भावनात्मक गहनता तथा व्यक्तिपरक ममत्व के तत्व दिखाई पड़ते हैं। इसी कारण वह जनसाधारण के निकट आकर मर्मस्पर्शी बन सकी है। डॉ. विजयदेवनारायण साही ने 'छठवाँ दशक में' लिखा है कि किसी समय देवकीनदंन खत्री ने 'चंद्रकांता संतति' लिखकर हजारों (या लाखों) लोगों को उर्दू छोड़कर हिंदी पढ़ने के लिए विवश कर दिया था। कविता में यदि उस क्रांति का कोई जोड़ है तो वह बच्चन की 'मधुशाला' है। अधिक से अधिक पाठकों को सामयिक कविता का चस्का लगाने का श्रेय जितना अकेले बच्चन को है, उतना किसी अन्य कवि को नहीं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं।' बच्चन की कविता गंभीरता को तोड़ती हुई कविता है।

बच्चन जीवन के राग-रंग के कवि हैं। वे ऐन्द्रिक सौंदर्यबोध को भावात्मक धरातल में व्यक्त करते हैं। इसके लिए उन्होंने फारसी और उर्दू कविता की परंपरा से प्रतीक चुने हैं और उन्हें गीतात्मक भावबोध के साथ प्रस्तुत किया है। उनकी गीतात्मकता में भाषा की सहजता और लयात्मकता देखते ही बनती है। यही कारण है कि उनका काव्य इतना लोकप्रिय हो सका।

बच्चन की प्रारंभिक कविता में उत्तर छायावाद का प्रतिनिधित्व मिलता है। बच्चन की कविता का प्रकाशन काल निम्नांकित हैं : 'तेरा हार' (1932), 'मधुशाला' (1935), मधुबाला (1936), 'मधुकलश' (1937) 'निशानिमंत्रण' (1938), 'एकांत संगीत' (1939), 'आकुल अंतर' (1943), 'हलाहल' (1946), 'बंगाल का काल' (1946), 'खादी के फूल' (1948), 'सूत की माला' (1948), 'मिलन यामिनी' (1950), 'प्रणय पत्रिका (1955), 'आरती और अंगारे' (1958), 'बुद्व और नाचघर' (1958) 'त्रिभंगिमा' (1961)। बच्चन 'मधुशाला' से लेकर 'एकांत संगीत' तक अपने श्रेष्ठतम कवि रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके बाद काव्य प्रायः उनके निजी सुख-दुख का लेखा-जोखा होकर रह जाता है।

बच्चन के यहाँ कहानी तान बन जाती है, कविता को लिखा नहीं गाया जाता है। उन्होंने गाने के मोहक तर्ज का आविष्कार किया। उनके गीत में सुख-दुख, अकेलापन, गीतकार के साथ एकाकार हो गए हैं। उनकी आत्मनिष्ठ भावना प्रणय, विछोह तथा जीवन संघर्ष के आघात सहकर ही क्रमशः व्यापक और विकसित हो सकी है।

बच्चन का गद्य पर भी असाधारण अधिकार है। उन्होंने निबंध आत्मकथा आदि अनेक गद्य विधाओं पर समान अधिकार से लेखनी चलायी। निबंध संग्रह में 'नये पुराने झरोखे' (1962), टूटी-फूटी कड़ियां (1973), कवियों में सौम्य संत : पंत काव्य समीक्षा (1960) प्रमुख रचनाएँ हैं। आत्मकथा लेखन में तो उन्होंने नई मिसाल कायम की। आत्मकथा को उन्होंने पूरी ईमानदारी और विश्वास के साथ रचा है। उनकी आत्मकथा चार भागों में विभाजित हैं : ' क्या भूलू क्या याद करू', (1969), नीड़ का निर्माण फिर (1970), 'बसेरे से दूर' (1977) तथा 'दश द्वार से सोपान तक',। 'प्रवास की डायरी' (1971), डायरी विधा का उत्तम उदाहरण है। हिंदी में अनुवाद साहित्य को भी उन्होंने समृद्ध किया। उमर खैय्याम की रचनाओं का अनुवाद उन्होंने 1935 मे किया। गीता जैसी लोकप्रिय अमर रचना का उन्होंने अवधी में अनुवाद किया जो 'जनगीता' (1958) और 'नागर गीता' नाम से प्रकाशित हुई। शेक्सपीयर के नाटकों का पद्यानुवाद किया। शेक्सपीयर के नाटकों में मेकबैथ (1957), ओथेलो (1959) 'किंग लियर' (1972) के अनुवाद प्रमुख हैं। नेहरू का राजनीतिक जीवन चरित्र (1961) तथा यीट्स की कविताओं का 'मरकत द्वीप का स्वर' (1965) नाम से अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई ग्रंथों का संपादन का कार्य भी किया। साहित्यकार के रूप में एक लंबा जीवन बच्चन ने जीया और

भोगा है। उन्हें ख्याति, सम्मान और जनता का प्यार मिला जो किसी भी रचनाकार के लिए सबसे बड़ी उपलब्धि होती है।

रचना के बारे में

'क्या भूलूँ क्या याद करू' कवि बच्चन की आत्मकथा का प्रथम भाग है जो नवंबर 1969 में प्रकाशित हुई। बच्चन ने अपनी आत्मकथा चार भागों में लिखी है। प्रथम भाग 'क्या भूँलू क्या याद करूँ', द्वितीय भाग 'नीड़ का निर्माण फिर' तृतीय भाग, 'बसेरे से दूर' तथा चतुर्थ भाग 'दशद्वार से सोपान तक'।

आत्मकथा लेखक का कार्य बड़ा जटिल होता है। अपने जीवन के बारे में वस्तुगत रूप में लिखना आसान काम नही है। बच्चनजी ने अपने दुखते और कसकते अनुभव के साथ अपनी संवेदना के पड़ावों को आत्मकथा में प्रतिपादित किया है। सामान्य जीवन को उन्होंने असामान्य ढ़ंग से रचा है। आत्मकथा लिखने का उद्देश्य जीवन की अच्छाई और बुराई को छिपाना नहीं अपितु उसको खुलेपन और निर्भीकता से दिखाना है। अपने अनुभव को पाठक का विश्वसनीय अनुभव बना देना बच्चन की आत्मकथा की बड़ी विशेषता है।

बच्चनजी ने अपनी आत्मकथा में अपने जीवन की कहानी कहने के अलावा अपने समय और समाज का चित्रण भी किया है। उनकी कविता और उनकी आत्मकथा एक विशेष संदर्भों में एक-दूसरे की पूरक है। आत्मकथा के माध्यम से रचना में छिपे उन तत्वों की पड़ताल उपयोगी हो जाती है, जो व्यक्ति के पूरे विकास को रेखांकित करते हैं। 'क्या भूलू क्या याद करूँ' में बच्चन जी एक साधारण आदमी की आत्मीयता के साथ अपनी निजता को भी सुरक्षित रखने में समर्थ हो सके हैं। उन्होंने जीवन के रंगों को विविध ढंग से पेश किया है। आत्मकथा का महत्व यह होता है कि लेखक अपने जीवन को कितनी अर्थवत्ता दे पाया है। बच्चन अपनी इस रचना में अपनी संवेदना का विस्तार करना चाहते हैं। वे अंधविश्वासों और रूढ़ियों से जूझते दिखाई पड़ते हैं। वे आर्थिक परिस्थिति के साथ-साथ भावनात्मक रिश्तों से पैदा हुई समस्याओं से भी जूझते दिखाई देते हैं।'क्या भूँलू और क्या याद करूँ' अनुभूति प्रवणता और किस्सागोई दोनों दृष्टियों से बेजोड़ है।

बच्चन की आत्मकथा का प्रथम भाग 'क्या भूँलू क्या याद करूँ' कवि की तीस वर्ष की आयु तक का आत्मकथात्मक इतिहास है। इस आत्मकथा में उनके विद्रोह का स्वर प्रबल है। उनका विद्रोह जाति व्यवस्था, सामाजिक बंधन और आर्थिक अभाव से है। आत्मकथा में बचपन की अनुभूतियों और स्थानीय संस्कृति का तन्मयता से वर्णन किया गया है। किशोर बच्चन की भावनात्मक पीड़ा और युवा बच्चन के आर्थिक संघर्ष का पूरा ब्यौरा इसमें है। इस पुस्तक के आरंभ में वे अपने पूर्वजों और कायस्थों के जाति रूप में

विकसित होने की कहानी कहते हैं। परिवार के विश्वासों और रूढ़ियों को सामने रखते हैं। अपने जन्म और युवा होने तक के अपने आत्म चरित को मूर्तिमान करते हैं। जीवन कई प्रसंगों और घटनाओं के माध्यम से खुलकर सामने आता है।

'क्या भूँलू क्या याद करूँ' कृति में घटनाएँ चलचित्र की भांति रफ्तार के साथ दौड़ती जान पड़ती है। बच्चनजी की भाषा पर कहीं-कहीं क्षेत्रीय प्रभाव झलकता है। सामान्यतया भाषा सहज एवं सरल है। भाषा में उर्दू - फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। अनुभूति और तन्मयता के अनुरूप रचनात्मक भाषा का प्रयोग बच्चन के गद्य की विशेषता है। शैली में बच्चन किस्सागो की तरह गंभीर से गंभीर बातों को बड़े सहज ढंग से रख देते हैं। किस्सागो की रोचकता से शैली का सौन्दर्य दूना हो जाता है। कहीं-कहीं लेखक ने विवेचनात्मक शैली का भी सहारा लिया है। बच्चन ने ऐसी आत्मीयता पूर्ण निराली शैली को रचा है कि पाठक पढ़ते-पढ़ते कथा-रस में डूब-डूब जाता है। जीवन और सृजन का एक पूर्ण चित्र इसमें उपस्थित है।

शब्दावली

कारवाँ : पुराने जमाने में व्यापार के लिए चलने वाले लोगों का समूह।
दुर्धर्ष : भीषण
वल्द : पिता
बेभुनाई हुंडी : पुराने जमाने में विनिमय के लिए प्रचलित अधिकार पत्र जिसका इस्तेमाल न किया गया हो।
उद्विग्न : बेचैन
उद्भ्रांत : परेशान रहना
नजरूल इस्लाम : रवीन्द्रनाथ ठाकुर की बाद की पीढ़ी के बंगाल के महान विद्रोही कवि।
दकियानूस : पारंपरिक रूढ़ि से ग्रस्त।

व्याख्या के लिए प्रमुख अंश

1. मेरी विगत स्मृतियों, मेरे पूर्व इतिहास, मेरे वर्तमान के श्रम-संघर्ष को जैसा उसने जाना था, जैसी मेरी स्थिति की निकट भविष्य में, कम से कम अपने जीवन-काल में, उसने कल्पना की थी, उससे उसने मेरा नाम Suffering रख दिया था। शायद कोई नहीं जानता था कि वह मुझे इस नाम से पुकारती है - जब हम अकेले होते वह मुझे उसी नाम से संबोधित करती और मैं उसे Joy कहता। मृत्यु शय्या पर जब उसकी चेतना लुप्त हो रही थी, वह मुझे सबके सामने भी उसी नाम से पुकारती गई और शायद ही कोई समझा हो कि वह किसे पुकार रही है और क्या कहना चाहती है।

2. श्यामा चाहती कि मैं सदैव कविता में डूबा रहूँ। कविता में मेरा भविष्य शायद ही उसने देखा होगा, पर इतना तो उसने अनुभव ही किया होगा कि काव्य सृजन में ही मेरा मन कुछ शांति, कुछ मुक्ति पाता है, जो अन्यथा उद्विग्न, उद्भ्रांत अथवा अशांत रहता है। शायद अब भी मनःशक्तियों का पूर्ण केंद्रीकरण, तन्मयता, तल्लीनता, परिपूर्ण आत्म-विस्मरण मैं काव्य-सृजन के ही क्षणों में जानता हूँ - जिसे अब मैं 'समाधि' कहने लगा हूँ। जब मैं अपनी अनुभूतियों में जीता हूँ - कला के माध्यम से अनुभूतियों को जीना शायद जीने से अधिक घनत्व से, तीव्रता से, गहराई से जीना है - तब मैं सारे संसार के लिए मर जाता हूँ, और मैं चाहता हूँ कि कोई कुछ भी ऐसा न करे जिससे मैं संसार में जीने के प्रति सचेत हो जाऊँ, जब तक कि मेरी ही 'समाधि' न टूटे।

3. जीवन की ऐसी आकस्मिक घटनाएँ ही वास्तव में जीवन को दिशा देती है, और जिसे हम 'नियति' का गंभीर-सा नाम देते हैं वह शायद बहुत नगण्य-सी लगने वाली घटनाओं से अपने बड़े-बड़े लक्ष्य प्राप्त करती रहती है। क्या मेरे अंदर का कहानीकार मर गया? मरता जीवन में कुछ भी नहीं, केवल रूप बदलता है। कहानीकार मेरे कवि में आत्मसात् हो गया। ऐसा मेरे बहुत-से पाठक मुझसे कहते हैं कि मेरी बहुत-सी कविताओं के पीछे किसी कहानी की कल्पना कर लेना कठिन नहीं है। कुछ लोगों ने मेरी कतिपय कविताओं को लेकर वास्तव में कहानियाँ गढ़ी हैं, वे छपी भी हैं। बहरहाल, उस दिन के बाद मैंने केवल एक कहानी लिखी, अगर कहानी उसे कह सकते हों तो जो 'निशा निमंत्रण' के आरंभ में है।

व्याख्या का उदाहरण

श्यामा चाहती थी कि मैं सदैव कविता में डूबा रहूँ। कविता में मेरा भविष्य शायद ही उसने देखा होगा, पर इतना तो उसने अनुभव ही किया होगा कि काव्य सृजन में ही मेरा मन कुछ शांति, कुछ मुक्ति पाता है, जो अन्यथा उद्विग्न, उद्भ्रांत अथवा अशांत रहता है। शायद अब भी मनःशक्तियों का पूर्ण केंद्रीकरण, तन्मयता, तल्लीनता, परिपूर्ण आत्म-विस्मरण मैं काव्य-सृजन के ही क्षणों में जानता हूँ - जिसे अब मैं 'समाधि' कहने लगा हूँ। जब मैं अपनी अनुभूतियों में जीता हूँ - कला के माध्यम से अनुभूतियों को जीना शायद जीने से अधिक घनत्व से, तीव्रता से, गहराई से जीना है - तब मैं सारे संसार के लिए मर जाता हूँ, और मैं चाहता हूँ कि कोई कुछ भी ऐसा न करे जिससे मैं संसार में जीने के प्रति सचेत हो जाऊँ, जब तक कि मेरी ही 'समाधि' न टूटे।

संदर्भ-संकेत

उत्तर छायावाद के प्रतिनिधि कवि हरिवंश राय बच्चन को हिंदी साहित्य में हालावाद के प्रवर्तक के रूप में जाना जाता है। बच्चन की कविताओं में उनके जीवन के अनुभवों को देखा जा सकता है। जीवन का ब्यौरेवार विवरण उन्होंने अपनी आत्मकथा में प्रस्तुत किया है।'क्या भूँलू क्या याद करूँ' बच्चन द्वारा रचित उनकी आत्मकथा का प्रथम भाग है। इस आत्मकथा में बच्चन ने अपने जीवन के आरंभिक तीस वर्षों का लेखा - जोखा प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त गद्यांश 'क्या भूँलू क्या याद करूँ' से लिया गया है। कविवर बच्चन ने इस गद्यांश में कवि और कविता के संबंधों की अनिवार्य प्रक्रिया की ओर ध्यान आकर्षित किया है। कविता के प्रति बच्चन का दृष्टिकोण रोमांटिक रहा है। कविता की प्रेरणा को हमेशा वे प्रमुख मानते रहे हैं।

व्याख्या-संकेत

कवि की पहली पत्नी श्यामा हमेशा बच्चन के कवि रूप को उकसाने का प्रयत्न करती थी। कविता रचने की प्रेरणा के पीछे बच्चन की पहली पत्नी अदृश्य रूप में मौजूद रही हैं। कविता कवि की काव्य साधना का हेतु न होकर जीवन साधना का हेतु हो जाता है। काव्य और जीवन के बीच लय का संधान होता है। जीवन और काव्य में लय होती है। यदि लय खो जाती है तो न कविता में पूर्णता को प्राप्त किया जा सकता है और न जीवन में। यदि कवि की पत्नी चाहती है कि कवि अपनी कविता मे डूबा रहे, तो उसका मतलब जीवन से अर्थ और लय प्राप्त करने से है। जीवन के संघर्ष के बीच मधुर गीत लिखना आसान कार्य नहीं है। जीवन में कोई लक्ष्य न हो तो मनुष्य में अशांति और उद्विग्नता पैदा होती है। ऐसे समय को रचनात्मक कर्म के द्वारा ही शांति से पार किया जा सकता है। बच्चन की अशांत मनःस्थिति कविकर्म में ही शांति का अनुभव करती थी। कवि जिस समय की यहाँ चर्चा कर रहा है वह उसके जीवन का लक्ष्यहीन क्षण था। एक ओर रोज़गार की तलाश और दूसरी ओर श्यामा की बीमारी।

रचनात्मक कर्म के लिए खासकर कविकर्म में पूर्ण समर्पण की आवश्यकता होती है। समर्पण में जब तक आत्मविस्मण की स्थिति नहीं आती, उसे पूर्ण नहीं माना जा सकता। राजशेखर ने इसे समाधि की दशा कहा है। समाधि में चेतना की पूर्ण तन्मयता और एकाग्रता होती है। बाह्य संसार से वह अनजान हो जाता है। अनुभूतियों की तीव्रता और घनत्व से जब कवि कुछ रचता है तो उसमें तन्मयता और सौन्दर्य का समावेश होता है। ध्यान और भाव जब तक संकेद्रित नहीं होते, तब तक श्रेष्ठ काव्य की रचना नहीं होती। चेतना का यह द्वार कवि के लिए प्रयोगशाला का कार्य करता है। जहाँ निरंतर आत्मलीनता में कविता का जन्म होता है। बच्चन इस समाधि को सयास तोड़ने का प्रयत्न

करते हैं। बच्चन के इस संदर्भ में अनायास अज्ञेय की लंबी कविता 'असाध्यवीणा' का प्रियंवद स्मरण हो आता है। जो कहता है :

श्रेय नहीं कुछ मेरा
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ को सौंप दिया था

किसी भी रचनात्मक कर्म में अनुभूति और कला के प्रति यह तन्मयता जरूरी हो जाती है। काव्य की सृजन प्रक्रिया और जीवन के दैनिक कार्य कलाप का यहाँ वर्णन एक साथ मिलता है। आत्मकथाकार में जीवन के प्रति जितनी आस्था है, समपर्ण की अनुभूति है, उतनी ही काव्य और कला के प्रति भी आस्था और समर्पण है। उपर्युक्त अंश की व्याख्या करते हुए इन बातों को ज़रूर ध्यान में रखें।

सहायक पुस्तकें

डॉ. कमलेश सिंह : हिंदी आत्मकथा : स्वरूप एवं साहित्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
डॉ. धर्मवीर भारती : कुछ चेहरे : कुछ चिंतन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
बच्चन रचनावली - भाग-7 और भाग-8 - राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

मूलपाठ : आत्मकथा

क्या भूलूँ क्या याद करूँ

मेरी विगत स्मृतियों, मेरे पूर्व इतिहास, मेरे वर्तमान के श्रम-संघर्ष को जैसा उसने जाना था, जैसी मेरी स्थिति की निकट भविष्य में, कम से कम अपने जीवन-काल में, उसने कल्पना की थी, उससे उसने मेरा नाम Suffering रख दिया था। शायद कोई नहीं जानता था कि वह मुझे इस नाम से पुकारती है - जब हम अकेले होते वह मुझे उसी नाम से संबोधित करती और मैं उसे Joy कहता। मृत्यु शय्या पर जब उसकी चेतना लुप्त हो रही थी, वह मुझे सबके सामने भी उसी नाम से पुकारती गई और शायद ही कोई समझा हो कि वह किसे पुकार रही है और क्या कहना चाहती है।

मुझे Suffering नाम देने में शायद श्यामा ने मेरे स्वभाव, मेरी प्रकृति, मेरे जीवन, मेरे व्यक्तित्व में बीज की तरह छिपे मेरे कवि को भी पहचाना था। शायद उसने समझ लिया था कि कवि तो साकार वेदना (Suffering) ही है। मैं जिस वेदना से गुज़रा हूँ या गुज़र रहा हूँ उससे कविता के बीज के लिए भूमि ही तो अपने अंदर तैयार कर रहा हूँ। वेदना के बिना मनुष्य का अहं नहीं टूटता, और अहं के टूटे बिना एक मनुष्य के हृदय से दूसरे मनुष्य के हृदय तक पहुँच नहीं होती, सेतु नहीं बनता। विचारों का सेतु एक दिमाग़ से दूसरे दिमाग़ तक बिना अहं के टूटे भी बन सकता है, पर भावनाओं का, कभी नहीं, और कविता भावनाओं के सेतु पर चढ़कर ही एक हृदय से दूसरे हृदय तक जाती है। हृदय-हृदय के बीच भावनाओं के सेतु का निर्माण किए बग़ैर जो शब्दों का कारवाँ रवाँ कर देते हैं उसका परिणाम इसके सिवा कुछ नहीं हो सकता कि उनका कारवाँ काग़ज़ों के मरुस्थल में खो जाए या निरर्थक ध्वनि बनकर शून्य में विलीन हो जाए। यह भावनाओं का सेतु बनाने से अधिक बन जाने पर निर्भर है। इसी से कहा जाता है कवि जन्म लेते हैं, बनाए नहीं जाते। जीवन की न जाने कैसी-कैसी स्थितियाँ-परिस्थितियाँ अपने आप आकर न जाने किसे तोड़, औरों से जोड़ जाती है। मैं तो कहता हूँ कि इतना होने से ही आदमी कवि बन जाता है। जीवन में बहुत-से कवि हैं जो शब्दों में कविता नहीं करते। शब्द कविता का, वास्तव में, बहुत-से माध्यमों में से केवल एक माध्यम है। मैंने कहीं पढ़ा था- अंग्रेज़ी में - हिंदी अनुवाद दे रहा हूँ, 'कविता लिखने का उतना विषय नहीं, जितना जीने का, और कविता जीना जीने का सबसे दुःसाध्य रूप है।' यह बिलकुल यही है जो कबीर कहते हैं,

सीस काटि भुइँ पै धरै, तापन धारै पाँव,
दास कबीरा यों कहै ऐसा होउ तौ आव!

इसका अर्थ सतही नहीं। इस पर ग़ौर करना होगा। शीश काटना तो शायद संभव भी हो जाए, पर उसको उठाकर भूमि पर धरना और फिर उस पर पाँव रखना तो तभी संभव हो सकता है जब मरने के बाद भी कोई जीता रहे - जीने की चेतना अपने हाथों में बचाए रहे। अहं के कटने के बाद जो चेतना शीश को उठाती है, उस पर पाँव धरती है, उसी का नाम कवि है। और आप मेरी बात मानें तो कवि को हर कविता लिखते समय यह दुर्धर्ष चमत्कार करना होता है। या यों कहें कि जब भी सच्चे अर्थों में कविता बनती है कवि इसी प्रक्रिया से गुज़रा होता है। एक आइरिश कहावत है It is death to be a poet. इसे मैं अर्द्ध सत्य कहूँगा, पूर्ण सत्य यह है It is living after death to be a poet. कवि मरना नहीं है - कवि मरकर सचेत रहना है।

स्वस्थ पति-पत्नी के बीच शारीरिक संबंध स्वाभाविक, आवश्यक और अनिवार्य है। पर श्यामा के शरीर की जैसी स्थिति थी उसमें शरीर को दीवार मानकर प्राण-प्राणों के मिलन पर ही प्रायः संतोष करना था। 'कवि की वासना' में जो मैंने लिखा था,

'वासना जब तीव्रतम थी
बन गया था संयमी में,
है रही मेरी क्षुधा ही
सर्वदा आहार मेरा।'

या 'हलाहल' में कि

'वासना है मेरी विकराल,
अधिक, पर, अपने पर विश्वास।'

वह मेरी उन दिनों की तीव्र, तीक्ष्ण और तनावपूर्ण अनुभूति ही थी जो शब्दों में मुखरित हुई थी। हर संयम का कहीं न कहीं विस्फोट होता है और उसके लिए न मैं लज्जित हूँ, न अपने को दोषी ठहराता हूँ। यह मैं बड़ी सच्चाई के साथ कहता हूँ कि उसका अधिकतम विस्फोट निश्चय ही मेरे काव्य के रूप में हुआ।

बी.ए. में मेरे प्रथम श्रेणी के बाद मेरे कुछ संबंधियों ने मुझे सलाह दी कि मैं आई.सी.एस. में बैठने की तैयारी करूँ। बैठता तो शायद आ ही जाता और आज सरकारी नौकरी कर विद्याशंकर की तरह रिटायर हो जाता। हो जाता तो इसमें बुरा ही क्या होता। कुछ कविताएँ लिखकर रिटायर हो रहा हूँ तो कौन बड़ी लाट खड़ी कर दी है। घर में राष्ट्रीयता का ऐसा वातावरण था और आने वाले नमक सत्याग्रह आंदोलन की आहें इतनी तेज़ होती जा रही थीं कि मेरे पिता जी ने इसके लिए राय न दी। शायद यही एक बात मैंने उनकी मानी। वे चाहते थे कि मैं एम.ए. करके किसी कालेज या युनिवर्सिटी में अध्यापक बन जाऊँ। मैंने अंग्रेज़ी में एम.ए. ले लिया। पर बी.ए. करते समय मैंने जिस तन्मयता से अध्ययन किया था वह मेरे लिए अब दुर्लभ हो गई। सबसे बड़ी चिंता श्यामा

की बीमारी थी। मैं अब अपने पढ़ने के लिए कमाऊँ कि श्यामा के इलाज के लिए, गो मैं जो कुछ कमा सकता था वह इलाज के लिए बिलकुल नाकाफी होता। इस बीच एक और अपमान-जनक घटना घटी।

मकान बनवाने के सिलसिले में ईंटवाले का क़रीब दो हजार का कर्ज़ हो गया था। उसने नालिश कर दी। ईंट वाले की डिग्री हो गई कि मकान नीलाम करा के रुपया वसूल कर लिया जाए और एक दिन कुर्कअमीन नगड़िया वाले को लेकर घर पर आ गए। उसने डिम-डिम-डिम-डिम करके यह पुकार लगाई :

'खलक खुदा का, मुलुक बादशाह का
हुकुम बड़े साहब का
बाबू प्रताप नारायण वल्द भोलानाथ का मकान नीलाम होता है
जिसको बोली बोलना हो आगे आए S....

सरे बाज़ार हमारी ग़रीबी को नंगा करने वाले उन शब्दों से हमने बड़े ही अपमान का अनुभव किया। घर में हर एक की यही इच्छा होती थी कि धरती फट जाए और एक-एक उसमें समा जाए! यह तो अच्छा हुआ कि नया मुहल्ला था, पुराना मुहल्ला होता तो हम इस पर घर के अंदर जाकर आत्महत्या कर लेते। दस हज़ार की लागत का मकान पिता जी को दो हज़ार में रेहन रख देना पड़ा। अब ये दो हज़ार रुपये कहाँ से आएँ।

मेरे छोटे भाई शालिग्राम ने बी.ए. का इम्तहान दिया था, रेज़ल्ट आने से पहले ही उन्हें इलाहाबाद बैंक में नौकरी मिल गई, और घर की स्थिति देखते हुए उन्होंने आगे पढ़ने की बात न सोची। कायस्थों के यहाँ लड़का बे-भुनाई हुंडी कहा जाता है। बाँदा के वकील बाबू गया प्रसाद की ओर से शालिग्राम के रिश्ते का प्रस्ताव आया। लड़की सुंदर, पढ़ी-लिखी, सुशील थी, साथ ही अच्छा दहेज मिलने की आशा थी। पिता जी ने शादी मंजूर कर ली। शालिग्राम के तिलक में जो रुपए नक़द मिले उसमें से दो हज़ार देकर मकान छुड़ा लिया गया, पर उनकी शादी पर कुछ रुपया खर्च होना था, खासकर चढ़ाव के लिए गहनों पर। श्यामा ने फिर अपनी उदारता, त्याग और बड़प्पन का परिचय दिया। उसने अपने सब ज़ेवर शालिग्राम की वधू के लिए दे दिए। परिवार की लाज बचने का दूसरा तरीक़ा न था।

मेरी एम.ए. प्रीवियस की परीक्षा से पहले ही गांधी जी की डाँडी यात्रा आरंभ हो गई थी और उनके प्रति पग से देश में राष्ट्रीय जागरण और जोश ज़ोर मारने लगा। बे मन से मैंने परीक्षा दे दी, पास भी हो गया, पर जुलाई में जब युनिवर्सिटी खुली तो मैंने पढ़ाई छोड़ दी। कुछ पारिवारिक चिंताओं और कुछ राजनैतिक हलचलों के करण मेरा मन

पढ़ने की तरफ़ से उचट गया था। मैं आंदोलन में सक्रिय भाग लेने की स्थिति में न था, जुलूसों में नारे लगाता, सभाओं में शामिल होता। घर में चर्खा चलाता, जमुना पार गाँवों में जाकर व्याख्यान देता। कुछ रचनात्मक कार्य करने को भी मैंने सोचा - हम खद्दर का प्रचार करेंगे! महेश, प्रकाश और मैंने एक टीम बनाई। खादी भंडार से हम लोग एक गट्ठर खादी का लेते, महेश हममें सबसे मोटे-मजबूत थे, वे गट्ठर उठाते, मैं गज़ से नापता, प्रकाश हिसाब रखते, और इस तरह हम दिन भर गली-गली घूमते। हमें एक दिन बड़ी प्रसन्नता हुई जब पंडित जवाहरलाल नेहरू का ध्यान हमारी 'खद्दर प्रचारक टीम' की ओर आकर्षित हआ और उन्होंने भरी सभा में हमारी प्रशंसा की। उन्हीं दिनों मैंने जुलूसों में गाने के लिए कई राष्ट्रीय गीत लिखे जिनमें 'सर जाए तो जाए पर हिंद आज़ादी पाए' वाला गाना बहुत प्रसिद्ध हुआ और एक बार इसे महात्मा गांधी की उपस्थिति में श्याम कुमारी नेहरू ने हज़ारों लोगों को गवाया। तब शायद किसी ने जाना भी नहीं था कि यह गीत किसका लिखा था और न मुझे ही इच्छा थी कि कोई जाने। गीत से जोश फैल रहा था और देश के लिए मर मिटने की आन पर शान चढ़ रही थी - व्यक्ति को श्रेय देने का क्या मतलब? पर जैसे-जैसे नेता लोग गिरफ्तार होते गए आंदोलन ठंडा पड़ने लगा, फिर समझौते शुरू हुए, और असफल होने पर दमन शुरू हुआ। समझौतों के साथ ही जनता का संपर्क आंदोलन से कम होने लगा, छूट गया। समूह बिखरता है तो व्यक्ति अपने को अकेला पाता है - अब न सभा है, न जुलूस है, अपनी-अपनी फ़िक्र करो। मैंने भी कुछ ऐसा ही अकेलापन अनुभव किया। क्या करूँ? 'किंकर्तव्यविमूढ़ मुझे कर दूर खड़ी है मधुशाला।'

काम की तलाश में एक दिन 'चाँद' कार्यालय जा पहुँचा। संपादन विभाग में काम मिला, पर एक महीने बाद वहाँ से अपमानित करके निकाल दिया गया। उस अप्रिय अनुभव की बात कहीं लिख चुका हूँ। उसी साल मुट्ठीगंज के मास्टर भगवान सहाय ने माडर्न स्कूल से इस्तीफ़ा देकर एक राष्ट्रीय स्कूल इलाहाबाद हाई स्कूल के नाम से खोल दिया था। उसमें मुझे अध्यापक की जगह मिल गई। काग़ज पर पैंसठ रुपए लिखे जाते थे, तनख्वाह पचीस रुपए दी जाती थी। राष्ट्रीय स्कूल के लिए त्याग की हमसे प्रत्याशा की जाती थी, जिससे स्कूल के लिए और ज़रूरी सामान वग़ैरह खरीदा जा सके। ऐसा त्याग प्रायः सभी अध्यापक करते थे, और खुशी से, कि हम राष्ट्र के उत्थान में योग दे रहे हैं। मान्यता स्कूल को मिली नहीं थी, इसलिए लड़कों को पंजाब से प्राइवेटली इम्तहान देने को भेजा गया। फ़ार्म के भरने में कुछ गड़बड़ी हुई और स्कूल का कोई लड़का इम्तहान में न बैठने दिया गया। दूसरे वर्ष नवें-दसवें क्लास टूट गए। एक बंगाली सहयोगी के साथ मैं इन्हीं दर्जों को पढ़ाता था, हम दोनों को छुट्टी दे दी गई। इस वर्ष भर के अनुभव का शायद सबसे बड़ा लाभ यह था कि बंगाली महाशय ने मुझे पूरी 'अग्निवीणा' पढ़कर सुनाई और समझाई। वे नज़रुल के बड़े प्रेमी थे।

बड़ी कोशिश के बाद मुझे प्रयाग महिला विद्यापीठ में 30 रु. प्रतिमास पर नौकरी मिल गई, जिसकी स्थापना हाल ही हुई थी। महादेवी जी बाद को वहाँ प्रिंसिपल बनकर आईं।

इसी समय अपने चाचा लोगों से मेरा पारिवारिक संबंध टूट गया। शालिग्राम का गौना हुआ। बहुभोज की दावत थी, केवल परिवार के सदस्यों और निकट संबंधियों की। इसके पूर्व मैंने एक ऐसा काम कर दिया था जो मेरे रिश्तेदारों के रूढ़िगत संस्कारों पर आघात करनेवाला था। मोहतशिम गंज में एक कायस्थ परिवार था। पति की मृत्यु हो गई - विधवा कई बच्चों को लेकर कहाँ जाए। बाहर से आए एक सिख सरदार ने उसे बैठा लिया। थोड़े दिनों बाद सरदार की भी मृत्यु हो गई। परिवार समाज बहिष्कृत हो गया, यानी उससे रोटी-बेटी का व्यवहार बंद। उस परिवार में किसी सयानी लड़की का विवाह एक अच्छे कायस्थ परिवार में लगा। उन लोगों ने शर्त रक्खी कि अगर दो-चार अच्छे कायस्थ घरों के लोग उनके यहाँ रोटी खा लें तो वे शादी मंजूर कर लेंगे। इस बहिष्कृत परिवार के लोग जितने भले थे उतने मैंने जीवन में कम देखे थे - सब की सेवा करने को तैयार और सबके सामने विनम्र। मोहल्ले-टोले में किसी के यहाँ शादी-काम-काज होता तो वे हर तरह का काम करते, पर खाने के समय ग़ायब हो जाते - वे जानते थे कि लोग उन्हें अपने साथ बिठलाकर न खिलाएँगे। अपने उदार विचारों के कारण मुझे इस परिवार से बड़ी सहानुभूति थी। जग्गू चाचा के भाई रामू चाचा, उनके लड़के मुंशी कन्हैयालाल और दो-चार लोग, जिनमें मैं भी था, उस परिवार में रोटी खाने को तैयार हुए। उन लोगों ने बड़ी आवभगत से हमें खाना खिलाया। उनकी आँखों में आँसू थे, जैसे हमने उनके साथ जो उपकार किया था उसे वे व्यक्त न कर सकते हों। हम खुश थे कि चलो हमने एक परिवार का उद्धार किया। बिरादरी के दक़ियानूस इसपर जले-भुने बैठे थे। इनमें हमारे मोहन चाचा भी थे। हमारे यहाँ बहुभोज का भोजन तैयार - पन्द्रह-बीस निकटतम संबंधियों के लिए। आठ बजे रात का समय दिया गया था। आठ बज गए, नौ बज गए, दस बज गए, ग्यारह बजने के निकट पहुँचे, कोई न आया। हम चकित-चिंतित थे। तब किसी कहारिन ने बताया कि बाबू मोहनलाल हमारे यहाँ खाना खाने इसलिए न आए थे कि मैंने बहिष्कृत परिवार में भोजन कर लिया था। मेरे हरिजनों के साथ खाने-पीने की बात वे जानते ही थे, और उन्होंने हमारे सब निकट संबंधियों को आगाह कर दिया था कि जो हमारे यहाँ भोजन करेगा वह जाति-च्युत कर दिया जाएगा। इसी डर से कोई हमार यहाँ नहीं आया था। मुझे बड़ा क्रोध आया। निमंत्रण न स्वीकार करना मैं समझ सकता था। न आना था तो सूचित करने की भलमंसी तो दिखानी थी, पर वे तो हमें अपमानित करना चाहते थे। पिता जी बहुत ही दुखी हुए - बिरादरी से कट जाने के भय से वे काँप उठे, अभी उनकी एक लड़की ब्याहने को थी। मैंने पिता जी को समझाया कि

हमें बिरादरी ने छोड़ दिया है तो अब हम मानव-परिवार के सदस्य हैं। मुझे हिंदू समाज का सारा ढाँचा इतना रुग्ण, सड़ा, गला, दुर्गंधित इससे पहले कभी नहीं लगा।

1923-24 में कविता के नाम से जो मैंने लिखा था वह मैंने नष्ट कर दिया था। उसके लिए मुझे पश्चाताप नहीं, उसमें वास्तविकता होगी, अभिव्यक्ति होगी, पर प्रेषण, उद्‌बोधन शायद ही रहा होगा, जिसके बिना कविता कविता नहीं होती। 1929 से मैं फिर कुछ लिखने लगा था, '30 से विशेषकर, जब मैंने युनिवर्सिटी छोड़ दी थी। 1930 की युनिवर्सिटी प्रतियोगिता में मेरी कहानी को प्रथम पुरस्कार मिला था, ' 31 में मैं युनिवर्सिटी का विद्यार्थी न था, पर प्रतियोगिता में मैंने कहानी भेज दी थी। वह कहानी 'हृदय की आँखें' इतनी अच्छी समझी गई कि प्रतियोगिता के अंत में पढ़वाई गई। प्रेमचंद ने उसे 'हंस' में छापा। यह मेरे लिए बहुत बड़ा प्रोत्साहन था। मैं सोचने लगा शायद मुझमें कहानीकार के बीज हैं और मैं अभ्यास करता जाऊँ तो संभव है मैं किसी दिन कहानी के क्षेत्र में अपने लिए कोई स्थान बना सकूँ। साथ ही कविताओं के लिए प्रेरित करने को भी मेरे पास कम न था। मेरी कविताओं को देखने वाले इने-गिने थे, घर पर शायद श्यामा अकेली, निकट के मित्रों में केवल महेश, दूर के मित्रों में केवल श्री कृष्ण सूरी, मेरे कहानीकार से मेरा कवि अधिक संकोचशील था। श्यामा की शिक्षा घर पर ही हुई थी - थोड़ी हिंदी की, थोड़ी अंग्रेज़ी की, एक ईसाई महिला उसको और उसकी चचेरी बहनों को पढ़ाने आती थी। पढ़ने का उसे शौक़ था, कविता का भी, जो विशेषकर मेरे संपर्क से और बढ़ा। कविता की कोई अच्छी पुस्तक मैं देखता तो उसे खरीद लाता, उसे भेंट कर देता, वह खुद पढ़ती, अक्सर तो उसकी लंबी-लंबी बीमारियों में मैं ही उसे पढ़कर सुनाता। महेश मेरी कविताओं को पसंद करते, सूरी मेरी कविताओं की प्रशंसा करते, और श्यामा चाहती कि मैं सदैव कविता में डूबा रहूँ। कविता में मेरा भविष्य शायद ही उसने देखा होगा, पर इतना तो उसने अनुभव ही किया होगा कि काव्य सृजन में ही मेरा मन कुछ शांति, कुछ मुक्ति पाता है, जो अन्यथा उद्विग्न, उद्‌भ्रांत अथवा अशांत रहता है। शायद अब भी मनःशक्तियों का पूर्ण केंद्रीकरण, तन्मयता, तल्लीनता, परिपूर्ण आत्म-विस्मरण मैं काव्य-सृजन के ही क्षणों में जानता हूँ - जिसे अब मैं 'समाधि' कहने लगा हूँ। जब मैं अपनी अनुभूतियों में जीता हूँ - कला के माध्यम से अनुभूतियों को जीना शायद जीने से अधिक घनत्व से, तीव्रता से, गहराई से जीना है - तब मैं सारे संसार के लिए मर जाता हूँ, और मैं चाहता हूँ कि कोई कुछ भी ऐसा न करे जिससे मैं संसार में जीने के प्रति सचेत हो जाऊँ, जब तक कि मेरी ही 'समाधि' न टूटे। और उन दिनों मेरी 'समाधि' में किसी प्रकार की बाधा न बनने का श्यामा ने सब तरह से प्रयत्न किया। स्कूल या विद्यापीठ पढ़ाने में निश्चय मुझे उससे ज्यादा समय लगाना पड़ता था जितना युनिवर्सिटी में पढ़ने में, ट्यूशनें दो या तीन मुझे अब भी करनी पड़ती थीं, फिर भी अपने

पढ़ने-लिखने के लिए मेरे पास काफ़ी समय था। सुबह जल्दी जागने, रात को देर से सोने का लंबा अभ्यास अब आदत बन गया था।

लगभग चार वर्ष अपने विविधतापूर्ण स्वाध्याय के अतिरिक्त मैं कहानियाँ भी लिखता रहा, कविताएँ भी लिखता रहा - जैसे कवि और कहानीकार दोनों मेरे अंदर परस्पर संघर्ष कर रहे हों और अभी तक मैं निश्चय न कर सका हूँ कि विजय का सेहरा किसके माथे बाँधूँ। कुछ कविताएँ-कहानियाँ पत्रों में भी छपीं। मैंने कहानियों का एक संग्रह तैयार किया। जैसे नए लेखकों के मन में प्रायः यह कमज़ोरी होती है कि कोई बड़ा आदमी उनकी कृति की भूमिका लिख देगा तो प्रकाशक उसे फ़ौरन छाप देगा, मुझमें भी थी। मैंने उसकी भूमिका डॉ. धीरेन्द्र वर्मा से लिखाई। ज़मीन से उड़कर मैं पेड़ की डाल पर, फुनगी पर नहीं, एकदम पहाड़ की चोटी पर बैठकर चहकना चाहता था। मैंने अपना संगह प्रकाशित करने के लिए प्रस्तुत किया 'हिंदुस्तानी अकादमी' को। कुछ दिनों बाद अकादमी ने प्रकाशित करने में असमर्थता व्यक्त करके संग्रह लौटा दिया। निराश होना स्वाभाविक था। पहले तो मैंने डॉ. धीरेन्द्र वर्मा की भूमिका फाड़ी, फिर कहानियाँ फाड़कर रद्दी की टोकरी में डाल दीं। चौदह वर्षों बाद जब भारती भंडार ने मेरी प्रारंभिक रचनाओं को छापना चाहा तो मुझे उन्हें पत्र-पत्रिकाओं से, अपने पुराने काग़जों के फ़र्स्ट ड्राफ्टों से फिर से तैयार करने में काफ़ी परेशानी उठानी पड़ी। शायद उसी दिन मेरे मन ने यह निर्णय लिया था कि मैं कहानीकार नहीं बन सकता, अब कविता की दिशा को अपनाऊँ। संग्रह प्रकाशित हो जाता तो उसका प्रोत्साहन शायद मुझे कहानी, उपन्यास के क्षेत्र में बढ़ने को प्रेरित करता। जीवन की ऐसी आकस्मिक घटनाएँ ही वास्तव में जीवन को दिशा देती है, और जिसे हम 'नियति' का गंभीर-सा नाम देते हैं वह शायद बहुत नगण्य-सी लगने वाली घटनाओं से अपने बड़े-बड़े लक्ष्य प्राप्त करती रहती है। क्या मेरे अंदर का कहानीकार मर गया? मरता जीवन में कुछ भी नहीं, केवल रूप बदलता है। कहानीकार मेरे कवि में आत्मसात् हो गया। ऐसा मेरे बहुत-से पाठक मुझसे कहते हैं कि मेरी बहुत-सी कविताओं के पीछे किसी कहानी की कल्पना कर लेना कठिन नहीं है। कुछ लोगों ने मेरी कतिपय कविताओं को लेकर वास्तव में कहानियाँ गढ़ी हैं, वे छपी भी हैं। बहरहाल, उस दिन के बाद मैंने केवल एक कहानी लिखी, अगर कहानी उसे कह सकते हों तो जो 'निशा निमंत्रण' के आरंभ में है।

कविताओं के भी मैंने कई संकलनों की कल्पना कर डाली थी और उन्हें अलग-अलग कापियों में लिखकर श्री कृष्ण सूरी के पास भेज दिया था। पहला संग्रह 'तेरा हार' के नाम से छपाना चाहता था। उन्हीं दिनों मुंशी कन्हैयालाल के संपादन में श्री शुकदेव प्रसाद 'बिस्मिल' इलाहाबादी का उर्दू संगह 'दीवाने बिस्मिल' के नाम से शायद इंडियन प्रेस से प्रकाशित हुआ था। मेरा आना-जाना मुंशी कन्हैयालाल के यहाँ था ही,

जिनको हम घर पर बुचुन दादा कहते थे। मैंने उनके सामने अपनी इच्छा प्रकट की। उन्होंने मेरी ओर से कटरा के रामनारायण लाल पब्लिशर और बुकसेलर से बात की। वे मेरा संकलन छापने को तैयार हो गए, शर्त यह रक्खी कि एक हज़ार प्रतियाँ छापेंगे, मगर रायल्टी कुछ न देंगे, सिर्फ़ ढाई सौ प्रतियाँ भेंट स्वरूप मुझे दे देंगे, दाम एक रु. होगा, मैं चाहे बेच लूँ, चाहे बाँट दूँ। यश के लोभ ने अर्थ के लाभ पर विजय पाई। मैंने प्रकाशक की शर्त स्वीकार कर ली। संपादक की जगह पर - हालाँकि इसकी ज़रूरत नहीं थी - मुंशी कन्हैयालाल एम.ए., एल.एल.बी. का नाम छपा - गोकि संपादन उन्होंने एक अक्षर का न किया था, मैं स्वीकार करूँगा, मेरी इच्छा से - 'रचयिता' के न-कुछ-से हल्के नाम 'बच्चन' को संपादक के एक भारी, डिग्रीधारी नाम का सहारा और वज़न देने के लिए। प्रारंभिक 'संबोधन' में भी पता उनके निवास 'कृष्ण-कुंज' का दिया गया। जिस दिन पुस्तक प्रकाशित हो गई, शायद सन्, 32 की जनवरी का पहला सप्ताह था, मैं प्रकाशक के यहाँ अपनी प्रतियाँ लेने गया। मुझे ढाई सौ प्रतियों का बंडल दे दिया गया और उसे अपने कंधे पर रखकर मैं ऐसे ही गर्व से चला जैसे पक्षिराज गरुड़ भगवान विष्णु को अपनी पीठ पर बिठाकर उड़े जा रहे हों - हाँ, मैं उड़ा ही जा रहा था, मेरे पैर जैसे धरती पर नहीं पड़ रहे थे। मेरी सर्वप्रथम कृति प्रकाशित हो गई! पहली बार अनुभूति हुई कि कवि की पहली रचना का प्रकाशन उसके लिए उतना ही रोमप्रहर्षक होता है जितना प्रेयसी का प्रथमालिंगन!

12. राहुल सांकृत्यायन और 'किन्नर देश की ओर'

जीवन परिचय

महापंडित राहुल सांकृत्यायन एक अविश्रांत यात्री, तत्वान्वेषी, इतिहासविद् और युगपरिवर्तनकामी साहित्यकार थे। उनके जीवन का मंत्र था एक जगह टिककर मत रहो सदा घूमते रहो। चरैवेति, चरैवेति का सत्य उन्होंने अपने जीवन में उतार लिया था। वे हमेशा गतिशील रहे - एक जगह से दूसरी जगह तक, एक भाषा से दूसरी भाषा तक, जिज्ञासा के एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव तक। उनमें कभी न बुझने वाली ऊर्जा ओर ज्ञान की प्यास हमेशा मौजूद रही।

राहुल जी का जन्म का नाम केदार पाँडे था। इनका जन्म 9 अप्रैल 1893 ई. को उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले के पंदहा नामक गाँव में हुआ था। उनके गाँव का नाम कनैला था। यह स्थान उनका ननिहाल था। बचपन में ही उनकी माता का देहांत हो गया था। राहुलजी का लालन पालन उनकी स्नेहमयी नानी ने किया था।

1898 में इन्हें एक मदरसे में भेजा गया, जहाँ उनकी प्राथमिक शिक्षा उर्दू वर्णमाला के परिचय से शुरू हुई। राहुलजी का विवाह बचपन में ही कर दिया गया था। यह विवाह उनके जीवन की निर्णायक घटना थी। गृहत्याग उनकी प्रथम प्रतिक्रिया थी जिसे राहुल जी ने सामाजिक विद्रोह के प्रथम अंकुर की संज्ञा दी है। संन्यास इस विद्रोह का ही एक रूप था। घर से भागकर केदारनाथ पांडे साधु रामउदार दास बन गए। यदि वे इतने से संतुष्ट होकर रह जाते तो हजारों साधुओं के बीच खो जाते। ज्ञान की प्यास ने उन्हें चैन नहीं लेने दिया और वे आर्य समाज के अनुयायी बन गए।

चौदह वर्ष की अवस्था में कलकत्ता भाग आए। तरूण राहुल को यायावरी ने आकृष्ट किया। उनके मन और आत्मा पर विरक्ति का भाव पूरी तरह छा गया था। एक ओर वैराग्य ने और दूसरी ओर ज्ञान की पिपासा से प्रेरित होकर राहुल सांकृत्यायन भारत के एक कोने-से दूसरे कोने की यात्रा करने लगे। सत्रह वर्ष की उम्र में उन्होंने हिमालय की पहला यात्रा की थी। 1913-14 में उन्होंने दक्षिण भारत की यात्रा की। 1916 में उन्होंने संस्कृत अध्यपन को आगे बढ़ाने का निश्चय किया। इस आयु तक आते-आते वे आर्य समाज के प्रभाव से भी मुक्त होने लगे थे। इसके बाद उनका झुकाव बौद्ध धर्म की ओर

हुआ। बौद्ध धर्म में दीक्षा लेकर ही वे राहुल सांकृत्यायन बने। बौद्ध धर्म और दर्शन की तरफ उनके झुकाव ने उन्हें पाली, अपभ्रंश, प्राकृत आदि भाषाओं को सीखने और उनके साहित्य को जानने के लिए प्रेरित किया।

1917 की बोल्शेविक क्रांति ने उनके मानस को गहरे से आंदोलित किया। वे एक आदर्श साम्यवादी समाज का स्वप्न देखने लगे। 1919 में जलियांवाला बाग में हुए नरसंहार ने उनके सामने अंग्रेज़ी राजसत्ता का असली चेहरा ला दिया। 1922 में विदेशी राजसत्ता के विरोध में असंतोष फैलाने के आरोप में वे पकड़े गये और जेल भेज दिए गए। उन्होंने किसान आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया, जेल गए, पुलिस की लाठियाँ भी खाईं। वे अखिल भारतीय किसान सभा के महासचिव भी रहे। उन्होंने तिब्बत की चार बार यात्रा की थी। वहाँ से वे विपुल बौद्ध साहित्य लेकर आए? उनके द्वारा लाए गए साहित्य का अधिकांश अभी भी पांडुलिपियों के रूप में मौजूद है। राहुल ने कुछ समय तक श्रीलंका के विश्वविद्यालय में अध्यापन भी किया था।

1932-33 में वे योरप गए। इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी में कई प्राच्यविद्या विशारदों से मिले। 1935 में जापान, कोरिया और मंचूरिया की यात्रा की। वहाँ से वे सोवियत रूस गए। फिर तेहरान गए। वहाँ से बलूचिस्तान होते हुए लाहौर पहँचे। उन्होंने 1937 में मास्को की यात्रा की। वहाँ उनकी भेंट भारतीय तिब्बती विभाग की सचिव लोला एलेना नर्वेतोवना नामक महिला से हुई। दोनों की मैत्री गहरे आकर्षण और विवाह मे परिणत हो गई। यह संबंध आल्पकाल का रहा क्योंकि राहुल जी को स्वदेश वापस लौटना पड़ा। लेकिन इस अल्पकाल में उन्हें उससे पुत्र प्राप्ति हुई। 1947 - 1948 में वे फिर रूस गए।

हिंदी और हिमालय उनके जीवन की दो बड़ी निष्ठाएँ थी। हिमालय की प्रकृति से वे हमेशा कुछ न कुछ सीखते रहे। 1950 में उन्होंने नैनीताल में अपना आवास बनाया। वहीं उनका विवाह कमला सांकृत्यायन से हुआ। वे एक पुत्र के पिता बने। बाद में वे पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग पर्वतीय स्थल पर रहने लगे। मधुमेह की बीमारी से पीड़ित रहने पर उन्हे सोवियत संघ इलाज के लिए भेजा गया।

1962-1963 में सोवियत रूस में सात महीने के इलाज के बाद 14 अप्रैल 1963 को उनका देहांत हो गया। राहुल सांकृत्यायन गहरे अर्थों में ज्ञान पिपासु थे। उनके जीवन की भटकन इसी के लिए थी। ज्ञान का शायद ही कोई क्षेत्र ऐसा था जो उनसे अछूता रहा हो। यही कारण है कि उन्हें 'महापंडित' कहकर हिंदी जगत ने सम्मानित किया। डॉ. नामवर सिंह ने उनकी आत्मकथा 'मेरी जीवन यात्रा' पर टिप्पणी करते हुए लिखा था, 'मेरी जीवन यात्रा का सबसे बड़ा आकर्षण है कनैला के केदारनाथ पाँडे का महापंडित

राहुल सांकृत्यायन में रूपांतरण। जीवन की यह यात्रा अन्य यात्राओं से कितनी लंबी है। कितनी दुर्गम! कितनी साहसिक! कितनी रोमांचक! और कितनी सार्थक!"

साहित्यिक योगदान

महापंडित राहुल सांकृत्यायन व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों ही दृष्टियों से अपने ढ़ग के अद्वितीय व्यक्ति थे। उनका संपूर्ण साहित्य उनके व्यापक अनुभव, विस्तृत अध्ययन और गहन खोजों का परिणाम है। उनके साहित्य को समग्रता में देखना उचित होगा। 1927 से 1961 तक उनकी सृजन यात्रा अबाध गति से चलती रही। यदि उन्होंने कहानियों और उपन्यासों की रचना की तो यात्रा संस्मरण, जीवनी और आत्मकथा की रचना भी की। इतिहास, दर्शन, संस्कृत, भाषा के क्षेत्रों में भी उनका योगदान साहित्य से कम नहीं था। प्राचीन साहित्य की खोज का उनका काम ही उन्हें महान् बनाने के लिए पर्याप्त था। लगभग पैंतीस साल के अपने रचनाकाल में जितना कुछ लिखा, वह किसी एक लेखक के लिए प्रायः असंभव ही कहा जाएगा। राहुलजी ने ज्यादा भी लिखा और श्रेष्ठ भी।

उनके द्वारा लिखित उपन्यासों की संख्या तेरह है जिनमें से प्रमुख हैं : 'बाइसवीं सदी' (1923), 'सिंह सेनापति' (1944), 'जीने के लिए' (1940), 'जय यौधेय' (1944), 'भागो नहीं दुनिया को बदलो' (1944), 'मधुर स्वप्न' (1949), 'राजस्थान निवास' (1953), 'विस्मृत यात्री' (1954) और 'दिवोदास' (1960)। राहुलजी मार्क्सवादी चेतना से अनुप्राणित होकर द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर इतिहास का विश्लेषण करने वाले उपन्यासकार हैं। 'सिंह सेनापति' में लिच्छवीगण के संघर्ष का चित्रण है और 'जय यौधेय' में यौधेयगण का।

उनके चार कहानी संग्रह भी प्रकाशित हुए। 'सतमी के बच्चे' (1935), 'वोल्गा से गंगा' (1944) , बहुरंगी मधुपुरी (1953) और कनैल की कथा (1955-56)। 'सतमी के बच्चे' में दयनीय बच्चों की दुःखद और सच्ची कहानियों का वर्णन है। 'वोल्गा से गंगा' में प्राग्वैदिक काल से 1944 तक के आधुनिक भारत की बीस कहानियाँ हैं। जिनमें उन्होंने मानव इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या के आधार पर कथावस्तु का निर्माण किया है।

राहुलजी के साहित्यिक गद्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि उनके द्वारा रचित आत्मकथा 'मेरी जीवन यात्रा' है। यह आत्मकथा पाँच खंडों में है। आत्मकथा में उन्होंने ईमानदारी से अपने जीवन के अनुभवों को रखने का प्रयास किया है। लेकिन राहुलजी के जीवन के बहाने हमारे सामने उस युग का यथार्थ भी आता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई जीवनियाँ भी लिखी हैं। इनमें से 'कार्ल मार्क्स' (1954), 'स्तालिन' (1954), 'माओ त्से तुंग' (1954), का उल्लेख किया जा सकता है। वे खुले दिमाग के मार्क्सवादी थे, उन्होंने समाजवाद को पुस्तकों से ही नहीं जीवन से भी सीखा था।

राहुल जी सबसे अधिक अपने यात्रा साहित्य के लिए विख्यात रहे हैं। उनका जीवन देश-विदेश की यात्रा करते हुए बीता था। तिब्बत जैसे दुर्गम क्षेत्र की यात्रा उनके अदम्य साहस का परिचायक है। अनुभव संपदा उनकी व्यापक थी। गहन अध्येता और चिंतक होने के कारण उनके यात्रा साहित्य में जगह-जगह संस्कृति, पर्यावरण, भाषा, इतिहास, नृशास्त्र आदि कई बातों का एक साथ खुलासा होता जाता है। उनकी प्रमुख यात्रा संबंधी पुस्तकें निम्नलिखित हैं : 'मेरी लद्दाख यात्रा' (1926), 'लंका' (1926-27), 'मेरी यूरोप यात्रा' (1932), 'मेरी तिब्बत यात्रा' (1937), 'जापान' (1935), 'ईरान' (1935-36), 'रूस में पच्चीस मास' 'किन्नर देश की ओर' (1948) 'तिब्बत में सवावर्ष' (1937), 'घुमक्कड़ शास्त्र' (1949), 'एशिया के दुर्गम भूखंडों में' (1956) और 'चीन में क्या देखा' (1960)।

साहित्यिक महत्व के ग्रंथों के अतिरिक्त उन्होंने इतिहास, दर्शन विषयक रचनाएँ भी लिखीं। 'मध्य एशिया का इतिहास' एक बृहदाकार ग्रंथ है। इस इतिहास ग्रंथ को साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत भी किया गया है। दर्शन संबंधी उनका ग्रंथ 'दर्शन दिग्दर्शन' भी अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। हिंदी साहित्य के आरंभिक इतिहास पर भी राहुलजी ने प्रकाश डाला है। वस्तुतः राहुल सांकृत्यायन में लोक और शास्त्र की संवेदना साथ-साथ मिलती है। लोक के प्रति आत्मीयता ने उन्हें घुमक्कड़ बनाया और विद्वता ने उन्हें महापंडित बनाया।

रचना के बारे में

'किन्नर देश की ओर' राहुल जी की हिमाचल यात्रा से संबंधित यात्रा वृतांत है। इस यात्रा वृतांत की रचना उन्होंने 1948 ई. में की थी। उनकी यात्रा किसी सैलानी की यात्रा नहीं होती थी अपितु वह एक विचारक, सत्यान्वेषी, साहित्य और इतिहास प्रेमी यात्रा होती थी। उनके यात्रा साहित्य को पढ़ने से हमें हर कदम पर इस बात का प्रमाण मिलता है।

हिमालय के प्रति राहुल जी में गहरा लगाव है। हिमालय से उन्होंने हमेशा कुछ न कुछ सीखा है। 'किन्नर देश की ओर' उनकी हिमाचल यात्रा का सांस्कृतिक और ऐतिहासिक साक्ष्य है। यात्रा भ्रमण में उस प्रदेश के मिथक, इतिहास, भाषा, और लोक अनुभव से प्राप्त सच्चाई का वे वर्णन करते हैं। यात्रा वृतांत पढ़ते हुए हमें उस स्थल की भौगोलिक जानकारी ही नहीं मिलती, उसके राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास की भी जानकारी मिलती है।

भारत सांस्कृतिक विविधताओं वाला देश है। यहाँ की सांस्कृतिक विविधता भारत के महत्व को समझने के लिए जरूरी है। राहुलजी किन्नर देश की यात्रा रचनाकार और सांस्कृतिक अध्येता की मानसिकता को लेकर करते हैं। स्थनीय वातावरण और प्रकृति के साथ एकाकार हो जाने की आकांक्षा उनमें व्याप्त है। किन्नर देश की प्रकृति, उसके विकास

का जायजा, लोगों की वेशभूषा, भाषा आदि सभी चीजों का ज्ञान प्राप्त कर वे उस क्षेत्र का मानचित्र तैयार करते हैं। भौगोलिक बनावट, दुर्गम प्रदेश के कष्टमय जीवन और यात्रा की कठिनाई का वृतांत उनके अदम्य साहस का भी परिचय देता है। भूमंडलीकरण की इस दौड़ में जब स्थान और समय की दूरियाँ लगभग मिट सी गई हैं, हमारा ज्ञान चिंताजनक रूप से क्षीण होता जा रहा है। जिन स्थानों की यात्रा करते हैं, उनके बारे में अधिकाधिक जानने की जिज्ञासा तो हमारे में नहीं होती, हम स्वयं अपने देश, अपनी भूमि के बारे में भी जानने का प्रयत्न नहीं करते। यह तथ्य स्वयं राहुलजी के महत्व को प्रतिपादित करने के लिए काफी है।

यात्रा वृतांत की अंतर्वस्तु को राहुल जी बड़े व्यवस्थित रूप में रखते हैं। वे तिथि देने के साथ यात्रा का ब्यौरा बडी सावधानी से लिखते हैं। यात्रा की क्या योजना है? किस प्रकार की यात्रा है? उसके लिए क्या प्रबंध किया गया हैं? प्रदेश की भौगोलिक बनावट और स्थान की प्राकृतिक सुषमा को भी वे अपनी नजरों से ओझल नहीं होने देते। पथ के साथियों को भी वे नहीं भूलते। इस यात्रा वृतांत में सुबह से शाम तक की उनकी दिनचर्या का बारीकी से विवेचन किया गया है। हिमाचल की यात्रा में वे उन सारी सुविधाओं और असुविधाओं को भी नजरअंदाज नहीं करते जो अन्य यात्रियों के लिए उपयोगी हो सकते हौ। राहुलजी स्थलों की जानकारी ही नहीं देते, उनसे जुड़े लोगों के इतिहास और वर्तमान के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन पर भी रोशनी डालते जाते हैं। वह महज एक सैलानी की तटस्थ टिप्पणी नहीं होती उसमें उनका सांस्कृतिक चिंतक का संश्लिष्ट व्यक्तित्व भी बोलता है।

राहुल जी किताब की निर्जीव भाषा से ऊपर उठकर अनुभव की भाषा को अपनी रचना का आधार बनाने का प्रयत्न करते हैं। वे उर्दू और हिंदी के शब्दों के साथ स्थानीय भाषा के कुछ शब्दों को भी ग्रहण करते हैं। भाषा में व्यंग्य के तेवर देखने वाले होते हैं। वे पांडित्य परंपरा में होते हुए भी भाषा को जड़ नहीं होने देते हैं, भाषा में लोक अनुभव की संवेदना का महत्व दिखाई पड़ता है। इस वृतांत में रोचक शैली के साथ विद्वता का प्रभाव भी मिलता है। शैली में किंचित् बोझिलता के बावजूद प्रायः रोचकता बनी रहती है। पाठक को पूरे यात्रा वृतांत में इतनी बातें और इतना अनुभव हासिल होता है कि वह चकित-सा रह जाता है। शब्दों की ध्वन्यात्मकता, टोन और बोलने की शैली का भी उन्होंने प्रयोग में बड़ा ध्यान रखा है। कहीं-कहीं उनकी भाषा के बीच से भोजपुरी अंदाज छलक उठता है। भाषा की प्रवृत्ति उनके व्यक्तित्व के समान स्वच्छंद है।

शब्दावली

खासादार : या खासबरदार, सिपाही जो सवारी के आगे-आगे चलता है।
बखशीश : इनाम

बुशहरी : बुशहर का रहने वाला
पंसेरी : पाँच सेर का वजन
डाँडे : लकड़ी का डंडा
वाणासुर : पुराण में वर्णित एक राक्षस
उपत्यका : पहाड़ के पास की भूमि, तराई।
प्रातराश : नाश्ता
ताकीद : किसी काम को करने के लिए बार-बार याद दिलाना
अनूशाही : शाही रिवाज के अनुसार
कादंबरी : महान संस्कृत गद्यकार बाणभट्ट की प्रसिद्ध गद्य रचना
इंद्रायुध : इंद्रधनुष या वज्र के सामन घोड़ा
असबाब : सामान
भोटिया भाषा : तिब्बती क्षेत्र की एक भाषा।
हकीकी : यथार्थ
परिचारिका : नौकरानी
उंदुवरवर्णा : गूलर के फल जैसी दिखने वाली शराब
ऊर्णासूत्र : ऊनी धागा

व्याख्या के लिए प्रमुख अंश

1. सराहन का सतयुग का इतिहास भी ढूंढ़ने पर मिल सकता है। द्वापर के अंत में जब श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकंद द्वारिका में वास कर रहे थे, तो इसका नाम शोणितपुर था। यही प्रचंड-भुजदंड वाणासुर की राजधानी थी। यहीं उसकी कन्या उषा ने चित्रलेखा के खींचे चित्रों से अपने स्वप्नाभिलषित प्रियतम अनुरुद्ध को पकड़ मँगवाया था। उसी अनुरुद्ध की अविच्छिन्न परम्परा पिछले महाराजा पदम सिंह और उनके वर्तमान चिरंजीवी वीरभद्र सिंह तक चली आई है। प्राचीन नाम शोणितपुर और वर्तमान नाम सराहन के महत्व के बारे में इससे बढ़कर और क्या कहा जा सकता है? और प्रमाण चाहिए, तो वह स्वयं सराहन नाम में दिया है जो शोणितपुर से ही बिगड़ कर बना है। किस भाषातत्व या व्याकरण के अनुसार, यहाँ के पंडित प्रवर मूर्खजपाटानंद से पूछ लीजिए, जो यहाँ से थोड़ा ही नीचे के रावी गाँव में सतयुग की पोथी लेकर बैठे हुए हैं। इस पोथी को न इनकी हजार पीढ़ी पढ़ सकी और न वह खुद। बल्कि वह पोथी तह पर तह कपड़ों से लिपटी सारे कलियुग में भी न खुली और यदि रामजी की इच्छा होगी, तो आग-वाग लगने पर कोयला बनकर ही खुलेगी।

2. मेरे मन में कभी ख्याल उठा था - इन्हीं की भाँति निर्द्वन्द्व हो गदहा, खच्चर और तंबू लिए एक देश से दूसरे देश में घूमूँ। काश, मैं बीस बरस का हो जाता, फिर इसी तरुण से कहता - लो दोस्त! मुझे भी अपने परिवार में शामिल कर लो, खाने के लिए ही नहीं, अपने साथ काम करने के लिए भी, अपने दुःख-सुख में शामिल होने के लिए भी।

व्याख्या का उदाहरण

अब खम्पा लोग ऊपर की ओर जा रहे थे। खानाबदोशी जीवन के बारे में पूछने पर तरुण ने कहा - जीवन तो कठिन है, किंतु उसे छोड़ कर बसते नहीं बनता। बसने पर आज की तरह की खान-पान की सामग्री जमा करना हमारे लिए संभव नहीं होगा। पश्चिमी तिब्बत में पहुँचते हैं वहाँ यथेष्ट मांस, मक्खन सुलभ होता है। यहाँ भी आस-पास के लोगों से अच्छा खाते हैं, अच्छा पहनते हैं, न ऊधो का लेना न माधो का देना। उसकी बात में सच्चाई थी, इससे कौन इंकार कर सकता था।

संदर्भ-संकेत

महापंडित राहुल सांकृत्यायन प्रगतिशील विचारधारा के लेखक थे। उनमें प्रखर मानवीय दृष्टि थी। उनकी यात्रा साधारण जन की पीड़ा को समझने का एक प्रयास भी है। 'किन्नर देश की ओर' उनकी हिमाचल यात्रा का वृतांत है। उनकी यात्रा का महत्वपूर्ण पक्ष यात्रा स्थल के लोगों के जीवन का वर्णन होता है। इस अंश में भी खंपा जाति के युवक से उनकी वार्ता का उल्लेख है। इस यात्रा में हिमाचल के सीमांत प्रदेश में बसे भारतीय ही नहीं बल्कि तिब्बत के लोगों के पिछड़ेपन को वे गहन आत्मीय भाव से प्रस्तुत करते हैं।

व्याख्या-संकेत

खंपा लोग भारत-तिब्बत सीमांत पर बसने वाली खानाबदोशी जातियों को कहा गया है। एक तरूण तिब्बती से राहुलजी उसी की भाषा में बात कर उससे अपनी आत्मीयता स्थापित कर लेते हैं। तरूण खानाबदोशी जीवन की कठिनाइयों का वर्णन करता है। तकलीफों के बावजूद वह खानाबदोशी संस्कृति को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। खानाबदोश लोगों में संग्रह की प्रवृत्ति नहीं होती है। संग्रह से पूँजी का जन्म होता है। पूँजी विषमता को जन्म देती है, जो समाज के लिए रोग है।

पश्चिमी तिब्बत से किन्नर देश की यात्रा करते हुए खंपा लोगों को कहीं बेहतर जीवन मिलता है तो कहीं उनकी तकलीफें बढ़ जाती हैं। इसके बावजूद वे इसलिए उस जीवन को छोड़ना नहीं चाहते क्योंकि श्रम पर टिका उनका जीवन और उनका समाज बराबरी का समाज था। लेन-देन की ऐसी व्यापारिक संस्कृति अभी उनमें विकसित नहीं हुई थी,

जो अपने ही लोगों को अपने लोगों से दूर कर देती है। उनके जीवन की यह निष्कपटता और सरलता लेखक को आकृष्ट करती है। यही कारण है कि वह सोचता है कि काश, इस तरुण की तरह वह भी जवान होता और उन्हीं की तरह यात्रा करता हुआ जीवन बिताता।

विशेष-संकेत

खानाबदोश लोगों के जीवन का यह चित्र हमारे आज के कथित सभ्य समाज से तुलनीय है। क्या उन्हें किसी तरह हम अपने से कम 'सभ्य' मान सकते हैं?

यात्रा वृतांत में लोगों के ऐसे जीवंत अनुभव के वर्णन से उसका साहित्यिक महत्व भी बढ़ जाता है।

सहायक पुस्तकें

प्रभाकर पाचवे : *राहुल सांकृत्यायन,* साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।
डॉ. विद्यानिवास मिश्र : *राहुल चयनिका,* नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली।
कमला सांकृत्यायन : राहुल वाङमय, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
गीतेश शर्मा : राहुल : मंथन एवं चितंन, जनंसचार प्रकाशन, कलकत्ता।
शंभुनाथ (सं.) : राहुल सांकृत्यायन अंतर्विरोध में लय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

मूल पाठ : यात्रा वृत्तांत

किन्नर देश की ओर

17 मई को रामपुर से प्रस्थान किया। यद्यपि मेरे पास एक ही खच्चर का सामान था, किंतु पहाड़ में अकेला खच्चर ले जाया नहीं जा सकता, इसलिए सामान के लिए दो खच्चर और सवारी के लिए एक घोड़े का प्रबंध किया गया था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ठाणादार से ही मैं सरकारी खच्चरों और घोड़ों का व्यवहार कर रहा था। भाड़े के भी इधर खच्चर चला करते हैं, किंतु उनका मिलना कोई निश्चित नहीं रहता। वैसे सरकारी खच्चर पर जितना खर्च आता है, उससे अधिक भाड़े के खच्चरों पर नहीं आता। मैंने शाम को ही कह दिया था कि हमें बड़े सवेरे चलना है। सवेरे समय से थोड़ी देर बाद खच्चर रवाना हो सके। सरदार साहब से और विद्याधर जी से बिदाई ली। थोड़ा आगे चलकर घोड़े पर सवार हुआ। थोड़ा ही आगे गए कि घोड़ा ठमकने लगा। समझा - शुरू है, आगे ठीक हो जाएगा। और चले, किंतु वही रफ्तार। साथ चलने वाले लड़के से पूछा - घोड़े की पीठ तो कटी नहीं है? लड़के ने पहिले इधर-उधर करना चाहा, किंतु जोर देने पर बोला - हाँ, पीठ कटी है। आखिर रियासती नौकर ठहरे। मेरे एक मित्र की सगी बहिन एक रियासत की विधवा रानी थीं। छोटे भाई के आने पर आवभगत क्यों न करती? चलते समय बहिन रानी ने भाई को मिठाई और दूसरी चीज़ों के साथ एक अच्छा साफा भी दिया। भला नौकर-चाकरों के रहते रानी साहब के भाई अपने हाथ से उन चीज़ों को कैसे उठाकर ले जाते। बाहर आकर जब गाड़ी में भेंट रखी गई, तो साफा नदारद। बिदा होकर चले आये भाई, क्या फिर लोटकर साफे के उड़ने की बात कहने जाएँगे - राज्य के नौकरों को यह बात भलीभाँति ज्ञात थी। राज्य के अतिथियों को ऐसा अनुभव अक्सर प्राप्त होता है। खैर, मुझे तो घोड़ा भेंट में मिला नहीं था और न अस्तबल के खासादार को इससे विशेष लाभ हुआ होगा। शायद अच्छा घोड़ा पाने के लिए भी अस्तबल के बड़े साईंस को पहिले से बखशीश देनी चाहिए थी जिससे मैं अनभिज्ञ था। कटी पीठ के घोड़े पर मैं चार दिन पहाड़ों को पार करके चिनी कैसे पहुँच सकता था? पहुँच सकता, तो भी मेरे पास वह दिल न था। मैंने घोड़े को लड़के के हवाले करके कहा - इसे तुरंत अस्तबल में ले जाकर दूसरा घोड़ा बदल के ले आ, मैं गौरा में प्रतीक्षा करूँगा। वह 'हाँ।' करके लौट गया। मैंने विश्वास किया कि घोड़ा अवश्य गौरा आ जाएगा। थोड़ा आगे एक कनोरा पुरुष मिला। मैंने सोचा, शायद लड़का डर के मारे अस्तबल वालों से बात न करे, इसलिए मैंने इस पुरुष से खास सेक्रेटरी बाबू प्यारेलाल जी के पास संदेश भेजा।

नौ मील कोई बात नहीं। यद्यपि मैं इधर शरीर से निर्बल था और अभी पहाड़ की चढ़ाई-उतराई का अभ्यस्त भी न हो पाया था, तो भी घोड़ा आने के भरोसे बड़ी निश्चिंतता से आगे चला। तीन-साढ़े तीन घंटे में गौरा डाकबँगले में पहुँच गया। गौरा रामपुर से ढाई हजार फीट से अधिक, अर्थात् समुद्रतल से 6518 फुट ऊँचा है, इसलिए रास्ते में चढ़ाई भी पड़ी। मुझे दोपहर को वहाँ विश्राम करना था। दो-तीन घंटे में घोड़े के भी आ जाने की पूरी उम्मीद थी। किंतु घोड़ा कहाँ आने वाला था? आगे चिनी तक खच्चर के साथ जाने के लिए दौलतराम आ पहुँचे। घोड़े के बारे में पूछने पर बतलाया - हाँ, वह सही-सलातम अस्तबल में पहुँच गया। झुँझलाने से क्या लाभ, आखिर यह तो रियासती आतिथ्य का एक अभिन्न अंग है। तीन घंटे की प्रतीक्षा काफी थी। आगे अभी 12 मील चलना था और रास्ता और भी कड़ी चढ़ाई-उतराई का। गौरा में घोड़े की आशा नहीं थी। यही गौरा था जहाँ के कोलियों ने मास्टर अनुलाल को छुड़ा लिया था और यही डाकबँगला था जिसमें राज की पुलिस और अधिकरियों ने शरण ली थी, गोली चलाई थी और अंत में आत्मसमर्पण किया था।

10 मील के रास्ते में उतराई या समतल पथ तो कुछ नहीं मालूम हुआ, हिम्मत भी करने की ज़रूरत नहीं पड़ी, किंतु अंतिम चार मील कड़ी चढ़ाई के थे। धूप भी तेज थी, ऊपर से डायबेटिस वाले आदमी का तालू वैसे ही सदा सूखा रहता है। मत पूछिए, अंतिम चार मीलों ने मेरी क्या गत बना दी। बस यही समझिए, - 'केनापि देवेन हृदस्थितेन यथातयुक्तोस्मि तथा करोमि' वाली हालत थी। कष्ट असह्य था, किंतु हिम्मत छोड़ने की बात न थी, जानता ही था, बिना सराहन पहुँचे शरण नहीं। रास्ते में बुशहरी नारियाँ डाँडे पर के किसी मेले से खूब बनी-ठनी लौट रही थीं, कोई गीत भी गा रही थीं, किंतु यहाँ देखने-सुनने के लिए दिल कहाँ था? आगे तो चल रहा था, किंतु हर पाँव घंटे पर जान पड़ता था, पैरों में नई पंसेरी बाँधी जा रही है। क्या दिल मानने के लिए तैयार था कि आज 79वें मील पर (शिमला से) पहुँचेंगे। लेकिन आखिर 21 मील की यात्रा करके सूर्यास्त के समय सराहन के डाकबँगले पर पहुँच गया।

बँगला बंद था। कोई मेला हो और पहाड़ी जवान वहाँ से अनुपस्थित हो, यह क्या कोई होनी बात है? मालूम हुआ - चौकीदार साहेब वहाँ गए हुए हैं, आज रात को शायद ही लौटे। मेला तो होता है किसी बड़े शक्तिशाली देवता का ही। किंतु उसमें डटकर शराब पीना, नाचना-गाना सबसे आवश्यक चीज़ है। आस-पास की सारी तरुण-सौंदर्य-राशि जहाँ राशिभूत होती है, फिर 'वहाँ नहीं यहीं बैकुन्ठा' मानने वाले क्यों पिछड़ेंगे। खैर, भंगी अर्थात् कोली बूढ़ा और बीमार था, इसलिए वह मेला न जा सका था, नहीं तो उस थकावट में सात हजार फूट की रात को बाहर घास पर बैठना बहुत प्रिय नहीं लगता। बूढ़े ने कहीं से कुर्सी पैदा की। पूछताछ करने पर मेट (चारस) के पास चाभी

निकल आई। अब चाहे चौकीदार रात भर मेला करता रहे, हमें पर्वाह नहीं थी। कुछ देर बाद दौलतराम भी खच्चरों को हाँके आ पहुँचे, किंतु उनकी मनहूस सूरत देखकर हमारी अवस्था बेहतर नहीं हो सकती थी। जान पड़ता था, वह हमसे भी अधिक थके-माँदे हैं। उन्होंने जो भी खच्चरों के लिए दाने-चारे की फर्माइश की, देकर पिण्ड छुड़ाया - प्रति-खच्चर प्रतिदिन दस रुपये से क्या कम खर्च था!

दोपहर को छछ भर पिया था, इसलिए भूख तो लगनी ही ठहरी, किंतु इस समय थोड़ा लेट जाने का ख्याल था। नेगी ठाकरसेन का पत्र यहाँ के मिडिल स्कूल के मास्टर साहेब को मिल गया था और मास्टर सोहनलाल पता लगते ही आये - सराहन बस्ती कुछ फर्लांग ऊपर है। हम तो दौलतराम की रसोई में शामिल होना चाहते थे, किंतु मास्टर जी ने घर से भोजन और दूध लाने का आग्रह किया। एवमस्तु! किंतु हमें सबसे अधिक चिंता थी कल की यात्रा की, अगले दिन पैदल चलने की शक्ति नहीं थी। मास्टर साहब ने जितनी जल्दी घोड़ा मिल जाने की बात की, उस पर मेरा विश्वास नहीं हुआ - पहाड़ी लोग न करना जानते नहीं, किंतु हर 'हाँ' को पूरा करना उनकी शक्ति के बाहर है। फिर पूछने पर मास्टर सोहनलाल ने कहा - घोड़ा हमारे परिचित बनिये का है। मुझे 22 साल पहिले नौला के बनिये के साथ का अनुभव याद आ गया, कहीं यहाँ भी वैसा ही न हो। दिल पत्थर करके सोचा - खैर, यहाँ सिर पर छत तो है, साफ-सथुरा पी.डब्लू.डी. का बँगला, पलंग, मेज, कुर्सी मौजूद है। सराहन में दूध, भोजन मिल जाएगा ही, हाँ खच्चरों को भी आदमी के साथ बीस-बाईस रुपये रोज़ खिलाने पड़ेंगे। किंतु मैं आजकल के रुपयों को खर्च करते समय पहिले चार से भाग दे दिया करता हूँ, आखिर 1939 में चार आने की चीज़ का ही मूल्य तो आजकल एक रुपया है। खाना लाकर मास्टर जी ने कहा - बनिया घोड़ा दे देगा। क्यों नहीं देता? शायद उसका लड़का स्कूल में मास्टर जी के पास पढ़ता हो। और मास्टर जी के पास नेगी ठाकरसेन की महापंडित के बारे में जबर्दस्त चिट्ठी आई थी। मास्टर जी ने कहा - घोड़े का किराया नचार तक, अर्थात् 23 मील के लिए 20 रुपया माँगता है। बीस यानी 5 रुपये काई पर्वा नहीं। मैंने घोड़े को ठीक कर देने के लिए कहा।

सराहन ऐसा महत्वहीन स्थान नहीं है कि रात भर डाकबँगले में रहकर उससे छुट्टी ले ली जाए, लेकिन मुझे फिर इसी रास्ते लौटना था। सराहन का सतयुग का इतिहास भी ढूंढ़ने पर मिल सकता है। द्वापर के अंत में जब श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकंद द्वारिका में वास कर रहे थे, तो इसका नाम शोणितपुर था। यही प्रचंड-भुजदंड वाणासुर की राजधानी थी। यहीं उसकी कन्या उषा ने चित्रलेखा के खींचे चित्रों से अपने स्वप्नाभिलषित प्रियतम अनुरुद्ध को पकड़ मँगवाया था। उसी अनुरुद्ध की अविच्छिन्न परम्परा पिछले महाराजा पदम सिंह और उनके वर्तमान चिरंजीवी वीरभद्र सिंह तक चली

आई है। प्राचीन नाम शोणितपुर और वर्तमान नाम सराहन के महत्व के बारे में इससे बढ़कर और क्या कहा जा सकता है? और प्रमाण चाहिए, तो वह स्वयं सराहन नाम में दिया है जो शोणितपुर से ही बिगड़ कर बना है। किस भाषातत्व या व्याकरण के अनुसार, यहाँ के पंडित प्रवर मूर्खजपाटानंद से पूछ लीजिए, जो यहाँ से थोड़ा ही नीचे के रावी गाँव में सतयुग की पोथी लेकर बैठे हुए हैं। इस पोथी को न इनकी हजार पीढ़ी पढ़ सकी और न वह खुद। बल्कि वह पोथी तह पर तह कपड़ों से लिपटी सारे कलियुग में भी न खुली और यदि रामजी की इच्छा होगी, तो आग-वाग लगने पर कोयला बनकर ही खुलेगी।

सराहन रामपुर से पहिले काफी समय तक बुशहर की राजधानी रहा जो पीछे गर्मियों भर के लिए ही श्रीचरणों से पवित्र होता रहा। यहीं मैंने 1926 में महाराजा पदम सिंह के दर्शन किये थे। उस समय रामपुर से यहाँ तक टेलीफोन भी था। अब टेलीफोन खतम हो चुका है, रास्ते के खंभे भी बहुत से लेट गए हैं। 21 मील लम्बा तार मुफ्त में लुट रहा है। अधिकरियों को पता नहीं है कि जल्दी ही उन्हें नचार तक टेलीफोन नहीं, तार पहँचाना होगा यदि हिमाचल सरकार के स्वप्न 'सतलुज उपत्यका फलों की खान' को जागृति में परिणत करना है। राजा और उनकी ग्रीष्म की राजधानी न सही, सराहन अच्छा बड़ा गाँव है और यहीं सारे बुशहर की अधीश्वरी भीमाकाली आपरूप निवास करती है। मुझे इन बुशहरियों पर झुँझलाहट आती है। हमारे देखते-देखते गढ़वाली आधे दर्जन नकली काशी, नकली प्रयाग, यहाँ तक कि नकली बद्रीनारायण भी बनवाकर मालामाल हो गए - 'नकली बद्रीनारायण'। यह मैं गंगोत्तरी के पंडों के गुरु वैदिक जी की बात मानकर कहता हूँ जिनका कहना था कि असली या आदि बदरी भीट देश में थोलिंग मठ में है जिन्हें लामा लोग पूजते हैं। भीमाकाली के आद्या भगवती होने में संदेह नहीं। कहते हैं, उनके खजाने में राजा रामचन्द्र जी के रुपये-पैसे रक्खे हुए हैं, फिर तो त्रेता तक के लिए बात पक्की ठहरी। माई के दर्शन की लालसा तो है लौटते समय, लेकिन मुश्किल है कि माई का द्वार मेरे जैसे वज्र नास्तिक तो क्या, बुशहर राज्य के बाहर पैदा हुए निपट आस्तिक के लिए भी बंद है। खैर, और नहीं तो लौटते समय चौखट का तो दर्शन हो जाएगा और अगस्त के सूर्यनारायण ने कृपा की, तो माई के मंदिर के चित्र का दर्शन आर्यावर्त के पुण्यवान् प्राणियों को भी हो जाएगा। खजाने के रामचन्द्री रुपयों के दर्शन की लालसा तो किसी की भी पूरी न होगी, क्योंकि अनूशाही प्रचार के अनुसार माई के खजाने को तोड़कर सरदार उसे न जाने कहाँ उठा ले गया।

× × × ×

मिति 18 मई दिन मंगल ईसवी साके 1948 का ब्राह्ममुहूर्त आया। मास्टर सोहनलाल कुछ प्रातराश लेकर पहुँचे और इस संदेश के भी साथ, कि घोड़ा आ रहा है,

आज ही उसे नचार से लौटा दीजियेगा। 23 मील पहाड़ी यात्रा थी, किंतु कल तो मैं पैदल ही 21 मील चला आया था। मास्टर साहब के वर्णन से बनिये का घोड़ा राजा भोज के कल वाले कठघोड़े से कम तेज न था। जलपान किया। दौलतराम को ताकीद करके सवेरे ही रवाना कर दिया। शाम ही को उन्हें दिन की रोटी गाँठ बाँध लेने के लिए कह दिया था। अपनी रोटी तो आराम से मिल रही थी, चाहे आटा सेर सवा सेर का ही हो, किंतु रास्ते में कनक को पानी के बिना झुलसते देखकर चित्त खिन्न होता था। मेघ देवता प्रसन्न नहीं थे और सतलुज माई - नहीं बाबा सतलुज, क्योंकि यहाँ वालों ने सतलुज का नाम समंदर रख छोड़ा है - मुफ्त ही इतनी बड़ी जलराशि बहाये लिये जा रही हैं। सूर्यनारायन उग आये। आसमान में बादल की कहीं एक फुटकी भी न थी। थोड़ी देर में घोड़ा भी आ पहुँचा। कादम्बरी में वर्णित इंद्रायुध से डील-डौल में क्या कम था? हाँ, पहाड़ी टाँघनों में अर्थात् उसकी अपनी जाति में वह सबसे बड़ा घोड़ा था। कहते थे, उसे कोई सौदागर यारकंद से बेचने के लिए लाया। राजा पदमसिंह ने अपने लिए खरीदा था जो पीछे की राजविराजी से होते अब वाणासुर की राजधानी के बनिये के हाथ में पड़ा, और, शायद कुछ समय बाद उसके भाग्य में लदनी बदी है। मुझे उसके भाग्य पर तरस आया। क्या जाने यारकंद में आये चंगेज खां के श्यामकर्ण घोड़े का वह वंशज हो और उसकी यह भवितव्यता!

यह कहना शायद भूल गया कि चौकीदार साहेब रात को ही सही-सलामत पहुँच गए थे। चलते समय डाकबँगले का रजिस्टर मँगाया। देखा - वह पी.डब्लू.डी. का है। अपने राम 22 वर्ष पहिले की स्मृति पर समझते थे, तिब्बत-हिंदुस्तान सड़क पर के सारे बँगले वहाँ के जंगलों की तरह पंजाब के जंगल-विभाग के हैं और इसी विश्वास पर पंजाब के चीफ कंजर्वेटर साहेब से आज्ञापत्र भी लाये थे। रजिस्टर में पूछा गया था - आज्ञापत्र? पंजाब सरकार के एक विभाग का आज्ञापत्र तो था, किंतु चाहिए प्रधान इंजीनियर था। जिस चौकीदार पर हम आते समय इतना बौखलाये थे, वह आज्ञापत्र दिखलाने के लिए कह सकता था और न देने पर अर्धचन्द्र दे सकता था। किंतु सौभाग्य से सरकारी कायदे-कानून जैसे निष्ठुर होते हैं, वैसे उसके यह साधारण सेवक नहीं हैं। समझ में नहीं आता, दस-पाँच दिन छोड़कर इन बहुधन-सम्पादित बँगलों को साल भर बंद रखने से सरकार ने क्या लाभ समझा है? सरकारी अफसरों को पहिले स्थान मिले ठीक, आज्ञापत्र पाने वालों को भी पहिले स्थान दिये जाए, किंतु खाली बँगले को साधारण यात्री के लिए क्यों नहीं खोल दिया जाए? मैं डाकबँगलों को धर्मशाला बनाने की सिफारिश नहीं करता, बल्कि मैं तो कहूँगा, एक रुपया प्रतिदिन शुल्क बहुत कम है, उसे कम-से-कम दो या तीन कर देना चाहिए। बँगले और उसके असबाब इतने अच्छे हैं कि आदमी को तीन रुपया रोज़ देने में भी उज्र नहीं होना चाहिए। बस उक्त शुल्क के साथ खाली बँगले का दरवाजा सबके लिए खोल देना चाहिए। भला सोचने की बात है यदि किन्नर

की रम्य पर्वतस्थली में खाने रहने का अच्छा प्रबंध हो, हजारों की संख्या में यात्री मैदान से यहाँ विचरने के लिए आयें, तो इसमें यहाँ के निवासियों को लाभ है या नहीं? इंगलैंड, स्विट्जरलैंड और दूसरे पश्चिमी देश करोड़ों रुपया विज्ञापन में खर्च कर सैलानियों को अपने यहाँ आकर जेब खाली करने का निमंत्रण देते हैं और यहाँ है एक सरकार, जो आने वाले को भी दुतकारती है। खैर, हिमाचल सरकार की भूमि दाल-भात में मूसलचन्द पंजाब सरकार का यह पी.डब्लू.डी. पुराने अंग्रेज़ प्रभुओं के चरण-चिह्न पर चल रहा था।

अब अपना जंगल, अपनी सड़क, अपना बँगला हिमाचल सरकार के हाथ में आयेगा, फिर उसे चाहिए कि यात्रियों को आने के लिए अधिक-से अधिक सुभीता दे। मैं तो यह भी आशा करता हूँ कि आगे चलकर हर बँगले के साथ रसोइया, चाय-टोस्ट और भोजन का भी प्रबंध हो और सौभाग्य से इस भूमि को यदि 'सूखा' न बनना पड़े, तो किन्नर देश को स्वयंप्रसूता उदुंवरवर्णा द्राक्षी मदिरा भी अतिथियों के लिए सुलभ होगी। उदुंवरवर्णा सुरा का नाम शास्त्रों में पढ़कर मुझे उसके प्रति बहुत सम्मान हुआ था और 'शराब गुलँगू' और 'ब्लडरेड वाइन' की सुंदर ध्वनियों से वह और बढ़ा था। किन्नर में आकर पता लगा कि वहाँ श्वेत द्राक्षी मदिरा के सामने रक्ताभा को घटिया समझते हैं। किसी भी काले अंगूर के रस को कुछ समय खास तौर से रख छोड़ने पर वह उदुंवरवर्णा सुरा में परिणत हो जाता है, किंतु महाश्वेता सुरा भाप से चुवाने पर बनती है, अतएव उसका दाम भी अधिक, मान भी अधिक है। किन्नर देश ने इधर कुछ सालों में द्राक्षी मदिरा बनाने में अधिक प्रगति की है। वैसे द्राक्षा (अंगूर) और मदिरा किन्नर के लिए नई चीज़ नहीं है। पिछली सदी में पोआडी (चिनी के पार) के जागीरदार ने अफसोस प्रकट किया था, 'किन्नर लोग द्राक्षा के बाग की ओर से उदासीन हो रहे हैं, यहाँ बहुत तरह के अंगूर थे, किंतु अब पोआडी में सिर्फ अठारह जाति के रह गए हैं।' नेगी सन्तोखदास (रोगी) ने यह कथा कहते हुए बतलाया, अब पोआडी में एक लता भी द्राक्षा की नहीं है।

किन्नर के मानसून-बाह्य इलाके में फलों के साथ द्राक्षा ने काफी प्रगति की और उसमें मदिरा का मुक्त मार्ग बड़ा सहायक हुआ है। पिछली बार 1926 में जब मैं किन्नर से गुजरा था, उस समय महाराजा पदम सिंह ने अपने राज्य में मदिरा बंद कर दी थी (शायद पीना नहीं, बनाना बंद कर दिया था जिसमें लोग सरकारी दूकानों से खरीद कर पीयें), लेकिन कायदा चलने नहीं पाया। लोग चुपचाप बनाकर पीते और राज को अंगूठा दिखला देते । पीछे युवराज के मुण्डन-महोत्सव में राजा ने मदिरा के प्रतिरोध को बंद कर दिया। बतलाने वालों ने गंभीरता के साथ कहा - यहाँ के देवताओं ने भी बहुत जोर लगाया और राजा से कहा - 'मदिरा बिना हमारा काम नहीं चलता।' उधर राजा करीब-करीब अपने परिवार का संहार करा चुका था। और कितने दिनों तक डटा रहता?

फिर जिस तरह भगवान् ईसा मसीह के नायब रोम के पोप, एकलिंग के नायब उदयपुर के राजा, उसी तरह तो भीमाकाली के नायब थे बुशहर के राजा। और भीमाकाली कम से कम द्वापर से कनोर के शिबू (लाल शराब) की आदी थी, रोगी से शिबू लाने के लिए एक परिवार को अब भी जागीर मिली हुई है।

पाठकों को मालूम हो कि यदि मार्ग का अच्छा प्रबंध और खाने-रहने के अच्छे स्थान बन जायें, तो भाग्यवानों को यहाँ 'शिबू' उदुंवरवर्णा किन्नरी सुरा सुलभ रहेगी। सिर्फ खय्यामों की आवश्यकता है, साकी हजारों सुराही लिए यहाँ तैयार मिलेंगे। शम्पेन और बरांडी को मात करने वाली किन्नरी सुरा यहाँ मौजूद है। मैं उसके घर में पहुँच गया हूँ, किंतु अभाग्य के लिए क्या किया जाए, पानी में 'मीन प्यासी' कहना चाहिए। इस जन्म में तो ब्रह्मा ने सुरा चखना नहीं लिखा और अगले जन्म पर विश्वास नहीं। मैं न सही, दूसरों का ही रास्ता साफ हो। मैं चाहता हूँ, हिमाचल सरकार का संकल्प पूरा हो, नचार तक मोटर-सड़क बन जाए और मेरा भी स्वप्न पूरा हो, पचीस मील की रोपवे (तारगाड़ी) चिनी तक लग जाए। फिर क्या ज़रूरत होगी बाहर करोड़ों रुपया भेजकर अंगूरी शराब मँगाने की जब कि किन्नरी सुरा सारे भारत के लिए सुलभ हो। यह तो मुझे विश्वास है कि चाहे सारा भारत 'सूखा' बन जाए, किंतु किन्नर के देवताओं से उत्प्रेरित यहाँ के मनुष्य किन्नर देश को उसी तरह सूखा नहीं होने देंगे जिस तरह उन्होंने पदम सिंह के कानून को ताक पर रख कर किया।

हाँ, तो हमें आगे चलना था और इन्द्रायुध भी आकर तैयार था, इसलिए पाठकों को भी प्रतीक्षा कराना अच्छा नहीं। इन्द्रायुध की प्रशंसा मैंने या मास्टर सोहनलाल ने गलत नहीं की। वह वस्तुतः सुंदर, स्वस्थ और बड़े कद का घोड़ा था। घोड़े पर अच्छी चमड़े की काठी लगी हुई थी। वैसे घोड़े से मैं उतना डरता नहीं, किंतु पहाड़ी सड़क पर अड़ियल घोड़े से पाला पड़ना अच्छा नहीं है। मैंने थोड़ी देर चढ़ने के बाद समझ लिया कि इन्द्रायुध लगाम क्या हल्की छड़ी को भी बर्दाश्त कर लेता है, तीर की तरह तेज तो नहीं, किंतु बहुत सुस्त भी नहीं चलता। घोड़े के साथ साईस भी था जिसका इस बात पर बहुत जोर था कि वह बनिए का नहीं, राजा का साईस है, किसी काम के लिए सराहन आया था, बनिए ने हाथ-पैर जोड़े, इसलिए साथ चल रहा है। वह समझता होगा, उड़ते पंछी को यहाँ की बात क्या मालूम? मैं जानता था, राजा के विराज़ होने पर न जाने कितने घोड़े और साईस ही बेमालिक के नहीं हुए हैं, बल्कि भीमाकाली के प्रताप से जीने वाले सारे रावी गाँव के ब्राह्मणों में भी कुहराम मचा हुआ है, सरकार ने देवी के अस्सी हज़ार खर्च को घटाकर पन्द्रह हजार से कम कर दिया है। ब्राह्मण देवता जरूर घर का निराहार पुरश्चरण करते होंगे। उनके लिए इससे अच्छा तो फिरंगियों का राज्य था। अच्छा

देवताओं! कोई पर्वा नहीं, तुम्हारे पास कपड़े में लिपटी वह सतयुग की पोथी है। सुनते हैं - उसमें सोना नहीं पारस बनाने की विधि लिखी है।

सराहन पहाड़ पर ढलवाँ बसा हुआ है और काफी नीचे तक। यह राजधानी के लायक स्थान है, लेकिन राजा केहर सिंह को न जाने किसने भाँग खिला दी जो राजधानी रामपुर ले गए। सराहन के बारे में और फिर कभी। डेढ़-दो मील चलने पर पवर्त-वाही-जिसे यहाँ वाले धार कहते हैं - कि पीछे पहुँचते ही सराहन आँख से ओझल हो गया, लेकिन अभी हम किन्नर देश में नहीं पहुँचे। अभी तीन-एक मील और चलना पड़ा। मान्योटी की धार (पर्वत-वाही) आई। यहाँ से हम असली किन्नर-देश में प्रविष्ट हुए। स्त्रियाँ ऊर्ण सारी पहने थीं। हाँ, ऊर्ण सारी को ऊनी साड़ी न मान लीजिए, यह काफी लम्बा-चौड़ा पतला कम्बल होता है जिसे स्त्रियाँ दाहिना कंधा खोले काँटे से इस प्रकार पहिनती हैं कि शिर को छोड़कर सारा शरीर ढँक जाता है। यहाँ से नीचे के लोगों को किन्नर लोग कोची कहते हैं। कोची स्त्रियाँ शिर पर रूमाल बाँधती हैं, किंतु किन्नरियाँ अपने पुरुषों की भाँति टोपी लगाती हैं जिसके तीन भाग में उठे कनपटे जाड़ों में नीचे गिरकर कनटोप का काम देते हैं।

रास्ता तिब्बत-हिंदुस्तान सड़क का था, किंतु सड़क कैसी थी, इसे इसी से समझ लीजिए कि मैंने यहाँ चलकर तय कर लिया कि यदि चिनी को अपना गर्मियों का हेडक्वार्टर बनाना है, तो प्रतिवर्ष नीचे जाने का ख्याल छोड़ना होगा। रास्ता बहुत परिश्रम से बनाया गया था, इसमें शक नहीं, किंतु वह कितनी ही जगहों पर कठिन था। यहाँ पहाड़ अधिक वृक्षसंकुल थे। पहिले की स्मृति ने धोखा देकर समझा रखा था कि इस मोड़ के कनम् तक आदमी लगातार 'देवदार जूड़ी छाँह' में ही जा सकता है, किंतु यह धारणा निराधार थी। कहीं-कहीं देवदार भी थे, मगर सभी जगह नहीं। चौरा के डाक बँगले से हमें कुछ लेना-देना न था। साईस के साथ हम आगे बढ़ते गए। बतलाया गया था, शालेडिङ् खड्ड के पार रास्ता बहुत बुरी तरह से टूटा हुआ है। मैंने समझा था, शायद वहाँ मुझे और घोड़े दोनों को टाँग कर पार करना होगा। रास्ता टूटा ज़रूर था, किंतु लोगों ने खेत से अस्थायी मार्ग बना दिया था। हम आसानी से दुकान और सराय के पास पहुँच गए। सराय के धुपहले और शायद खटमल-पिस्सुओं से भरे बरांडे को न पसंद कर मैंने दुकान की छाँह पसंद की।

खच्चर और दौलतराम न जाने कितने पीछे छूटे थे, इसलिए उनके आ जाने पर ही आगे चलना था। बनिया बीमार था। दुकान में काफी आलू पड़े थे और गुड़ की भेलियों पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। मेरे खाने, खरीदने की वहाँ कोई चीज़ न थी। पास के कटे खेत में अपनी रावटी डाल ग्यारह खम्पा पड़े थे। खम तिब्बत में चीन की सीमा पर एक प्रदेश है। शायद इनके पूर्वजों में कुछ किसी समय खम् से खानाबदोशी करने इधर

आए हों, किंतु अब यह न भाषा ही में खम् के हैं, न वेशभूषा ही में। शायद इसीलिए इन्हें सिर्फ खम्पा (खम्वाला) न कहकर ग्यंगर (भारत)-खम्पा कहते हैं। इन लोगों का कहीं घर नहीं है, किंतु यह भिगमंगे नहीं हैं। इनका काम है छोटा-मोटा सौदा खरीदकर इधर से उधर बेचना। जाड़ों में ये मंडी, शिमला, हरद्वार, दिल्ली तक पहुँचते हैं और गर्मियों में सतलुज और गंगा की घाटियों से पश्चिमी तिब्बत। यह तिब्बती प्रजा हैं या भारतीय, इसका ठीक से जवाब यह भी नहीं दे सकते। पास में खम्पा बच्चों को देखकर मैने उनसे भोटिया भाषा में कुछ कहा, उनके कान खड़े हो गए और सयानों को मालूम हुआ। एक तरुण और उसकी माँ पास आई। मेरे जैसे वेशभूषा के आदमी को फर-फर ल्हासा की नागरिक भाषा में बात करते देख पहिले आश्चर्य हुआ। मैं बनिये के आदमी से पीने के लिए पानी माँग रहा था। तरुण ने कहा - मैं चाय लाता हूँ। उसे न जाने कैसे विश्वास हो गया कि मैं छुआछूत नहीं मानता हूँगा। यद्यपि गर्मी में चलकर आने से मुझे ठंडा पानी अधिक पसंद था, किंतु तरुण के सत्कार को ठुकरा नहीं सकता था। तरुण बहुत ही संस्कृत मालूम हुआ, कुछ पढ़ा भी था, भारत की राजनीतिक प्रगति की कुछ मोटी-मोटी बातें भी जानता था। सारनाथ, बोधगया भी एक से अधिक बार हो आया था। माँ चाय बनाने चली गयी और मैं तरुण से बातचीत करने लगा। मेरी दृष्टि उसके स्वच्छ-स्वस्थ प्रसन्न मुँह पर थी। कान और जीभ बात में लगे थे, लेकिन मन कभी-कभी अतीत की ओर चला जाता था। मेरे मन में कभी ख्याल उठा था - इन्हीं की भाँति निर्द्वन्द्व हो गदहा, खच्चर और तंबू लिए एक देश से दूसरे देश में घूमूँ। काश, मैं बीस बरस का हो जाता, फिर इसी तरुण से कहता - लो दोस्त! मुझे भी अपने परिवार में शामिल कर लो, खाने के लिए ही नहीं, अपने साथ काम करने के लिए भी, अपने दुःख-सुख में शामिल होने के लिए भी। माँ मैं तो हकीकी साझीदार नहीं बन सकता, किंतु पत्नी हमारी एक रहेगी और हम पश्चिमी तिब्बत से भारत तक ही नहीं विचरेंगे, बल्कि तिब्बत के महा-मैदान को पार करते सुदूरपूर्व खम् तक चलेंगे। रास्ते में दुर्गम पथ ही नहीं लाँघना पड़ेगा, बल्कि बंदूकधारी अश्वारूढ़ डाकुओं से भी मुकाबला करना पड़ेगा, किंतु मैं तुम्हारे साथ रहूँगा। किंतु क्या पचपन साल से बीस साल के होने की औषधि दुनिया में प्राप्त हुई है?

अब खम्पा लोग ऊपर की ओर जा रहे थे। खानाबदोशी जीवन के बारे में पूछने पर तरुण ने कहा - जीवन तो कठिन है, किंतु उसे छोड़ कर बसते नहीं बनता। बसने पर आज की तरह की खान-पान की सामग्री जमा करना हमारे लिए संभव नहीं होगा। पश्चिमी तिब्बत में पहुँचते हैं वहाँ यथेष्ट मांस, मक्खन सुलभ होता है। यहाँ भी आस-पास के लोगों से अच्छा खाते हैं, अच्छा पहनते हैं, न ऊधो का लेना न माधो का देना। उसकी बात में सच्चाई थी, इससे कौन इंकार कर सकता था। चाङ्थाङ् (तिब्बत के निर्जन बयाबान) में चीनी और सिग्रेट कहाँ और यहाँ के गाँवों में रोज-रोज मक्खन-मांस कहाँ? तरुण बुद्ध-धर्म का भक्त था, बाह्मणों के धर्म को सम्मान की दृष्टि से न देखता था और

साथ ही न जाने कहाँ से कम्युनिस्ट पार्टी का नाम भी जानता था। कांग्रेस की प्रशंसा करता था। कहता था, भोट में भी हांकिमों, जागीरदारों का जुल्म खतम होना चाहिए। हमारी बातचीत भोट भाषा में हो रही थी। जिसे उसकी माँ भी ध्यान से सुन रही थी। कनोरा दूकानदार चारपाई पर पड़ा हमारा मुंह देख रहा था और शायद एक भद्रवेषी (शुभ्र कुर्ता-धोतीधारी) पुरुष को भोटिया की चाय पीते आश्चर्य भी कर रहा था। आश्चर्य मेरे ही लिए, क्योंकि यद्यपि चिनी तहसील के बाहर के ये कनौरे ब्राह्मणों के जाल में फँस चुके हैं, किंतु लामा लोगों की मंत्र-शक्ति और सिद्धाई से लाभ उठाने से बाज नहीं आते। यह वस्तुतः रामखुदैया वाले लोग हैं!

दौलतराम कितनी ही देर बाद सिरदर्द लिये आये। उन्हें धीरे-धीरे शाम तक नचार तक पहुंचने के लिए कहकर हम आगे चले। अब चढ़ाई थी। धूप सीधे बायें से पड़ रही थी जिससे आड़ करने के लिए वृक्षों की छाया नहीं थी, पहाड़ वनस्पति-विहीन न था। चढ़ाई नरम इसीलिए मालूम हो रही थी कि हम दूसरे की पीठ पर थे। चढ़ाई दो मील रही होगी या ज्यादा, उसे पूरा करने के बाद अब हम अवश्य देवदारुओं के सुंदर वन में थे, सारे रास्ते का यह सुंदरतम भाग था। सारा पर्वतगात्र तुंग सरल सदाहरित देवदारुओं से ढँका था। अठारह-बीस खूँद का सुड्रा गाँव यही है। इसी के पास किसी गुफा में वाणासुर की सुभार्या ने सात बहिन-भाइयों को जन्म दिया था जिनमें एक यहीं का मेशु है। इसके दूसरे दो भाई भावा और चगाँव (ठोलड्) के मेशू हैं और सबसे बड़ी बहिन चिनी के पास कोठी की देवी है जो सबसे होशियार निकली जिसने सभी भाई-बहिनों को चकमा देकर दाय-भाग का असली सार अपने हिस्से में कर लिया।

देवदारुओं के सघन वन में चलने में बड़ा आनन्द आ रहा था और घोड़े को मैं उसके मन से चलने दे रहा था।

23 मील की यात्रा पूरी करके साढ़े पाँच बजे हम नचार पहुँचे। नचार में पी.डब्लू.डी. का बँगला नहीं, बल्कि जंगल विभाग का बँगला था। बँगला सड़क से कुछ ऊपर है। घूमकर वहाँ पहुँचे। सहायक कंजर्वेटर ढिलन महाशय के पास ऊपर से चिट्ठी आ गई थी, किंतु उन्हें यह नहीं पता था कि मैं किस दिन पहुँच रहा हूँ। बँगला बड़ा और दो-तल्ला था, किंतु जान पड़ता था एक से अधिक परिवार वहाँ रहता था, इसलिए भरा-भरा-सा मालूम होता था। ढिलन साहब बड़े प्रेम से मिले। उनकी धर्मपत्नी ने भी नमस्ते करने में संकोच नहीं किया। अभी मुझे यह नहीं पता था कि ढिलन अपने कालेंज (देहरादून) के सबसे मेधावी विद्यार्थी थे। बातचीत में यह तो मालूम हुआ कि वह अनुभव प्राप्त करने के लिए विदेश भी जा चुके हैं। पंजाबी जानकर मुझे कुछ खेद हुआ कि शायद उनका परिवार भी पंजाब के उन अभागे परिवारों में है, किंतु ज्ञात हुआ, वह जलंधर के रहने वाले हैं। गर्मियों में उनका दफ्तर नचार में रहता और जाड़ों में नीचे फल्लोर में। चाय

पीने के बाद वह हमें बागे में ले गए। अभी फलों के पकने में काफी देर थी, किंतु गिलास (चेरी) ने हमें खाली लौटने नहीं दिया। गोभी और दूसरी तरकारियाँ लगी हुई थीं। कुछ महीने बाद यह फल-तरकारी-सम्पन्न निवास होगा, किंतु अभी तो चीज़ों की कमी की शिकायत थी।

शाम हो रही थी और अभी दौलतराम का पता नहीं। मैंने दूसरा आदमी दौड़ाया। चिराग वाला जाने लगा, किंतु दौलतराम का अब भी पता नहीं। क्या सिरदर्द ने बुखार का रास्ता तो नहीं ले लिया? क्या वह पौंडा के डाकबँगले में तो नहीं रह गया? घोड़े वाले को लौटाते समय मैंने दौलतराम को जल्दी आने की ताकीद तो कर दी थी। मेरे पास कपड़ा मामूली था जो 7000 फूट की सर्द रात के लिए काफी नहीं था। ढिलन साहेब ने चादर दे दी, किंतु मेरी चिंता बढ़ रही थी। तीसरे आदमी को रास्ता देखने के लिए भेजने की बात हो रही थी, उसी समय किसी ने आकर कहा, खच्चर काफी दिन से ऊपर उतरने की जगह पहुँचे चुके हैं, खच्चर वाला रोटी बना रहा है। मैं नाहक डर और अपने को कोस रहा था - दौलतराम जरूर 105 डिग्री के बुखार में बेहोश होकर कहीं पड़ रहा और खच्चर मनमाने किसी ओर चले गये।

बँगला भरा हुआ था, इसलिए मुझे संकोच हो रहा था, मेरे आने में अवश्य दम्पत्ति को कष्ट होगा। भोजनोपरांत गृहपति ने संकोच करते हुए कहा, एक दूसरा क्वार्टर है, वहाँ रहने में तो कष्ट होगा। लालटेन लिए वह उस मकान में ले गए। यद्यपि वह डाकबँगले जैसा तो नहीं था, किंतु काफी स्वच्छ था। नेवार का पलंग और मेज-कुर्सी भी थी। और क्या चाहिए? अभी तक ढिलन साहेब से ही बात होती रही, किंतु यहाँ बाबू अमीचन्द (पंगी बाबू) से भेंट हुई। उन्हें भी नेगी ठाकुरसेन का पत्र मिल चुका था। ढिलन साहेब ने तो कल के लिए घोड़ा मिलने में भारी संदेह प्रकट किया, लेकिन पंगी बाबू ने आशा दिलाई। मुझे कल के तीन मील के चढ़ाई के रास्ते की चिंता थी, बाकी सात-आठ मील की कोई पर्वा नहीं थी। अमीचन्द ने कहा, मैं स्वयं भी आपके साथ वाङ्तू के बँगले तक चलूँगा, सौभाग्य से सड़क के इंसपेक्टर बाबू लक्ष्मीनन्द आज वहीं ठहरे हैं, उनका घोड़ा मिल जाएगा। उड़नी की चढ़ाई की बात ने कुछ परेशानी पैदा कर दी थी, किंतु पंगी बाबू ने उसे हटा दिया और मैं रात को इत्मीनान से सोया। देर तक दिमाग तरह-तरह के ख्यालों में डूबा रहा। ढिलन साहेब ने बतलाया था - इधर भालू है, वह आदमी को कम किंतु गाय, भेड़, बकरी को मारकर खा जाते हैं। ज्यादातर काले भालू हैं, किंतु ऊपरी कंडों में भूरे भालू भी सुने जाते हैं। मेरी धारणा थी कि सिर्फ धुवकक्षीय सफेद भालू ही मछली खाते हैं जिसे हमारी बंगाली भाई भी जलतरोई कहते हैं, नहीं तो बाकी भालू पक्के वैष्णव होते हैं। यह घोर जंगल है। यहाँ कहीं आस-पास में यह परमशांत जंतु रात को घूमता-फिरता तो नहीं, और यदि कहीं इस बँगलिया की झाँकी करने आ जाए। नचार

जंगल के एक बड़े विभाग का केंद्र है, इसलिए यहाँ इस तरह के दर्जनों क्वार्टर बने हैं, फिर जांबवान हमारे ही कमरे को खासतौर से क्यों पसंद करेंगे? अंत में नींद आ गई, जांबवान् स्वप्न में भी नहीं आये।

19 मई को सवेरे ही उठे। शौच, मुँह धो-धाकर ढिलन साहब के यहाँ चाय पी। स्नान की बात मत पूछिए। सप्ताह में एक बार स्नान मैं यहाँ के लिए पर्याप्त समझता हूँ, नहीं तो हिमालय की पवित्र वायु का माहात्म्य ही क्या रहेगा? बाबू अमीचन्द के साथ नीचे उतरने लगे। नचार से तीन मील वह्.तू के पुल तक उतराई ही उतराई। और उतराई भी कठिन है जो इस वक्त तक बुरी नहीं थी, किंतु लौटते समय चढ़ाई बनकर दाँत खट्टे करने लगेगी। थोड़ा ही उतरने पर अब पहाड़ भी नग्नप्राय, नदी पार तो और भी। डाक बँगला सतलुज के पुल से कुछ ऊपर है और उससे भी पहिले ही खड्ड (नदी) मिली जिसका पानी नचार से चिनी तक रोपवे (तारगाड़ी) होने के समय बिजली बनाने के लिए उपयोगी साबित होगा, यद्यपि हिमपात-क्षेत्र की सारी खड्डें जाड़ों में हिमानी टूटने का मार्ग बन जाती है जिससे बचने के लिए पानी को बगल में ले जाकर वहाँ सुरक्षित जगह में पावरहौस (शक्तिभवन) बनाना होगा।

वाङ्तू बँगले पर कोई घण्टे भर में पहुँचे गए। अब आठ मील और रहते थे। सड़क इंस्पेक्टर बाबू लक्ष्मी मौजूद और घोड़े का मिलना भी निश्चित, इसलिए विश्राम करने के लिए काफी समय था। इंस्पेक्टर साहब ने खाने के लिए कहा, किंतु अभी कल का ही भोजन पच नहीं पाया था। ठण्डा पानी पीना चाहता था और यहाँ के चश्मे के शीतल-मधुर जल को अमृत कहना अत्युक्ति न होगी। बँगले के आस-पास ऊँची-ऊँची जमीन है। उसमें से कुछ को फलों की बगिया और तरकारी की क्यारियों में परिणत किया जा सकता है, किंतु उसके लिए शोक और उत्साह किसे? दो-तीन चूली (खूबानी) के दरख्त थे जो अनाथ से मालूम होते थे।

चार घण्टे के विश्राम के बाद चलने का निश्चय हुआ। बाबू लक्ष्मीनन्द साथ चले और बाबू अमीचन्द लौट गए। थोड़ी उतराई के बाद सतलुज की धार पर वाङ्तू का लोहे का पुल आया। अब तो रामपुर से तिब्बत की सीमा तक सतलुज पर कई लोहे के पुल बन चुके हैं, किंतु अभी पिछली सदी के मध्य में भी उनका अभाव था। उस समय घास के रस्से के झूले हुआ करते थे, चार रस्सों के जोड़े-जोड़े ऊपर-नीचे, उनके दोनों सिरों को रस्सों से नीचे के रस्सों से बाँधा गया होता और फिर नीचे के दोनों रस्सों के बीच पतली पटरियों को रस्सों से फँसा रक्खा जाता था। आदमी के चलने पर यह रस्से हिलते थे। नीचे पैरों तले नदी का खौलता पानी चमकता था। खैर, आदमी तो वानरों की संतान है, बेचारी भेड़-बकरियों के लिए उन पर चलना बहुत कठिन था। वाङ्तू का पुल खूब दृढ़ लोहे का पुल है। यह न हिलता, न नीचे पाताल दिखलाई पड़ता।

पुल समुद्र-तल से 5200 फुट पर है। आस-पास की अपेक्षा इसे गरम स्थान कह सकते हैं। पुल पार हो अब हमें सतलुज के दाहिने तट से चलना था। कुछ ही दूर आगे चलने पर बाईं ओर से भाबा की खड्ड गरजती हुई सतलुज में समा रही थी। इस खड्ड में दो-तीन गाँव हैं और इसके किनारे-किनारे आगे जोत टपकर स्पिती में पहुँचाया जा सकता है। लोग आते-जाते भी रहते हैं, किंतु स्पिती के लिए सड़क यहाँ से नहीं, भारत के अंतिम गाँव नमग्या के पास से निकाली जा सकती है जहाँ स्पिती नदी स्वयं आकर मिलती है। अभी हमें स्पिती से काम नहीं था, तो भी स्पिती को भुलाया नहीं जा सकता। सौ बरस पहिले स्पिती लद्दाख का भाग था - स्पिती वाले भोट भाषा बोलते हैं। लद्दाख को काश्मीर ने ले लिया, स्पिती किसी मालिक की खोज में थी। अंग्रेज़ों की कृपादृष्टि पड़ी, किंतु इलाका छोटा, सर्दी कठोर, आमदनी नहीं के बराबर, उसका शासन कैसे किया जाए? 1864 के आस-पास एक अंग्रेज़ अफसर भेजा गया इस धारणा के साथ, कि शासनयंत्र सबसे सस्ता होना चाहिए। अफसर ने लद्दाख के राजसेवकों में से एक को ब्रिटेन की ओर से शासक नियुक्त करने की सिफारिश की। तब से वही नोनोवंश स्पिती का बेताज का बादशाह है। कभी-कभी कुल्लू का असिस्टेंट कमिश्नर सैर-शिकार के लिए पहुँच जाता, नहीं तो स्पिती वाले अपने भाग्य पर छोड़ दिए गए थे। आज वह भारत के नक्शे के भीतर है, किंतु स्पिती वालों के लिए कोई परिवर्तन नहीं, और, जब तक वह पंजाब के हाथ में है, तब तक कुछ होगा भी नहीं। वस्तुतः काँगड़े के लाहुल-स्पिती वाले तिब्बती-भाषा-भाषी इलाकों की भलाई इसी में है कि उन्हें हिमाचल प्रदेश में मिला दिया जाए और कनोर के हड्.रड्.-जैसे भोट-भाषा-भाषी इलाके की शिक्षा और संस्कृति संबंधी योजना में सम्मिलित होने का अवसर दिया जावे।

भाबा-खड्ड को पुल से पार हो हम आगे बढ़े। आगे सतलुज एक विशाल पर्वत को तिरछे काटकर निकलती है, यद्यपि लाखों वर्ष संघर्ष करके पर्वत ने सतलुज से पराजय स्वीकार की, किंतु समुद्र से आने वाले बादलों के रास्ते को रोकने के लिए वह अब भी काफी सबल है। यहाँ से नीचे तर इलाका है और ऊपर सूखा है। जहाँ नीचे वर्षा डटकर होती है, वहाँ ऊपर 25 इंच और 15 इंच तक रह जाती है। बादलों का दल बड़े वेग से चलता है, किंतु पर्वत-गात्र से टकराकर बहुतों को निष्फल-मनोरथ होना पड़ता है। पतले मार्ग से जो कुछ भीतर घुस पाते हैं, उनमें भी कितने ही आगे सतलुज की भूल-भुलैया छोड़ उसकी परिचारिका बस्पा का रास्ता लेते हैं। इस प्रकार वर्षा के संबंध में बस्पा वाले चिनी से अधिक सौभाग्यशाली है, किंतु साथ ही सूखे जलवायु के फल जितने अच्छे चिनी में होते हैं, उतने बस्पा में नहीं। अंगूर तो बस्पा में वर्षा के मारे फट जाता है, इसलिए लोग उसका बाग नहीं लगाते।

चार मील के करीब रास्ता सतलुज के पास-पास से चला और बहुत कुछ समतल-सा समझिए। नदी पार छोलटू का जंगलीय डाकबँगला दिखाई पड़ा। ढिलन साहेब ने सिफारिश की थी, रात वहाँ बिताने की। वह गरम स्थान है, इसलिए साग, तरकारियों और फल भी चिनी से और नचार से भी काफी पहिले तैयार हो जाते हैं। बँगले के घेरे में तरकारियों की क्यारियाँ भी दिखाई देती थीं, किंतु कौन सड़क छोड़ पुल पार हो वहाँ जाए। अंत में हम टापरी (कुटिया) पर पहुँचे। यहाँ डाक ढोने वाले ठहरा करते हैं, दूसरे भी आवश्यकता पड़ने पर ठहर सकते हैं। तीन-चार कोठरियाँ हैं। वाङ्तू के इस पार वर्षा की कमी से जंगल की उतनी इफरात नहीं है। देवदारु भी यहाँ के उतने ऊँचे नहीं होते और बहुत रक्षा की अपेक्षा रखते हैं। तो भी काष्ठ दुर्लभ नहीं है, इसलिए टापरी बनाने में काठ की साखर्ची से काम लिया गया है। टापरी पहुंचने से पहिले ही इंस्पेक्टर सड़क में लगे अपने काम को देखने लगे और साईस के साथ मैं घोड़ी पर आगे चला। घोड़ी पतली-दुबली-सी मालूम हुई। डर लगने लगा, कहीं चढ़ाई में धोखा न दे। टापरी में साईस ने चिलम भरी। चौकीदार कनेत (राजपूत) था, इसलिए कोली उससे दूर से आग लेकर अलग ही चिलम पीने लगा। मैंने 26 महीने बाद सिगरेट का व्रत लंदन में तोड़ा था और फिर 6 महीने के बाद मध्य फरवरी से उसके पास नहीं फटकता था। सिगरेट अतिथि-सेवा का बहुत उपयोगी उपकरण है, किंतु जो स्वयं नहीं पीता, वह सेवा करने के लिए ढोये उसे नहीं फिर सकता। यदि पीता होता, तो गन्दी टापरी में साईस के चिलम पीने के लिए रुकना नहीं पड़ता। मुझे कुछ-प्यास लग आई थी, किंतु मटमैले पानी का रंग देखते वह भाग गई।

अब यहाँ से प्रायः 3 मील चढ़ाई ही चढ़ाई थी। उड़नी म 7500 फुट पर पहुँचना था। सड़क घूम-घुमौआ थी जिसके किनारे खेत भी आने लगे। यह चगाँव के खेत थे जिसके पग्रामड्. राजग्राम और ठोलड्. कई नाम है। यहाँ कहीं चाँदी की खान बतलाई जाती है, किंतु न जाने किस युग से देवता ने बंद कर रखा है। कुछ सफेद-सा पत्थर मेरे पास पीछे लाया गया, किंतु उसमें भारीपन नहीं, यदि चाँदी होगी भी तो बहुत कम। पग्रामड्. खुद किन्नर देश के सात खुंदों (इलाकों) में एक है, राजग्राम इसे इसीलिए कहा गया कि पहिले यहाँ कोई राजा या ठाकुर रहता था। चगाँव चार गाँव का संक्षेप बतलाया जाता है। खेत वैसे बहुत दूर तक फैले हुए हैं, किंतु पानी उनके लिए पर्याप्त नहीं है। पानी सारे ऊपरी किन्नर देश की समस्या है जिसे हल करने के लिए बड़ी योजना और लाखों रुपयों की आवश्यकता है जो दसगुना, बीसगुना होकर लौट आयेगा, इसमें संदेह नहीं, किंतु ऐसी बहुधन-साध्य योजनाओं को हिमालय प्रदेश कैसे पूरा कर सकेगा, जबकि उसके शरीर के बड़े भाग को काटकर उसे 10 लाख की आबादी का एक जिला रखा दिया गया है।

घोड़ी दुबली-पतली जरूर थी, किंतु उसके बारे में मेरी शंका निर्मूल साबित हुई। वह धीरे-धीरे, किंतु दृढ़तापूर्वक ऊपर चढ़ती गई और शाम से बहुत पहिले 125वें मील पर उड़नी के डाकबँगले पर पहुँच गई। दौलतराम वाङ्तू में रुके नहीं थे, इसलिए वह पहिले ही वहाँ पहुंचे चुके थे। पी.डब्लू.डी. का डाक बँगला, दो अच्छे कमरे, सब तरह का आराम। पास तो जंगलात का था, किंतु ठहरे बिना चारा न था। सवेरे की चाय और वाङ्तू की एक गिलास लस्सी के बाद अब यहाँ भूख लग आये, तो आश्चर्य क्या? किंतु वहाँ तैयार भोजन कहाँ था। मीठे बिस्कुट से परहेज़ और फीके से प्रेम नहीं। दो चैम्मच लूकस फाँकने से क्या काम चलता? मेवों के देश आ गए थे। अंगूर की लता थी। यद्यपि फलों के पकने में अभी देर थी, किंतु सोचा कोई सूखा फल मिल जाएगा। ढूंढ़ने पर मेट ने न्योजा (चिलगोजा) लाकर दिया। न्योजा का वृक्ष देवदार जाति का है, किंतु उसकी छाल सूखकर लिपटी रहने की जगह साँप की तरह बराबर केंचुल छोड़ती रहती है जिससे उसका तना और शाखाएँ सफेद या हरी-सी बनी रहती है। इन पर ही मोरकुकुट या बड़े कमलगट्टे-सा नोकदार पाँच-छह अंगुल बड़ा फल लगता है। पक जाने पर फलों में से कमलगट्टे की तरह भीतर से पतले और लम्बे-लम्बे छिलकेदार दाने निकलते हैं। इन्हें भून लिया जाता है और छिलका निकालकर खाया जाता है। न्योजा में बादाम की तरह तेल भरा रहता है, खाने में भी अच्छा लगता है। किन्नर के गरीबों का यह एक बड़ा आधार है, यह कह तो सकते हैं, किंतु अब महँगा होने से लोग इसे बेच डालने का अधिक ध्यान रखते हैं। न्योजा के वृक्ष हिमालय में सिर्फ इसी जगह होते हैं, पेशावर के उत्तर के पहाड़ों में न्योजा की दूसरी उद्गम-भूमि है। मान्य अतिथि के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते लोग ऊर्णासूत्र में गुंथी न्योजा की माला गले में डालते हैं। न्योजा के गुण तो बहुत हैं, किंतु उसके फलों को चुनने में आज तक न जाने कितने हजार आदमियों ने जान गँवाई होगी। वह बाग के वृक्ष नहीं, दूरारोह पर्वतों के स्वयंभू पादप हैं और आदमी चाहता है, किसी वृक्ष का फल छूटने न पाये। मेट ने न्योजा दिया। छीलकर खाया, चना छीलकर खाने जैसा समझिए, किंतु वहाँ दूसरा काम क्या था? बँगले के चौकीदार का कहीं पता न था, आखिर वह गाँव का रहने वाला था, उसके और भी घर के काम थे। मेट ने चाय ही नहीं, रोटी भी बनाकर खिलाई। यहाँ दोनों खच्चरों पर छह रुपये घास के लगे, और आटा सवा रुपया सेर।

एक मिडिल तक पढ़े तरुण ने स्कूल और डाकखाना के अभाव की शिकायत की। दस मील की चढ़ाई-उतराई करके लड़के नदी पार किल्बा में पढ़ने नहीं जा सकते, चिनी और नचार और भी दूर है। मैंने लड़के को इसके लिए आवेदन-पत्र लिखवा दिया। हिमाचल प्रदेश में स्कूल और डाक को बहुत फैलाने की जरूरत है।

13. रांगेय राघव और 'अदम्य जीवन'

जीवन-परिचय

रांगेय राघव का जन्म राजस्थान के एक कस्बा बरौली में 17 जनवरी 1923 को हुआ था। उनके पूर्वज दक्षिण भारत से वहाँ आये थे। उनके पिता श्री रंगाचार्य तमिल और संस्कृत के विद्वान थे। वे काव्य और काव्यशास्त्र में गहरी अभिरुचि रखने वाले व्यक्ति थे। रांगेय राघव का वास्तविक नाम तिरुमल्ले नाम्बकम वीर राघवाचार्य था।

रांगेय राघव की ज्यादातर पढाई आगरा में हुई थी। उन्होंने विक्टोरिया स्कूल आगरा से अपनी शिक्षा शुरू की। सेंट जॉन कालेज से अंग्रेजी के साथ दर्शन और अर्थशास्त्र लेकर स्नातक की परीक्षा उतीर्ण की। सन् 1943 में उन्होंने हिंदी से एम.ए. किया। 1948 में उन्होंने 'भारतीय मध्ययुग के संधिकाल का अध्ययन : गोरखनाथ और उनका युग' विषय पर प्रो. हरिहरनाथ टंडन के निर्देशन में शोधकार्य संपन्न किया। विश्वविद्यालय की उच्चतम शिक्षा प्राप्त करके भी उन्होंने अध्यापन का कार्य नहीं किया। स्वतंत्र लेखन का पेशा ही उन्होंने अपनाया। उनकी एकमात्र आकांक्षा अपने को लेखक के रूप में प्रतिष्ठित करने की थी।

सन् 1956 में उनका विवाह सुलोचना के साथ हुआ। उन्होंने सुलोचना को पढ़ाया और उसे आत्म निर्भर बनाने का प्रयास किया। 1960 में रांगेय राघव सपरिवार जयपुर आ गए। वहाँ उनके गर्दन पर फोड़ा हो गया जिसके इलाज के लिए वे बीच-बीच में आगरा जाते रहे। बाद में डॉक्टर इसी नतीजे पर पहुँचे कि उन्हें रक्त कैंसर है। बंबई के टाटा इंस्टीट्यूट में 12 सितम्बर 1962 को उनका निधन हो गया। मात्र 39 वर्ष की अवस्था में उनका स्वर्गवास हो गया था।

साहित्यिक योगदान

अल्पायु में निधन हो जाने के बावजूद रांगेय राघव ने विपुल मात्रा में साहित्य रचना की। रांगेय राघव की सृजन यात्रा चित्रकला से प्रारंभ हुई थी। साहित्य में उनकी ऊर्जा का प्रथम विस्फोट गीतकार के रूप में हुआ। वस्तुतः कविता के प्रति उनमें गहरा आकर्षण था। संभवतः उनकी महत्वाकांक्षा भी एक कवि के रूप में ही अपने को प्रतिष्ठित करने की थी। उनके द्वारा रचा गया काव्य 'अजेय खंडहर' नात्सी आक्रमण के विरोध में

सोवियत जनता के संघर्षपूर्ण प्रतिरोध की महागाथा है। 'अजेय खंडहर' के बाद 'पिघलते पत्थर' उनकी महत्वपूर्ण रचना है। 'माधवी' (1947) को उन्होंने जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' की शैली में लिखा था। इस काव्य में रांगेय राघव ने मानव विकास की वैज्ञानिक अवधारणा को प्रस्तुत करने की कोशिश की है। 'माधवी' आदिम साम्यवादी समाज से समाजवादी समाज तक की विकास यात्रा का संकेत दे पाने की दृष्टि से सफल रही है। 'राह के दीपक' का रचनाकाल 1948 है। 'पांचाली' (1955) में वे स्त्री अस्मिता को एक नये कोण से देखने की कोशिश करते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने 1956 में 'रूपछाया' की रचना की।

रांगेय राघव की सबसे ज्यादा चर्चा उनके उपन्यासों और कहानियों के कारण हुई है। उनका पहला उपन्यास 'घरौंदा' (1946) था। अपने उपन्यासों में रांगेय राघव ने समाज की अनेक समस्याओं को चित्रित किया है। उनके प्रमुख उपन्यास निम्नलिखित हैं : 'मुर्दो का टीला' (1948), 'सीधा सादा रास्ता' (1951), 'हुजूर' (1951), 'प्रतिदान' (1952), 'अंधेरे के जुगनू (1953), काफी (1953), 'उबाल' (1954), 'यशोधरा जीत गयी' (1954), 'लोई का ताना' (1954), 'रत्ना की बात' (1954), 'भारती का सपूत (1954), 'आँधी की नींवे (1955), 'अंधेरे की भूख (1955), 'बोलते खंडहर' (1955), 'कब तक पुकारूँ' (1957), 'पक्षी और आकाश' (1957), 'बौने और घायल फूल' (1957), 'लखिया की आँख' (1957), 'राई और पर्वत' (1958), 'बंदूक और बीन' (1958), 'धूनी का धुआँ (1959), 'छोटी सी बात' (1959), 'पथ का पाप (1959), 'मेरी भवबाधा हरो' (1959), 'धरती मेरा घर' (1960), 'आग की प्यास' (1961), 'कल्पना' (1961), 'प्रोफेसर (1961), 'दायरे' (1961), 'पतझर' (1961) तथा 'आखिरी आवाज़' (1962)।

रांगेय राघव के ऐतिहासिक उपन्यासो की विशेषता यह है कि वे उनके माध्यम से अतीत की मार्क्सवादी व्याख्या प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं। वे अतीत की घटनाओं की व्याख्या तत्कालीन सामाजिक संदर्भ में करते हैं। वे अपने जीवन दर्शन को विशाल सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर देखते हैं।

रांगेय राघव की कहानियों में समकालीन सामाजिक, राजनीतिक हलचल मौजूद है। पाँचवें दशक में भारत छोड़ो आंदोलन, बंगाल का अकाल, मज़दूरों की देशव्यापी हड़तालें, सरकारी दमन, सांप्रदायिक तनाव और देश विभाजन आदि की घटनाएँ घटी। इस समूचे दौर में रांगेय राघव ऐसे कथाकार के रूप में सामने आते हैं, जो अंतर्वस्तु की मौलिकता के साथ-साथ शैलीगत प्रयोग बहुलता के कारण कहानी के उपलब्ध चौखटे को झकझोरते और तोड़ते दिखाई देते हैं। सभ्यता के संपूर्ण विकास को आकलित कर सकने के लिए उन्होंने गाथाओं को अपना आधार बनाया। उनकी कहानी में गहरे स्तर पर नाटकीयता है। रांगेय राघव के कहानी संग्रह निम्नलिखित हैं : 'साम्राज्य का वैभव'

(1947), 'देवदासी' (1947), 'समुद्र के फेन' (1947), 'अधूरी मूरत' (1949), 'जीवन के दाने' (1949), 'अंगारे न बुझे (1951), 'एय्याश मुर्दे (1953), 'इंसान पैदा हुआ' (1957) 'पाँच गधे' (1960) तथा 'एक छोड़ एक' (1963)। इसके अतरिक्त उन्होंने दो गाथाओं की रचना की : 'महायात्रा : भाग-1' (अंधेरा रास्ता) (1960) और 'महायात्रा : भाग-2' (रैन और चंदा) (1964)।

रांगये राघव ने नाटक भी लिखे। उनके द्वारा लिखित तीन नाटक निम्नलिखित हैं : 'स्वर्गभूमि का यात्री' (1951), 'रामानुज' (1952) और 'विरूदक' (1955)। उनके नाटक रंगमंच की दृष्टि से सफल नहीं थे।

रांगेय राघव सिर्फ रचनाकार नहीं थे। रचनात्मक लेखन के साथ-साथ विचार और शोध के क्षेत्र में भी उनकी रुचि वैविध्यपूर्ण थी। हिंदी के प्रगतिशील आंदोलन में वे सक्रिय रूप से शामिल थे। लेकिन उनकी राजनीतिक समझ न तो यांत्रिक थी और न ही संकीर्णतावाद से ग्रस्त थी। वे मानवीय संवेदना को सबसे ऊपर स्थान देते थे और इसीलिए वे हर तरह की जड़बद्धता और रूढ़िवाद के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। उनके रचनात्मक लेखन को ही नहीं आलोचना लेखन को भी इसी नज़रिए से देखने की ज़रूरत है। उनकी प्रमुख, आलोचना पुस्तकें निम्नलिखित हैं : भारतीय संत परंपरा और समाज (1949), संगम और संघर्ष (1953), भारतीय परंपरा और इतिहास (1953), प्रगतिशील साहित्य के मानदंड (1954), समीक्षा और आदर्श (1955), काव्य : यथार्थ और प्रगति (1955), काव्य कला और शास्त्र (1955), आधुनिक हंदी कविता में प्रेम और श्रृंगार (1961), आधुनिक हिंदी कविता में विषय और शैली (1962), और गोरखनाथ और उनका युग (1963)।

रांगेय राघव के लेखन के महत्व को पूरी तरह नहीं समझा जा सकता जब तक कि हम उनके द्वारा लिखे रिपोर्ताज का उल्लेख नहीं करते। 1942-44 के आसपास बंगाल में पड़े भयावह दुर्भिक्ष के समय उन्होंने एक चिकित्सा दल के साथ यात्रा की थी और वहाँ के हालात पर रिपोर्ताज लिखे थे जो 1946 में 'तूफानों के बीच' के नाम से प्रकाशित हुए। इनको पढ़ने के बाद किसी भी पत्थर दिल व्यक्ति का हृदय भी पसीजे बिना नहीं रह सकता। रांगेय राघव ने सोफोक्लीज, शेक्सपीयर, गाल्सवर्दी जैसे महान् रचनाकारों के नाटकों का हिंदी में रूपांतरण भी प्रस्तुत किया और इस तरह हिंदी के कोष को समृद्ध किया।

रचना के बारे में

'तूफानों के बीच' बंगाल के अकाल के विषय में लिखे हुए रिपोर्ताजों का संग्रह है। 1942-44 के दौरान पड़े इस आकाल में लाखों लोग भुखमरी की वजह से मर गए। इस रिपोर्ताज संग्रह का प्रकाशन पहली बार 1946 में हुआ था। बंगाल के इसी अकाल से

प्रभावित होकर प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो0 अमर्त्य सेन ने अर्थशास्त्र को सामाजिक कल्याण से जोड़कर देखने का सिद्धांत प्रस्तुत किया जिस पर उन्होंने नोबेल पुरस्कार प्राप्त किया।

बंगाल के भीषण अकाल में आगरा से प्रगतिशील लेखक संघ के तत्वावधान में डॉ. कुण्ठे के नेतृत्व में डॉक्टरों का एक दल पूर्वी बंगाल भेजा गया था। रांगेय राघव की उम्र उस समय उन्नीस वर्ष की थी और वे विद्यार्थी ही थे। वे इस दल के साथ रिपोर्टर की हैसियत से भेजे गए थे। पूर्वी बंगाल में भयानक विनाश का जो दृश्य उन्होंने देखा, उसे उन्होंने बहुत संवेदनशील ढंग से 'तूफानों के बीच' के रिपोर्ताजों में अंकित किया है। 'अदम्य जीवन' नामक रिपोर्ताज जो आपके पाठ्यक्रम में शामिल है, इसी पुस्तक से लिया गया है।

इन रिपोर्ताजों की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि लेखक के आगे इस बात को लेकर कोई भ्रम नहीं है कि यह अकाल प्राकृतिक आपदा नहीं था, साम्राज्यवादी उत्पीड़न का एक हिस्सा था। बंगाल की इस भुखमरी को वे इस देश की परतंत्रता से जोड़कर देखते हैं। जनता की महान शक्ति और नये साहस पर उन्हें गहरा विश्वास है। औपनिवेशिक शक्तियों ने बंगाल का बार-बार शोषण किया। लेकिन वे जनता के साहस और विश्वास को तोड़ने में नाकामयाब रहे। बंगाल के लोगों में प्रतिरोध की क्षमता अधिक थी। उनमें अपनी धरती के प्रति गहरा लगाव था। इसीलिए वे बड़े से बड़े कष्टों को झेल जाने की क्षमता रखते हैं। व्यवस्था की अमानवीयता के कारण एक पूरा प्रदेश कृत्रिम अकाल की चपेट में आ गया था। इस रिपोर्ताज का सबसे बड़ा महत्व लेखक की अदम्य मानवीय शक्ति में आस्था है।

जैसा कि कहा जा चुका है, इस पाठ्यक्रम में 'तूफानों के बीच' का 'अदम्य जीवन' रिपोर्ताज शामिल है। जैसा कि विदित है कि रिपोर्टर के रूप में लेखक चिकित्सक दल के साथ पूर्वी बंगाल के अकाल का जायजा लेने के लिए गया था। प्रारंभ में लेखक अकाल से ग्रसित बंगाल की प्रकृति का वर्णन करता है। फिर गाँव की वीरानी का। दोनों चीज़ की टकराहट एक बड़ी नाटकीय स्थिति पैदा करती है। पुनः लेखक तूफान की चपेट में आये लोगों की गरीबी और बेबसी का मार्मिक वर्णन करता है। वहाँ के लोगों में इस गरीबी में भी कितनी भावनापूर्ण आत्मीयता है इस बिंदु को छूकर लेखक हृदय छू लेता है।

लेखक वहाँ के निवासियों के रहन-सहन और अकाल के कारण उसमें आए परिवर्तनों का लेखा-जोखा लेता है। मृत्यु के बार-बार प्रतिघात ने यहाँ के मनुष्यों को कितना जड़ और संवेदनहीन बना दिया है, इसको बहुत गहराई से लेखक ने महसूस किया है। सत्ता से जुड़ी ताकतें किस तरह राहत के लिए आए धनमाल को बीच में ही हड़प कर जाती है, लेखक ने इसका भी वर्णन किया है। इन भयावह अमानवीय स्थितियों के बीच भी अपनी

मनुष्यता को बचाए रखने की कोशिश करते वे लोग लेखक को यह कहने के लिए मज़बूर करते हैं कि 'मानवता जीवित रहना चाहती थी। उसे कोई मिटा नहीं सकता।'

रांगेय राघव के इस रिपोर्ताज की सबसे बड़ी शक्ति उसकी भाषा है। यह संवेदना की भाषा है। बंगाल के लोगों के दुःख और अभाव को लेखक ने आत्मीय संवेदना के साथ प्रस्तुत किया है। यथार्थ की शक्ति ने भाषा में कहीं-कहीं व्यंग्य पैदा किया है। भाषा में आक्रोश का स्वर भी सुनाई पड़ता है। लेखक ने छोटी-छोटी घटनाओं के वातावरण में अपने अंतर्वेगों द्वारा पाठकों को प्रभावित किया है। इस रिपोर्ताज की शैली फिल्म कला से प्रभावित है। वे हमारे सामने एक के बाद दूसरा दृश्य प्रस्तुत करते हैं। कभी लांग शॉट से, कभी मिडशॉट से तो कभी क्लोज अप के रूप में। एक दृश्य दूसरे दृश्य में डिजाल्व होता है तो कभी फेड इन और फेड आउट का प्रयोग किया गया है। इस शैली ने उनके रिपोर्ताज को जीवंत और गतिशील बना दिया है और शिल्प की दृष्टि से वह उत्कर्ष रचना के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है।

शब्दावली

नीरवता : जहाँ किसी भी तरह की आवाज़ न हो, एक तरह से सन्नाटा।
कालनेमि : रावण का मामा और एक राक्षस था, जिसने स्वर्ग पर अधिकार कर लिया था।
मर्मर : आवाज
अर्गला : वह लकड़ी जिसे किवाड़ बंद करके पीछे से आड़ी लगा देते हैं ताकि दरवाजे को धकेलकर बाहर से न खोला जा सके।
तवज्जह : ध्यान देना
खैराती अस्पताल : ऐसा अस्पताल जो गरीबों के लिए दान के धन से चलाया जाता है।
फासिस्तवाद : यूरोप में दूसरे विश्व युद्ध के दौरान जर्मनी में प्रचलित एक राजनीतिक दर्शन जिसमें नस्लवाद और तानाशाही को आधार बनाया गया था। हिटलर का शासन इसी फासीवाद के दर्शन पर टिका था।

व्याख्या के लिए प्रमुख अंश

1. वास्तव में हमें कोई भी रोता नहीं दिखा। सब मानो अपने-अपने काम में लगे थे। मैंने देखा, डॉक्टर चुपचाप घरों की ओर देख रहा है। बांस के सुंदर-सुंदर झोंपड़ें! सदियों से बंगाल - हम लोगों - पर बार-बार बाहरी हमले हो रहे, मगर आक्रमणकारी कभी भी यहाँ की शस्य-श्यामला पवित्र भूमि को नहीं रौंद सके। यहाँ मनुष्य को इतना समय मिल चुका था कि वह बैठकर आराम से इतने सुंदर और स्वच्छ घर बना सकता। और आज वही घर निर्जनता की अर्गला लगाए मूक खड़े थे! अकाल ने उनपर अपनी जो वीभत्स छाया डाली थी, उसका धुंधलका अभी तक भी मानो कोनों में छिपा बैठा था।

2. मैं देख रहा था, जिनके शरीर में केवल हड्डियाँ ही शेष थीं आज भी उनमें जीवित रहने का साहस था। अकाल आया, बीमारी आई और फिर दूसरे अकाल की गहरी आंधी भी क्षितिज पर सिर उठाने लगी है, किंतु अविचलित हैं यह! किसलिए? इसीलिए न कि वह जनता किसी से भी दब नहीं सकती। एक दिन विजेताओं ने इन्हें कुचला था, आज भी मनुष्य का स्वार्थ और भीषण व्यापार इन्हें निचोड़ रहा है, किंतु यह तो अभी तक अदम्य, अविजेय हैं!

3. उसका यह प्रश्न उसका अपना नहीं था। उसने अनजाने नहीं, जानबूझकर ही उंगली उठाई थी उधर, जिधर मनुष्य को नंगा रखकर मनुष्य ने अपने मुनाफों के लिए बेशुमार कपड़ा तालों में बंद कर रखा था, जहाँ वस्तु मनुष्य के लिए न होकर पैसे के लिए थी। कितना बड़ा व्यंग्य और विद्रूप था यह कि आज कपड़ा बनानेवाले स्वयं नंगे थे!

4. तब तो बंगाल अभी जीवित है! आज भी वह अपना रास्ता खोज निकालना जानता और चाहता है। भूख से व्याकुल होकर भी यह भारत का संस्कृति-जनक सिर झुकाने को तैयार नहीं है। आज भी वह इन सब आंधी-तूफानों को झेलकर फिर से विराट रूप में फूट निकलना चाहता है। सचमुच कोई इनका कुछ नहीं कर सकता। यदि जनता में चेतना है, तो इन्हें भूखों मारनेवाले नर-पिशाच नाज-चोरों का अंत दूर नहीं हैं।

व्याख्या का उदाहरण

गर्व से मेरी छाती फूल उठी। कौन कहता है कि बंगाल मर गया है? जहाँ भूख और बीमारियों से लड़कर भी मनुष्यों के बालकों में क्रांति को चिरजीवी रखने का अपराजित साहस है, वह राष्ट्र कभी भी नहीं मर सकेगा। हड्डी-हड्डी से लड़नेवाले यह योद्धा जीवन की महान शक्ति को अभी तक अपने में जीवित रख सके हैं। संसार कहता है, स्टानिलग्राड में लोग खंडहरों में से लड़े थे और उन्होंने दुश्मन के दांत खट्टे कर दिए। उन्होंने बर्बरता की धारा को रोककर रूस को गुलाम होने से बचा दिया। किंतु मैं पूछता हूँ, क्या शिद्धिरगंज दूसरा स्टालिनग्राड नहीं?

संदर्भ-संकेत

रांगेय राघव का बहुआयामी व्यक्तित्व साहित्य, राजनीति और संस्कृति की व्यापक परिधियों को छूता है। वे अपने युग की घटनाओं के प्रति बड़े ही सतर्क और संवेदनशील सर्जक थे। बंगाल का अकाल मानवीय इतिहास का एक घृणास्पद अध्याय है। इस अकाल में लाखों-लाख लोग मारे गए थे। यह अकाल प्राकृतिक आपदा नहीं था। साम्राज्यवादी

शोषण की नीतियों का खुला तांडव था। लेखक ने गहरी संवेदना के साथ अकाल के बड़े दर्दनाक चित्र अपने रिपोर्ताज में पेश किए हैं।

'तूफानों के बीच' रांगेय राघव का बंगाल के अकाल पर लिखित रिपोर्ताज है। 'अदम्य जीवन' 'तूफानों के बीच' का ही एक रिपोर्ताज है। इसमें मनुष्य के साहस में गहरी आस्था रखने वाले रचनाकार ने उस मानवीय जिजीविषा और संघर्ष की प्रशंसा की है जो हमेशा विभीषिकाओं पर विजयी होती आई है।

व्याख्या-संकेत

बच्चों के मुँह से 'इन्कलाब' जिंदाबाद' के नारों को सुनकर लेखक में आशा जगती है। मनुष्य बीमारी और गरीबी से लड़कर भी अपनी जिंदगी को बेहतर बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। बालकों में क्रांति के लिए अदम्य साहस है। बालक राष्ट्र का भविष्य होता है। भविष्य में यदि क्रांति की पुकार शेष है, तो उस देश का अनिष्ट नहीं हो सकता। उस का उदहारण देकर लेखक अपनी बात को और भी अधिक प्रामाणिक ढंग से रखता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान रूस को अपनी स्वतंत्रता बचाने के लिए बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा था। सोवियत-रूस के लोग अभाव में भी पूरे साहस के साथ लड़े और जर्मनी को उन्होंने अपने देश से खदेड़ डाला। अपने देश की प्रतिष्ठा और सिद्धांत के प्रति निष्ठा के लिए उन्होंने बहुत बड़ी कुर्बानी दी। हिटलर की सेना की बर्बरता को सहकर भी वे राष्ट्र की मर्यादा के लिए प्राणपन से लड़े।

बंगाल के अकाल को देखकर लेखक को स्टालिनग्राद का स्मरण हो आता है। ये दोनों घटनाएँ लगभग समकालीन हैं। स्टालिनग्राद को बचाने के लिए सोवियत जनता फासीवादी शक्तियों का मुकाबला कर रही थीं और बंगाल अपनी तरह से। जान माल के नुकसान दोनों में ही कम नहीं हुए थे। लेखक को यकीन है कि इतिहास जब मूल्यांकन करेगा तो स्टालिनग्राद की रक्षा करने वाले और बंगाल के अकाल में बचे जीवित मनुष्यों के साहस के बीच रत्तीभर अंतर नहीं करेगा। मनुष्य ने भूख और रोग के आगे घुटने नहीं टेके। उन्होंने अपना नैतिक विवेक, साहस और धैर्य नहीं खोया। उनके साहस का गवाह वहाँ की नदियाँ, और कबें हैं। जहाँ गाँव की आबादी मिलने से पहले कब्रों की कतार शुरु हो जाती है।

बंगाल ने हमेशा से साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के क्रूर आघातों को सहा है। फिर भी अपनी संस्कृति के वे प्रखर प्रवक्ता हैं। संस्कृति उनके जीवन का हिस्सा है। उनके जीवन की शैली नहीं बदली। भूख से गुज़र कर भी अपने विचारों को उन्होंने नहीं बदला। वहाँ की जनशक्ति ने दिखला दिया कि जनता की शक्ति सबसे बड़ी शक्ति है। किसी बाह्य संस्कृति के आक्रमण का सबसे भयानक पहलू होता है, जनता में बसी वहाँ की संस्कृति

की स्मृति को नष्ट करना। जहाँ की जनता ने इस बात को समझ लिया, वहाँ हर नाश के बाद निर्माण का कार्य शुरू हो जाता है। पूँजीवाद के नरपिचाश और मुनाफाखोरों के सामने सारे मूल्य केवल तिजौरी में बंद हो गए। इससे ऐसी घातक संस्कृति का जन्म हुआ जिसके सामने मानवीयता का दम घुटने लगा। भूख के मारे बंगाल की बहू बेटियों को इज्जत गंवानी पड़ी। मानवीय संबंध नाम की कोई चीज़ मुनाफाखोरों के सामने टिकी नहीं रहती।

यहाँ के लोगों ने मरकर भी अपनी संस्कृति को बचाया। एक आक्रामक सभ्यता का मुकाबला किया। गुलामी और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शिकंजे में जकड़ा बंगाल एक प्रकार की विवशता का शिकार हुआ। स्वार्थी मनुष्य ने पूंजी कमाने के उद्देश्य से अन्न को इस तरह से गोदाम में भर दिया कि लोगों के पास खाने के लिए कुछ नहीं था। उनकी क्रय शक्ति उतनी नहीं थी कि जिससे वह खरीद कर खा सकें। इसका परिणाम हुआ कि अकाल पड़ा। लोग मरते रहे लेकिन पूंजीपतियों का गोदाम नहीं खुला। इसका वफादार गवाह शिद्धिरगंज की कब्र है। बंगाल की शस्य श्यामला धरती हड्डियों के ढेर से भर गई हैं। लोगों में जीवित साहस की भावना ने इस विभिषिका को झेला और एक उदाहरण स्थापित किया कि जब तक मनुष्य में साहस जीवित है कोई भी आक्रामक व्यवस्था उसका अंत नहीं कर सकती। इस दृष्टि से आप उक्त अंश की व्याख्या अपने शब्दों में कर सकते हैं।

उक्त गद्यांश की भाषा और शैली पर भी टिप्पणी करें।

सहायक पुस्तकें

1. मधुरेश : *रांगेय राघव,* साहित्य आकदमी, नई दिल्ली।

मूलपाठ : रिपोर्ताज़

अदम्य जीवन

हम पगडंडियों से बढ़ते जा रहे थे। सूर्य आकाश में चढ़ने लगा था। कहीं-कहीं कोई किसान किसी पेड़ की छाया में बैठा दीख पड़ता था। सर्वत्र नीरवता छा रही थी। आकाश में बादल तैर रहे थे, जिन्हें देखकर खेतों से एक सोंधी-सी उसांस उमंग उठती थी। दूर हरियाली की लहर तेज चलती हवा की तरंगों पर गूंज-सी उठती थी। हरी-भरी पृथ्वी पर कभी-कभी बादलों के छा जाने से कहीं धूप और कहीं छाया, बरबस हृदय को अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी। किंतु मेरे साथी को जैसे इन सब बातों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। बायां हाथ उठाकर वह कह रहा था - 'वही है शिद्धिरगंज, देख रहे हो न वह ताड़ का पेड़?'

दूर - लगभग मील-भर की दूरी पर - कालनेमि की तरह खड़ा था लम्बा ताड़ का पेड़। जैसे-जैसे हम उस पेड़ की तरफ बढ़ रहे थे, आकाश के बादल लहरों की तरह उस पर केंद्राकार आ-आकर फैल जाते थे। वर्षों से ताड़ का पेड़ वह इसी तरह खड़ा है और वर्षों से उसके हिलते पत्तों ने बादलों की मर्मर सुनी है, किंतु आज उसकी छाया में मनुष्य विक्षुब्ध हैं।

मेरा साथी चुपचाप बढ़ा चला आ रहा था। एकाएक वह ठिठककर खड़ा हो गया। मैं उसके पीछे था। मैंने उसका कन्धा पकड़कर कहा - 'भट्टाचार्यजी, क्या हुआ?'

'कुछ नहीं, गाँव आ गया।'

'गाँव ! पर यहाँ तो कोई बस्ती शुरू ही नहीं हुई।'

साथी की आंखों में निराश मुस्कराहट कांप उठी - 'नहीं क्यों कहते हैं आप? वह देखिए, वह...!' और उसने अपना हाथ सामने की ओर उठा दिया। मिट्टी का एक छोटा-सा ढूह घास में से अपना अनगढ़ सिर निकाले चुपचाप पड़ा था। मैं समझ नहीं सका कि क्या यही गाँव है? मैंने कहा -'यह तो मिट्टी का एक ढूह-मात्र है।'

'इस गाँव की यही तारीफ है। आदमी मिलने से पहले यहाँ कब्रें शुरू हो जाती हैं!'

मैंनक देखा, वह सचमुच कब्र थी। कच्ची मिट्टी, सिर पर कोई साया नहीं, चारों तरफ कोई घेरा नहीं। हम लोग बढ़ चले। प्रतीक्षा की-सी नीरवता में प्रायः हर पाँच-दस कदम पर एक-न-एक कब्र थी। मेरा हृदय कांप उठा।

सामने एक टूटा घर था - भग्न, विध्वस्त, मानो तूफान में उसका वैभव नष्ट हो गया था। और उसके सामने केले के पेड़ों की शीतल और मनोरम छाया में चौदह कब्रें आंखें मूंदे पड़ी थीं। एक लड़का, जो वहीं बैठा एक आम की गुठली का सब-कुछ खा जाने में लगा था, अपने-आप चिल्ला उठा - 'बाबू, एक-एक में दो-दो, तीन-तीन हैं। एक-एक में दो-दो, तीन-तीन।'

और वह फिर गुठली को मुंह मारने लगा। भट्टाचार्यजी पेड़ों की घनी छाया में एक पेड़ से सटकर खड़े विश्राम कर रहे थे। वे कहने लगे - 'बाहर से तुम्हारी तरह ही बहुत-से लोग आते हैं। हम चाहते हैं कि तुम यहाँ की एक-एक कब्र से बात करो और हिंदुस्तान के कोने-कोने में जाकर कहो कि जिस ढाके की मलमल एक दिन शहंशाह पहनते थे, आज वहाँ जुलाहे चूहों की तरह मर रहे हैं। बोलो, सुना सकोगे संसार को यह?'

छोटी-छोटी पगडंडियों से होता हुआ यह स्वर कब्रों से टकराकर गूंज उठा और मानो कब्रों से आवाज़ें आने लगीं। चौदह कब्रें - आंखों के सामने एकबारगी उनमें सोए कंकाल तड़प उठे और नाच उठे यातना से व्याकुल, भूख से तड़प-तड़पकर मरते हुए प्राणियों के चित्र।

राह में एक वृद्ध अपनी चटाई पर बैठा करघा चला रहा था। हम लोग उसी के पास जाकर रुक गए। वृद्ध ने हमारी ओर दृष्टि उठाई। भट्टाचार्यजी ने कहा - 'दादा, आगरे से आए हैं यह, यहाँ का हाल देखने।'

'जियो बेटा, जियो!' वृद्ध ने गद्‌गद स्वर से कहा - यह आगरा कहाँ है?'

'हिंदुस्तान में?'

'हिंदुस्तान से आए हो आओ, बैठो बेटा, आओ।' उसने चटाई की ओर इशारा किया। हम लोग बैठ गए। वृद्ध कहने लगा - 'जो देखने लायक था, वह तो खत्म हो गया। मगर तुम आए हो, तो देखो, आगे जाने क्या हो?' वह क्षण-भर चिंतित-सा दिखाई दिया। फिर भी एकाएक स्वर बदलकर उसने कहा - 'तुम हमारे मेहमान हो, भैया! आराम से बैठो ज़रा। हम भूखे हैं; मगर तुमने जो इतना कष्ट किया है, किसलिए? हमें अपना समझकर ही न? फिर तुम समझते हो, हमें इसका ज्ञान नहीं है?'

मैं चुप बैठा रहा। भट्टाचार्यजी कहने लगे - 'दादा, कष्ट-वष्ट की बात छोड़ो; इन्हें इस गांव के कुछ हालचाल बताओ।'

वृद्ध एक क्षण चुप रहा। फिर बोला - 'हालचाल? वह देखो....!' और उसने एक कब्र की ओर इशारा किया और कहता गया - 'शिद्धिरगंज के हालचाल सुनना चाहते हो?

एक-दो-तीन, गांव के एक छोर से दूसरे छोर तक गिनते चले जाओ। कसम है, अगर तुम किसी को हाय-हाय करते पाओ। नहीं, आज कुछ नहीं है। था एक दिन, जब गांव में रात-दिन रोने-कराहने के सिवा और कुछ भी सुनाई नहीं देता था, मगर अब तो वह सब-कुछ नहीं।'

वास्तव में हमें कोई भी रोता नहीं दिखा। सब मानो अपने-अपने काम में लगे थे। मैंने देखा, डॉक्टर चुपचाप घरों की ओर देख रहा है। बांस के सुंदर-सुंदर झोंपड़ें! सदियों से बंगाल - हम लोगों - पर बार-बार बाहरी हमले हो रहे, मगर आक्रमणकारी कभी भी यहाँ की शस्य-श्यामला पवित्र भूमि को नहीं रौंद सके। यहाँ मनुष्य को इतना समय मिल चुका था कि वह बैठकर आराम से इतने सुंदर और स्वच्छ घर बना सकता। और आज वही घर निर्जनता की अर्गला लगाए मूक खड़े थे! अकाल ने उनपर अपनी जो वीभत्स छाया डाली थी, उसका धुंधलका अभी तक भी मानो कोनों में छिपा बैठा था।

मैं देख रहा था, जिनके शरीर में केवल हड्डियाँ ही शेष थीं आज भी उनमें जीवित रहने का साहस था। अकाल आया, बीमारी आई और फिर दूसरे अकाल की गहरी आंधी भी क्षितिज पर सिर उठाने लगी है, किंतु अविचलित हैं यह! किसलिए? इसीलिए न कि वह जनता किसी से भी दब नहीं सकती। एक दिन विजेताओं ने इन्हें कुचला था, आज भी मनुष्य का स्वार्थ और भीषण व्यापार इन्हें निचोड़ रहा है, किंतु यह तो अभी तक अदम्य, अविजेय हैं!

बूढ़ा फिर कहने लगा। अबके उसका स्वर दृढ़ था - 'इस गांव में आज घरों पर किसकी दृष्टि ठहरेगी, भैया? इधर देखो, वे जो छाया में सो रही हैं चुपचाप, वे मिट्टी की कच्ची कब्रें, गिनकर देख लो, अगर पांच सौ से कम दिखाई पड़ें! और एक-एक में एक ही आदमी दफनाया गया हो, यह भी कोई ज़रूरी बात नही है। यह है हम मुसलमानों की बात। और अगर तुम सुनना चाहते हो कि हिंदू क्यों नहीं मरे, तो जाकर शीतलक्खा की धारा से पूछो कि क्यों तू शिद्धिरगंज के सैकड़ों किसानों को बहा ले गई, जिनकी हड्डियों तक का आज पता नहीं?'

और वह सहसा मुस्करा उठा। मैंने देखा और समझने की चेष्टा की। मृत्यु ने उसे विक्षुब्ध कर दिया था। उसने कहा - 'इस गांव में करीब-करीब हर घर में मौत हो चुकी है। हज़ारों व्यक्ति मर चुके हैं, मगर सब तो नहीं मर सकते थे, और शायद सब नहीं मरेंगे, मगर कौन जाने, आगे क्या होगा?'

इस समय कुछ और लोग भी वहाँ इकट्ठे हो गए थे। रहमत, जो अपने ताने को एक दफा ठोककर उठ आया था, आकर वहीं बैठ गया था। चर्चा चल पड़ी। रहमत कहने लगा - 'हां, काफी लोग मर गए हैं।'

'तुम्हारे घर में कितने आदमी थे?'

'पच्चीस थे, जिनमें बीस मर गए। अब पांच बाकी है।' और उसने अब्दुल के हाथ से हुक्का लेकर धुआं उगलना शुरू कर दिया। बोला - 'यह मिल जाती है, भैया बस!' उसने तम्बाकू की ओर इशारा किया। और मुस्करा उठा। पहले वृद्ध की वह क्षुब्ध आकृति अब कुछ दीन-सी हो गई थी - मानो पहले जो व्यक्तिगत दुःख सजीव होकर चारों ओर हाहाकार कर उठा था, अब सामूहिक रूप में केवल साधारण-सा होकर चक्कर काटने लगा है। कुछ देर बाद रहमत ने एक लम्बी सांस छोड़ी और फिर गंभीर भाव से कहा - 'आने दो, जो-कुछ आएगा, उसे झेलेंगे।'

पगडंडी पर मरियल भुखमरे कुत्ते भूंक उठे, मानो रहमत की बात को समझकर उन्होंने उसका समर्थन किया हो। रहमत ने फिर कहा 'उन दिनों तीस-चालीस आदमी रोज़ मरते थे। अकाल तो खत्म हो गया, मगर बीमारियों ने जो पकड़ा, तो उनसे अभी तक गला नहीं छूटा।'

डॉक्टर ने पूछा - 'क्या-क्या बीमारियाँ हैं यहाँ?'

रहमत बिना सोचे ही रटी हुई-सी बात बतला गया- 'मलेरिया, बसंत (चेचक) और चर्म-रोग।'

मैंने चारों ओर दृष्टि उठाकर देखा। लोगों के गालों को हड्डियाँ उभर आई थीं, आंखों में सूजी-सी ललाई छा रही थी, किसी-किसी के गले में सूजन थी। उन्हें लक्ष्य कर डॉक्टर ने मुझसे कहा - 'करीब-करीब सभी या तो मलेरिया के शिकार रह चुके हैं या अब भी मलेरिया-ग्रस्त है।'

एक चंचल लड़का कहने लगा - 'आपको अकाल की बात कुछ नहीं मालूम। यहाँ चावल किसी भी दाम पर नहीं मिलता था। तीन-साढ़े-तीन सौ आदमी तो इस गांव को छोड़ गए। भुखमरे नहीं, तो....।' और उसकी झंकारती हंसी एकबारगी ठिठुरती-सी फैल गई। उसकी बगल में एक लड़की खड़ी थी, कोई नौ-दस बरस की। यह बीच में ही बोल उठी - 'भूल गया न कि अभी भी कई भुखमरे हैं, जो यहाँ लंगरखाने में खा रहे हैं।'

सहसा रहमत ने कहा - 'अब्दुर्रहमान, आओ, इधर बैठो।'

अब्दुर्रहमान आया ही था कि एक आदमी कह उठा - 'इसके घर में सोलह आदमी थे, जिनमें से यह अकेला बचा है।' अब्दुर्रहमान ने निराश नयनों से हमारी ओर देखकर कहा - 'क्या बताऊँ बाबू, अफसोस सिर्फ यह है कि अब घर भी नहीं रहा। रहमत के यहाँ पड़ा रहकर इन्हें दुःख देता हूँ।'

रहमत हंस पड़ा। वह बोला - 'क्या बात कहते हो, अब्दुर्रहमान? तुम तो एक आए हो, मगर और जो उन्नीस की जगह बाकी है...।' और सब हंस पड़े। इतने में सामने से घूंघट काढ़े एक स्त्री निकली। हठात् पूछ बैठा - 'रहमत, क्या तुम्हारे गांव में स्त्रियों को अपनी इज्जत बेचने पर भी उतारू होना पड़ा था?'

रहमत के मुंह पर एक काली छाया फैल उठी। उसने पल-भर कुछ नहीं कहा। फिर गंभीर स्वर में कुछ सोचकर बोला - 'बाबू, बात तो बुरी है, मगर है सच। कुछ थीं ऐसी, मगर बुरा कहकर भी कितनी बुरी थीं वे, मैं नहीं जानता। कुछ कहते हैं कि जैसे इतने मरे, वे भी मर जातीं, तो हर्ज ही क्या था? पर मैं सोचता हूँ, मर जाना क्या सहज है? कोई क्या अपने-आप मर जाना चाहता है? खैर, जाने दीजिए, इस बात को जाने ही दीजिए।'

अब्दुर्रहमान हर बार कह उठता था - 'क्या करेंगे हम? क्या, बताइए न? उसके स्वर में अथाह निराशा और विवशता गूंज उठती थी।'चावल का भाव अब भी 18 या 19 रुपये मन है। कहाँ से खरीदें हम? गांव में अधिकांश अब भी एक वक्त ही खाते हैं। और चावल खरीदने वाले भी सब ही तो चावल नहीं खाते, कई तो शकरकन्द के सहारे ही जी रहे हैं।'

'इतनी आमदनी नहीं, फिर बताओ', रहमत कहने लगा, 'कोई कैसे खरीदे? अकाल खत्म हुआ ही कब, जो दूसरा शुरू होगा? हमने कच्ची कब्रों में कई लाशों को बिना कफन में गाड़ दिया। आपको शायद मालूम न हो, हम मुसलमानों के यहाँ लाश को कफन में बांधकर गाड़ने का कायदा है। मगर कायदा क्या करे, जब जिन्दों के लिए भी कपड़ा नहीं है, तो मरों की क्या कीमत है बाबू?'

उसका यह प्रश्न उसका अपना नहीं था। उसने अनजाने नहीं, जानबूझकर ही उंगली उठाई थी उधर, जिधर मनुष्य को नंगा रखकर मनुष्य ने अपने मुनाफों के लिए बेशुमार कपड़ा तालों में बंद कर रखा था, जहाँ वस्तु मनुष्य के लिए न होकर पैसे के लिए थी। कितना बड़ा व्यंग्य और विद्रूप था यह कि आज कपड़ा बनानेवाले स्वयं नंगे थे!

हम लोग काफी देर तक बैठ चुके थे। एक लड़का कह उठा, 'चलिए बाबू, गांव देखिए।' और हम लोग उठे। वहाँ एकत्र हुए लोगों में से कुछ ने हमें प्रणाम किया, कुछ ने आशीर्वाद दिया और हम लोग चल दिए।

कहीं-कहीं कब्रें टूट गई थीं। सामने के दो घर बिलकुल टूट गए थे, उनके केवल चबूतरे बाकी थे। सामने एक गाय घास चर रही थी। पेड़ों की छाया में अनेक कब्रें सोयी पड़ी थी। लड़के ने कहा, 'यह है आदू मियां का घर। मर गया बेचारा! उसके घर में

उन्नीस आदमी थे, अब कोई भी नहीं बचा है।' वायु सनसनाती हुई बह गई। आदू मियां यहाँ बैठकर हंसता था, आज उसका कोई पता नहीं। लड़के को घर का एक-एक प्राणी याद था - अभी कल ही की तो बात थी। मगर निर्विकार खड़ा थ। मानवी भावनाएँ कितनी कठोर हो गई थीं! सहसा आगे चलकर वह एक कब्र पर खड़ा होकर कहने लगा, 'बाबू, यह मेरे बाप की कब्र है। बस, मैं इतनी कब्रों में से इसे पहचानता हूँ। वह मुझे बहुत प्यार करता था। सचमुच वह मेरे ही लिए मर गया।' लड़का कुछ ठिठुर गया। मैंने देखा, डॉक्टर चौंक उठा। वह मुझसे बोला, 'यह मुसलमान होकर कब्र पर खड़ा है? हमारे यहाँ तो ऐसे नहीं होता।'

भट्टाचार्यजी मुस्करा उठे। उन्होंने लड़के से वही प्रश्न दुहरा दिया। लड़का क्षण-भर चुप रहा। फिर हंस पड़ा - 'यहाँ तो सब ऐसा ही करते हैं, बाबू! कहीं पैर रखने की भी तो जगह नहीं है। कहाँ तक कोई कब्रों को बचाता हुआ, उनका चक्कर देकर चले? इतनी ताकत है कितनों में?

हम लोग आगे बढ़े। भट्टाचार्यजी एक आदमी से कुछ बातें करने लगे। वह आदमी कह उठा, 'गांव-कमेटी के, यूनियन-बोर्ड के मेम्बर सब चोर हैं, चोर! कोई हमारी परवाह करता है? रिश्तेदारों को कारड देते हैं, अपनों को देते हैं, हमारी क्या पूछ....?' दूसरा आदमी चलते-चलते रुककर कह उठा, 'हममें एका नहीं है, वर्ना क्या मजाल कि वह अपनी मनमानी करें!'

तब तो बंगाल अभी जीवित है! आज भी वह अपना रास्ता खोज निकालना जानता और चाहता है। भूख, से व्याकुल होकर भी यह भारत का संस्कृति-जनक सिर झुकाने को तैयार नहीं है। आज भी वह इन सब आंधी-तूफानों को झेलकर फिर से विराट रूप में फूट निकलना चाहता है। सचमुच कोई इनका कुछ नहीं कर सकता। यदि जनता में चेतना है, तो इन्हें भूखों मारनेवाले नर-पिशाच नाज-चारों का अंत दूर नहीं हैं।

एकाएक लड़का एक झोंपड़े के पास पहुंचकर रुक गया। हमने देखा, भीतर कुछ जुलाहे साड़ियाँ बुन रहे थे। लड़के ने कहा, 'ढाके की साड़ियां प्रसिद्ध हैं न, बाबू! अब यही दो-चार घर रह गए हैं, और कुछ दिन बाद शायद....।' वह कहते-कहते चुप हो गया। जुलाहे काम छोड़कर हमारी ओर देख रहे थे। सामने ही एक औरत बैठी थी। वह विधवा थी। उसके घर के दस आदमी मर चुके थे - और सामने केवल तीन अनगढ़ कब्रें थीं।

अधिकंश घरों की टीनें उखड़ गई थीं। और न जाने कितनों ने भूख से लड़ने के लिए अपनी टीनें बेच दी थीं। भट्टाचार्यजी ने उंगली से दिखाते हुए कहा, 'वह सामने एक भद्रलोक का घर था। उसे भी टीन बेच देनी पड़ी क्योंकि ....!' सहसा वह रुक गए। बात

पलटकर उन्होंने कहा, 'वे जो टीनें दिखाई दे रही हैं उखड़ी-उखड़ी, इसकी वजह यह नहीं कि उसके मालिक उन्हें बेचना नहीं चाहते थे, मगर इसलिए कि उनमें इतनी ताकत ही नहीं रही थी कि उठाकर इन्हें बाजार तक ले भी जाते और यही कारण है कि....।'

मैंने देखा, घर के चबूतरे के बीचोंचीच एक कब्र थी। यह भी एक मनुष्य था, जो अपने घर का वक्षस्थल फाड़कर सो रहा था। फोड़ों की तरह वे कब्रें जगह-जगह सूजी हुई-सी दिखाई दे रही थी।

धूप तेज़ हो चली थी। हम हाट में पहुँच गए थे। मछलियों की बू वातावरण को भेद रही थी। एक बूढ़ा व्याकुल-सा भागा जा रहा था। भट्टाचार्यजी ने बताया, 'उसे उस समय तीव्र ज्वर था, जिसके कारण उसका दिमाग ठीक नहीं था।' हाट के एक कोने मे स्थानीय डॉक्टर की एक डिस्पेंसरी थी, छोटी-सी, गमगीन-सी। डॉक्टर के दिल में यह मुफ्त दवाखाने खोले जाने की बात जमती नहीं थी। आखिर वह फिर क्या खाएगा? हमारे डॉक्टर ने उससे बातचीत की। उसके पास न कुनैन थी, न सिन्कोना, और गांव में हर घर में मलेरिया का रोगी था, बच्चे की तिल्ली और जिगर बढ़े हुए थे।

दवाखाने के एक बेंच पर बेठा एक आदमी कह रहा था - 'हर एक चीज़ चोर-बाजार में है, हर एक चीज़ पर मुनाफाखारी हो रही है, कोई करे तो क्या करे?'

एक औरत, जो पास में खड़ी थी, कहने लगी, 'तुम डॉक्टर हो? पहले क्यों नहीं आए,? जाने कितनी जानें बच जाती! यहाँ एक सरकारी दवाखाना है जिसमें कोई खास दवाई नहीं, मरीजों की कोई खास तवज्जह नहीं। कहाँ, ढाकेश्वरी मिल नं. 2 में तुम्हारा दवाखाना है? अब वहीं आएंगे कल से, चार-पांच मिल तो हैं ही...।'

उस समय उस औरत की बात की अनसुनी करके खैराती अस्पताल का एसिस्टेंट डॉक्टर मुझसे कह रहा था - 'हमने 75 फीसदी आदमियों की हालत सुधार दी है ....।' भट्टाचार्यजी मुस्करा रहे थे। एक ओर हमारे शासक बोल रहे थे, दूसरी ओर वही बात जनता कह रही थी। सामने अनेक जर्जर रोगी खड़े प्रतीक्षा कर रहे थे - बुझी हुई आंखें, उभरी हुई पसलियां और वही भयानक चर्म-रोग!

यहाँ से हम लंगरखानों की ओर चल दिए। लंगरखाने और जगह बंद हो गए हैं, किंतु यहाँ अभी तक खुले हैं। खुले हुए मैदान में, पेड़ों की छाया में, तीन भट्टियाँ खुदी हैं। एक बड़ों का लंगरखाना है, जहाँ खिचड़ी बंटती है। करीब सौ आदमी आज भी उसी पर पलते हैं। मैली-कुचैली औरतों के जमघट में कुछ बैठी चूल्हा फूंक रही थीं। एक औरत ने बताया, कि बच्चों के दो लंगरखाने हैं - एक हिंदू, एक मुसलमान। दोनों में सौ-सौ बच्चे खाते हैं। साढ़े सात सेर खिचड़ी बंटती है और कुछ मछली, बस इतना ही। किसी

तरह लोग जी-भर रहे हैं। भट्टाचार्यजी ने बताया कि फ्रेण्ड्स एम्बूलेन्स यूनिट इन्हें चला रहा है।

मैं और भट्टाचार्य आगे चल पड़े। फिर हम दोनों एक पेड़ के नीचे बैठ गए। भट्टाचार्यजी कहने लगे, 'तुमने देखा, साढ़े सात सेर? सौ में कितना पड़ा?'

सामने भट्ठी में से धुआं निकलकर ऊपर घुमड़ रहा था। आज सारा बंगाल महानाश की आग पर लटका भुन रहा है और चारों ओर से राक्षस मानों उसे चबा जाना चाहते हैं। इतने में डॉक्टर आ गया। उसके साथ एक औरत थी, जो रो रही थी। मुझे बड़ा विस्मय हुआ। यहाँ लोग अभी तक रो सकते हैं! तब तो इनमें हृदय है। वह कह रही थी - 'दवाखान, लेकर अब आए हो? पहले आते, तो मेरे बच्चे तो बच जाते...!' अरे, वह मां थी। उसके छः बच्चे मर गए थे और सिर्फ दो बचे थे।

'मैं अब यही लंगरखाने में काम करती हूं, किसी तरह पेट भर जाता है। भीख नहीं मांगी जाती, बाबू...!' और वह फिर रो पड़ी - 'मेरे बच्चे....!' दिल कड़ा कर हम लोग वहाँ से चल दिए। वह आंखों में आंसू-भरे हमें शत-शत आशीर्वाद देती-सी ज्यों की त्यों खड़ी रही।

खेतों में कब्रें चुपचाप उदास-सी सोई पड़ी थीं, जिन्हें चिथड़ों में लिपटा एक बुड्ढा एक पेड़ की छाया में बैठा विरक्त भाव से देख रहा था। एक टूटी-सी दीवार में तीन आले अब भी खड़े थे, मगर घर नहीं थे। आठों घर विध्वस्त पड़े थे। उनके सामने बराबर-बराबर में तीस कब्रें पड़ी थीं और एक नवयुवक, जो देखने में बूढ़ा लगता था, उनकी ओर देख-देखकर मुस्करा रहा था। वे सब एक दिन जुलाहों के घर थे, पर अकाल के ताने और बीमारियों के बाने ने सहसा उनके जीवन-व्यापार का अंत कर दिया था।

'दिन में नहीं, दिन में नहीं, रात को,' भट्टाचार्यजी कहने लगे, 'गांव में कब्रिस्तान की-सी छायाएँ नाचने लगती हैं। शिद्धिरगंज कभी भी नहीं भूलेगा कि एक दिन आदमी के बनाए अकाल ने उसका सत्यानाश कर दिया था। जो आदमी अपनी हड्डियों से - दधीचि की हड्डियों से यह अमर कथा लिख गए हैं, बंगाल उनकी ज्वलन्त स्मृति को कभी नहीं भुलाएगा।'

मेरे मुंह से हठात् निकल गया - 'उसे हिंदुस्तान कभी नहीं भुलाएगा भट्टाचार्य जी, मानवता उसे कभी नहीं भुला सकेगी।'

डॉक्टर आगे-आगे चल रहा था। हम लोग लौट रहे थे। नदी की पतली धारा में कुछ नंगे लड़के नहा रहे थे, जिनकी पतली हड्डियों से टकराकर छोटी-छोटी लहरें मानो

निराश-उदास लौट जाती थी। उन्होंने हमें देखा और समवेत स्वर से चिल्ला उठे - 'इन्कलाब ज़िंदाबाद! इन्कलाब ज़िंदाबाद!!'

गर्व से मेरी छाती फूल उठी। कौन कहता है कि बंगाल मर गया है? जहाँ भूख और बीमारियों से लड़कर भी मनुष्यों के बालकों में क्रांति को चिरजीवी रखने का अपराजित साहस है, वह राष्ट्र कभी भी नहीं मर सकेगा। हड्डी-हड्डी से लड़नेवाले यह योद्धा जीवन की महान शक्ति को अभी तक अपने में जीवित रख सके हैं। संसार कहता है, स्टानिलग्राड में लोग खंडहरों में से लड़े थे और उन्होंने दुश्मन के दांत खट्टे कर दिए। उन्होंने बर्बरता की धारा को रोककर रूस को गुलाम होने से बचा दिया। किंतु मैं पूछता हूँ, क्या शिद्धिरगंज दूसरा स्टालिनग्राड नहीं? मनुष्य भूख से तड़प-तड़पकर यहाँ जान दे चुके हैं, वे भीषण रोगों का शिकार हो चुके हैं, उनके घर खंडहर हो गए हैं, कब्रों से ज़मीन ढंक गयी है, नदियों में लाशों की सड़ांध एक दिन दूर-दर तक फैल गई थी, किंतु मनुष्य का साहस जीवित है। आज भी बंगाल के बच्चे क्रांति को नहीं भूले हैं। क्या इन योद्धाओं ने भारतीय संस्कृति की जड़ों पर होने वाले आघात को सहकर आज संसार को यह नहीं दिखला दिया कि जनशक्ति कभी पराजित नहीं हो सकती, वह कभी मर नहीं सकती? जब फासिस्तवाद से भी बबर्र नर-पिशाच मुनाफाखोरों ने नाज पर बैठकर जहर उगला, कपड़ा-चोरों ने उनकी बहू-बेटियों को निर्लज्ज होने दिया, तब भी क्या इन्होंने सिर झुकाया? नहीं, ये वीरों की तरह लड़े हैं। आज शिद्धिरगंज की पृथ्वी शहीदों के मजारों से ढंक गयी है। युग-युग तक संसार को याद रखना पड़ेगा कि एक दिन मनुष्य के स्वार्थ और असाम्य के कारण, गुलामी और साम्राज्यवादी शासन के कारण, बंगाल जैसी शस्य-श्यामला भूमि में भी मनुष्य को भूख से दम तोड़ना पड़ा था? और लोगों ने उसे पूरी शक्ति से इसलिए झेला था कि मानवता जीवित रहना चाहती थी। उसे कोई मिटा नहीं सकता।

आज अकाल का वह पहला भीषण स्वरूप समाप्त हो चुका है। किंतु रोगों की वर्षा-आंधी के बाद प्रलय उमड़ा रही है। और इस समय भी लोग कहते हैं - बंगाल का अकाल समाप्त हो चुका है! पर आज यह कुछ नहीं तो भी महामरण का भीषण नृत्य है। जब हम लोग शिद्धिरगंज से लौट रहे थे, शीतलता की प्रशांत धारा में नहाता हुआ एक आदमी गा रहा था -

'सोनार बांगला होलो शोंशान, एक साथे सबे चल।'

उसका यह स्वर दूर-दूर तक लहरों पर फैल उठता था।

14. श्रीकांत वर्मा और 'ऑक्टेवियो पॉज़'

जीवन परिचय

छतीसगढ़ के अंचल में बिलासपुर जैसे कस्बाई शहर में श्रीकांत वर्मा का जन्म 18 सितम्बर 1931 ई. को हुआ था। श्रीकांत वर्मा के जीवन और लेखन दोनों धरातलों पर एक प्रकार की कस्बाई देशजता मौजूद रही है। उनके व्यक्तित्व में गहरी कस्बाई संवेदना थी। यद्यपि वे जीवन भर इसे तोड़ने की कोशिश में छटपटाते रहे। श्रीकांत वर्मा के ताऊ नंदकिशोर वर्मा बिलासपुर की एक मशहूर जमींदारी केंदा के दीवान थे। केंदा के घने जंगलों का परिवेश श्रीकांत के बाल मन पर छाया रहा। शायद इसीलिए उनके लेखन में पहाड़, जंगल, तालाब, नदियों की स्मृतियाँ बराबर आती हैं। वे बचपन से ही तुनुकमिजाज थे, उनमें गहरी संवेदनशीलता और एक खास तरह का अकेलापन था। ज़िससे रिसता हुआ अवसाद उनके व्यक्तित्व में भरा हुआ है।

उनके पिता राजकिशोर वर्मा पेशे से वकील थे। वे स्वाधीनता आंदोलन में गांधीजी के आह्वान पर जेल गये थे। एक सम्पन्न परिवार में पैदा होने के बावजूद श्रीकांत को किशारे होते-होते कठिन दिन देखने पड़े। परिवार में बड़े होने के नाते घर की जिम्मेदारी उन पर आ पड़ी। जहाँ तक स्कूली शिक्षा की बात है, श्रीकांत के मन में शुरू से ही दिलचस्पी का अभाव रहा। यद्यपि प्रारंभिक शिक्षा के लिए बिलासपुर के अंग्रेजी स्कूल में उनका दाखिला हुआ। लेकिन वहाँ का परिवेश उन्हें रास नहीं आया। वहाँ से निकलकर उन्होंने नगर पालिका के स्कूल में शिक्षा प्राप्त की। वहीं से उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा पास की। 1940 में आगे की शिक्षा के लिए इलाहाबाद भेजे गए। जहाँ उन्होंने क्रिश्चियन कालेज में दाखिला लिया। लेकिन वे अपने घर से दूर नहीं रह पाए। जल्दी ही बिलासपुर लौट आए। और वहीं के कॉलेज से बी.ए.तक की शिक्षा प्राप्त की। सन् 1952 तक वे बेकारी की हालत में रहे। घर की आर्थिक स्थिति खराब थी। इसी बीच उन्होंने स्कूल शिक्षक की नौकरी कर ली। प्राइवेट छात्र के रूप में उन्होंने नागपुर विश्वविद्यालय से एम.ए. किया। 1954 में उनकी भेंट हिंदी के महान् प्रगतिशील कवि मुक्तिबोध से हुई। मुक्तिबोध की प्रेरणा से बिलासपुर में नवलेखन की पत्रिका 'नयी दिशा' का संपादन किया। सन् 1956 में नरेश मेहता के साथ 'कृति' पत्रिका का भी संपादन किया। 1956 से लेकर 1963 तक का समय संघर्ष का काल श्रीकांतजी के लिए था। इसी समय

रायपुर से लोकसभा की सांसद मिनी माता ने उन्हें बुला लिया और अपने सरकारी आवास में रहने को जगह दी जहाँ वे ग्यारह साल तक रहे। श्रीकांत वर्मा दिल्ली में पत्रकारिता के व्यवसाय से जुड़े रहे। 'टाइम्स ऑफ इंडिया' प्रकाशन समूह से निकलने वाली प्रख्यात साप्ताहिक पत्रिका 'दिनमान' से वे लंबे समय तक जुड़े रहे। बाद में वे जब कांग्रेस की राजनीति में सक्रिय हो गए तो 'दिनमान' से उन्हें अलग होना पड़ा। पत्रकारिता और राजनीति ने उन्हें समय-समय पर देश-विदेश की यात्रा करने का अवसर भी दिया। जिसका पूरा लाभ उठाते हुए उन्होंने अपने समय के कई महान् लेखकों-बुद्धिजीवियों से मुलाकात की।

इसी दौरान उनकी वैचारिक मुठभेड़ प्रगतिवादियों, प्रगतिवाद विरोधियों, कलावादियों और आधुनिकतावादियों से चलती रही। प्रारंभ में मुक्तिबोध के प्रभाव से उनका मार्क्सवाद की ओर झुकाव था लेकिन हंगरी की घटनाओं के कारण मार्क्सवाद से उनका मोहभंग हो गया। लेकिन उनको प्रगतिविरोधी नहीं कहा जा सकता। उन पर डॉ. राम मनोहर लोहिया के समाजवादी चिंतन का गहरा प्रभाव था। 1969 में वे श्रीमती इंदिरा गांधी के काफी करीब आये। उनका यह मानना था कि साहित्य एक सीमा तक ही समाज को प्रभावित कर पाता है। उसे बदलने का माध्यम राजनीति ही हो सकती है। वे नेहरू के आधुनिक समाज बनाने के विचारों से सहमत थे और विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के विकास का समर्थन करते थे।

जीवन के अंतिम क्षणों में उनका कांग्रेस की राजनीति से भी मोहभंग हो चुका था। उन्होंने स्वीकार किया कि वहाँ मूल्य नहीं मूल्यों का क्षरण था। वे कांग्रेस के महासचिव थे। 1980 में कांग्रेस प्रचार समीति के अध्यक्ष थे। वे राज्यसभा के सदस्य भी रहे। 1985 में राजीव गांधी के काल में उन्हें महासचिव के पद से हटा दिया गया। जीवन की आखिरी दौर में वे पर वर्तमान राजनीति और व्यवस्था से ऊब चुके थे। अमेरिका में वे अपने कैंसर का इलाज कराने के लिए गए। 26 मई 1986 को न्यूयार्क में उनका निधन हो गया। अपने जीवनकाल में उन्हें कई पुरस्कारों से सम्मानित किया जिसमें 'मगध' काव्य संग्रह पर साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा मध्य प्रदेश का शिखर सम्मान भी शामिल हैं।

साहित्यिक योगदान

श्रीकांत वर्मा मुक्तिबोध की बाद की पीढ़ी के प्रतिनिधि कवि हैं। साठ के बाद की कविता का मिज़ाज़ उनकी काव्यकृतियों में पहचाना जा सकता है। बेचैनी और तनाव उनकी कविता का प्रमुख गुण है। उनकी कविता में नाराजगी, असहमति और विरोध का स्वर मौजूद है। श्रीकांतजी की कविता को तीन दौर में विभाजित करके देखा जा सकता है। उनका पहला दौर 1948 से लेकर 1959 तक का है। दूसरा दौर 1960 से लेकर 1973 तक का। यह वह दौर है जिसमें उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक विसंगति का खुलासा

किया है। 'तीसरे और अंतिम दौर की कविता वह है जिसे 1979 से 1986 के दौरान रचा गया। काव्य विकास के इन तीन चरणों का विभाजन उनकी काव्य चेतना में आये बदलावों के आधार पर देखना चाहिए। आरंभ की कविताओं में श्रीकांत में रोमांटिक आवेग है। अपनी वास्तविक काव्य भूमि की खोज की बेचैनी उनकी कविताओं में देखी जा सकती है। सातवें दशक के राजनीतिक और सामाजिक यथार्थ ने कविता की दिशा को पलट दिया। इस काल में नयी कविता के अभिजात्य का मिथ दूर हो गया था। अपने समय और समाज के भयानक यथार्थ को व्यक्त करने के लिए श्रीकांत को नयी काव्यभूमि की खोज करनी पड़ी। वे काव्य के उन प्रतिमानों को भी तोड़ते रहे जिन्हें वे स्वयं अपनी कविताओं से बनाते थे। उनके निम्नलिखित काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं : 'भटका मेघ' (1957), 'मायादर्पण' (1967), 'दिनारंभ' (1967), 'जलसाघर' (1973), मगध (1983) और 'गरुड़ किसने देखा है' (1986)। 'मगध' और 'गरुड़ किसने देखा है' ऐसे कवि की करुणा की पुकार है जो युग संधि पर खड़ा अपने समय के मनुष्य, समाज, राजनीति, इतिहास और काल के प्रति बेहद निर्मम होकर उसके संकट को परिभाषित करना चाहता है।

श्रीकांत वर्मा मूलतः कवि हैं लेकिन उन्होंने कविता के साथ-साथ कहानियाँ भी लिखीं। उनकी कहानियों का रचनाकाल 1955 से प्रारंभ होता हे। उनकी पहली कहानी 'बहिन जी' 'नयी दिशा' में प्रकाशित हुई थी। उनके कहानी संग्रहों में 'झाड़ी' (1964), 'संवाद' (1969), 'घर (1981), 'दूसरे के पैर' (1984), 'अस्थी' (1988), 'ठंड' (1989), 'वास' (1993) और 'साथ' 1994) प्रमुख हैं। यानी उनकी कहानियाँ उनकी कविता की पूरक हैं - उनके कहानी के पात्र उसी यथार्थ से जूझते हैं जिस यथार्थ को श्रीकांत वर्मा कविता में व्यक्त कर रहे थे। नयी कहानी आंदोलन से अलग हटकर उन्होंने सामाजिक यथार्थ के भीतर जूझ रहे अभिशप्त चेहरों को उजागर किया हे। वे नयी कहानी के ढाँचे को तोड़कर कहानी विधा को बदलते नये यथार्थ से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। श्रीकांत की कहानियाँ एक ऐसे कथाकार की अभिव्यक्तियाँ हैं जो नयी कहानी के दौर में प्रेम भरे खेल के मैदान से बाहर जाकर ठंड, झाड़ी, अस्थी, शवयात्रा और घर जैसे सामाजिक यथार्थ की अविस्मरणीय दुनिया रचती हैं। 'दूसरी बार' (1968), उनका अकेला उपन्यास है जहाँ वे साबित करना चाहते हैं कि आज प्रेम मानवीय दुनिया से बहिष्कृत हो गया है।

श्रीकांत वर्मा गद्य की अनेक विधाओं में लिखते रहे हैं, आलोचना, डायरी, यात्रा वृत्तांत और साक्षात्कार में उन्होंने अपनी रचनात्मकता का परिचय दिया है। पत्रकारिता के कारण उन्हें अपने गद्य को संवारने का भरपूर अवसर मिला था। उन्होंने विदेशी साहित्य का अनुवाद किया। विचार प्रधान और आलोचनात्मक लेख लिखे और दुनिया के कई प्रतिष्ठित लेखकों और विचारकों से साक्षात्कार भी लिया। 'फैसले का दिन' रूसी कवि आंद्रे

बेंज्नेसेंस्की की कविता का अनुवाद है। आलोचना में उनकी एक पुस्तक 'जिरह' (1975) प्रकाशित हुई। 'अपोलो का रथ' (1973) उनके द्वारा लिखा यात्रा संस्मरण है। 'बीसवीं शताब्दी के अंधेरे में' (1982) उनके द्वारा लिए गए साक्षात्कार एवं बातचीत का संग्रह है। श्रीकांत वर्मा का लेखन एक अनवरत चलने वाली बहस और जिरह है, कभी दूसरों से, कभी स्वयं से।

रचना के बारे में

ऑक्टेवियो पॉज़ लैटिन अमेरिका के समर्थ साहित्यकार थे। वे भारत में मेक्सिको के राजदूत रहे। उसी दौरान श्रीकांत वर्मा ने पॉज का इंटरव्यू लिया था। यह एक कवि की दूसरे कवि के साथ वैचारिक बहस भी कही जा सकती है। बीसवीं शताब्दी की उपलब्धियों पर श्रीकांत वर्मा ने उनसे साक्षात्कार लिया था। यह साक्षात्कार 'बीसवीं शताब्दी के अंधेरे में' पुस्तक में संकलित है। इस पुस्तक का प्रकाशन 1982 ई0 में हुआ। दो रचनाकार जब किसी समस्या के आमने-सामने होते हैं तो साक्षात्कार बडा ही दिलचस्प और रचनात्मक हो जाता हे। कला, विज्ञान, संस्कृति, इतिहास और मिथक कई ऐसे अनसुलझे प्रश्न हैं, जिसे चिंतकों ने बार-बार सुलझाने का प्रयत्न किया है। आक्टेवियो पॉज एक रचनाकार ही नहीं चिंतक भी थे। उन्होंने इन प्रश्नों का अपने अनुभव की रोशनी में उत्तर देने का प्रयत्न किया है। बीसवीं शताब्दी में जो प्रश्न बार-बार उठते रहे उन्हें वे नई दृष्टि से देखने की कोशिश करते हैं।

बीसवीं शताब्दी के अंधेरे पर टिप्पणी करते हुए श्रीकांत मानते हैं बीसवीं शताब्दी की कल्पना बिना आधुनिकता के असंभव है। प्रखर बुद्धिजीवी पॉज ने श्रीकांत वर्मा के प्रश्नों का बड़े संतुलित ढंग से उत्तर दिया है। पॉज ने विचारधाराओं की तानाशाही के विरुद्ध मानवीय स्वतंत्रता का पक्ष लिया है। श्रीकांत वर्मा प्रश्नों को छोटे से घेरे में नहीं समेटते हैं। उनका कैनवास विशाल है। व्यवस्था, सत्ता राजनीति, साहित्य, कला और दर्शनों के बीच उलझी हुई गुत्थी को लगातार साफ और सुलझे ढंग से उठाते हैं। पॉज ईमानदारी और विवेक से प्रश्न का रास्ता तय करते हैं। उनकी पीड़ा में बीसवीं शताब्दी के मनुष्य के भविष्य की चिंता समाहित है।

बीसवीं शताब्दी के दो महत्वपूर्ण घटना चक्र प्रथम और द्वितीय महायुद्ध से श्रीकांत वर्मा अपना प्रश्न आरंभ करते हैं। लेखक और सामाजिक प्रतिबद्धता, साहित्य और दर्शन के बीच का संबंध, विचारधारा और मनुष्य, कला आंदोलन, और भविष्य का समाज तथा साहित्य आदि कई प्रश्नों के उत्तर के लिए श्रीकांत पॉज को उकसाते हैं। विश्व के साहित्य और विभिन्न विचारधाराओं की यात्रा करते हुए वे भारत के विषय में उनकी राय जानने की कोशिश करते हैं। बीसवीं सदी के मनुष्य की समस्याओं से दोनों रचनाकार भली भाँति परिचित हैं। भारतीय जीवन को पॉज गहराई से देखने की चेष्टा करते हैं और

कहते हैं कि यहाँ का अंग्रेज़ी पढ़ा-लिखा व्यक्ति अपने समाज से कटा हुआ है। औपनिवेशिक सभ्यता के दबाव को वे यहाँ के जीवन पर महसूस करते हैं। दम तोड़ती लोक संस्कृति भी उनकी नज़र से ओझल नहीं होती है। प्रश्न को श्रीकांत वर्मा कुछ इस तरह से रखते हैं कि ये प्रश्न श्रीकांत वर्मा के नहीं रह जाते हैं। उनका प्रश्न एक जागरूक भारतीय का प्रश्न बन जाता है।

साक्षात्कार पत्रकारिता के क्षेत्र की विधा है। साक्षात्कार में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से सवाल करता है जिसका दूसरा व्यक्ति जवाब देता है। यह दूसरा व्यक्ति किसी क्षेत्र विशेष में विशिष्ट स्थान रखने के कारण ही साक्षात्कार के लिए चुना जाता है। जैसा कि इस साक्षात्कार में ऑक्टेवियो पॉज है। लेकिन जब प्रश्नकर्ता भी महत्वपूर्ण हो तो साक्षात्कार कुछ हद तक बातचीत या बहस में बदल जाता है। दोनों ही लेखक हैं, इसलिए इस साक्षात्कार की भाषा में गंभीरता, वैचारिक गहनता और संश्लिष्टता नज़र आती है। प्रश्न जितने गंभीर हैं, उत्तर भी उतनी ही गंभीरता से दिए गए हैं। इसलिए दोनों की भाषा में वैचारिकता का गुण होना स्वाभाविक है। यहाँ यह जानना भी ज़रूरी है कि साक्षात्कार मूल रूप में अंग्रेज़ी में लिया गया था। इसलिए सवालों और जवाबों दोनों का स्वयं श्रीकांत वर्मा ने अनुवाद किया है। हमारे पास यह जानने का कोई माध्यम नहीं है कि ऑक्टेवियो पॉज ने अंग्रेजी में किस तरह की भाषा इस्तेमाल की, हमारे सामने यह साक्षात्कार हिंदी में ही प्रस्तुत है और इसकी भाषा की विशेषता पर ही टिप्पणी कर सकते हैं।

शब्दावली

कमिटमेंट : प्रतिबद्धता

नात्सी विचारधारा : जर्मनी की राजनीतिक विचारधारा जिसका प्रतिनिधि हिटलर था।

सार्त्र (ज्यां पाल) : फ्रांस के रचनाकार और अस्तित्ववादी विचारक।

कामू (आल्बेयर) : फ्रांस के रचनाकार और अस्तित्ववादी चिंतक।

ब्रेख्त (ब्रतोल्त) : जर्मनी के महान् नाटककार और कवि।

बॉल्जाक : फ्रांस के उपन्यासकार।

वॉन गॉग : फ्रांस के चित्रकार। आपने प्रभाववादी चित्रकला को एक आंदोलन के रूप में जन्म दिया।

यास्पर्स (कार्ल) : अस्तित्ववादी दार्शनिक।

जार्ज ऑरवेल : अंग्रेजी उपन्यासकार।

क्लासिस्ट : शास्त्रीय परंपरा से बंधी हुई ऐसी रचना जिसे प्रातिनिधिक रचना कहा जा सकता है।

डब्ल्यू एच ऑडेन : अमेरिका के अंग्रेजी कवि।

सिमोन द बुआ : फ्रांसं की नारीवादी रचनाकार और ज्यां पॉल सार्त्र की साथी।
प्रूस्त : अंग्रेजी भाषा के प्रसिद्ध उपन्यासकार।
ज्वायस (जेम्स) : अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार।
गिन्सबर्ग : बीटनिक कवि। व्यवस्था के विरोध में चलाए गए आंदोलन के प्रतिनिधि अंग्रेज विचारक और कवि।
मैलार्मे : फ्रांस के प्रसिद्ध कवि जिनकी रचना पर चित्रकला का प्रभाव है।
सुर्रियलिस्ट : अतियथार्थवाद। कला का एक आंदोलन था जिसमें कलाकारों, कवियों और फिल्म निर्माताओं ने स्वप्न सृष्टि, अवचेतन मन के विचार और इच्छाओं को जन्म दिया।
सिम्बलिस्ट : चित्रकला का एक आंदोलन।

सहायक पुस्तकें

अरविन्द त्रिपाठी : *श्रीकांत वर्मा*, साहित्य अकादमी नई दिल्ली।
पूर्वग्रह : श्रीकांत वर्मा पर विशेष : जनवरी-जून 1998, भारत भवन, भोपाल।
आलोचना : अंक 78 जुलाई सितम्बर 1986।
दस्तावेज़ : अप्रैल जुलाई 1986, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, गोरखपुर।
अशोक वाजपेयी : *फिलहाल*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
मलयज : *कविता से साक्षात्कार*, संभावना प्रकाशन, हापुड।
राजेंद्र मिश्र : *श्रीकांत वर्मा का रचना संसार*, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली।

मूलपाठ : साक्षात्कार

ऑक्टेवियो पॉज़

ऑक्टेवियो पॉज़ इस्पहानी दुनिया के प्रमुख कवि हैं। पाब्लो नेरूदा और पॉज़ की गिनती लैटिन अमेरिका के सबसे जबर्दस्त कवियों में होती है। नेरूदा की मृत्यु के बाद लैटिन अमेरिका में अब पॉज़ जैसा कोई कवि नहीं रह गया है। नेरूदा और पॉज़ की प्रकृति एक-दूसरे से न केवल भिन्न है, बल्कि प्रतिकूल भी। नेरूदा समाजवादी हैं और उनकी कविता की बनावट भी उसके अनुकूल है। सपाटबयानी और जनवादी स्वर। पॉज़ की कविता सुर्रियलिस्ट और रोमैण्टिक है। पॉज़ और नेरूदा दोनों में सिर्फ़ एक चीज़ समान है। दोनों में लैटिन अमेरिका की अस्मिता को लेकर न केवल बेचैनी बल्कि दर्प है। एक में यूरोप के सांस्कृतिक अतिक्रमण के प्रति विक्षोभ है, दूसरे में साम्राज्यवाद का तीखा विरोध है।

लेटिन अमेरिका की अस्मिता को कविता में शायद ही किसी कवि ने इतनी खूबसूरती और गरिमा के साथ प्रदर्शित किया हो, जितना कि ऑक्टेवियो पॉज़ ने किया है। ऑक्टेवियो पॉज़ एक महान् कवि हैं। उनकी कविता में अनन्तता का स्वर है और एक अनन्त प्रवाह है। बिम्ब पर बिम्ब उछलते चले आते हैं और बिम्बों का एक विश्व तैयार हो जाता है। उनकी गिनती यूरोप के किसी भी बड़े कवि के समकक्ष की जा सकती है।

ऑक्टेवियो पॉज़ सिर्फ़ एक कवि नहीं हैं। वह एक महान् विचारक भी हैं। उन्होंने कला पर जो लेख और पुस्तकें लिखी हैं, वे अमूल्य दस्तावेज हैं। 'दुशाँ' पर उनकी पुस्तक एक अनोखी कलाव्याख्या है। वे मेक्सिको की राजनीति में सक्रिय हिस्सा लेते रहे हैं। समूचा इस्पहानी संसार ऑक्टेवियो पॉज़ को एक कवि, विचारक और राजनीतिक योद्धा के रूप में जानता है। कई वर्ष तक वह मेक्सिको के विदेश विभाग और राजनयिक सेवा में रहे। इसी सिलसिले में उनकी नियुक्ति पहले जापान और बाद में भारत में हुई। मैंने कला और साहित्य को लेकर उनसे दो बार लम्बी-लम्बी बातचीत की। एक बार दिल्ली में मेक्सिको के राजदूत के पद पर उनकी नियुक्ति के कुछ महीने बाद और दूसरी बार 1968 में उनके त्याग-पत्र के बाद। ऑक्टेवियो पॉज़ ने अपने देश में छात्र-आंदोलन के समर्थन तथा अपनी सरकार की नीति के विरोध में इस्तीफा दे दिया था।

ऑक्टेवियो पॉज़ बहस पसंद करते हैं। उनमें विनय है, मगर झूठी विनय नहीं। वह दूसरे की बात ग़ौर से सुनते हुए भी उसकी बात काटकर अपने वाक्य प्रवाह में बह सकते हैं और कह सकते हैं कि मैं बहस में विश्वास करता हूँ। वे शिष्टाचार बरतते हैं, मगर झूठे आडम्बर में विश्वास नहीं करते। वे अपनी बढ़िया सिगरेट ख़त्म हो जाने पर

दूसरे से माँगकर सस्ती सिगरेट भी पी सकते हैं, राजदूत का प्रोटोकोल तोड़कर फ़र्श में, घास पर बैठ सकते हैं और नंगे पाँव बाहर निकल सकते हैं। कविता से चित्रकला, चित्रकला से वज्रयान, वज्रयान से बीटनिक, सुर्रियलिज्म, पॉल एलुआर- एक के बाद एक कई विषयों और उनकी तहों में पहुँचते हुए वह एक चित्रमय भाषा में बात करते चलते हैं। जहाँ भाषा टूटती है, वहाँ उनके चेहरे की रेखाएँ बोलने लगती हैं, और जहाँ यह रेखा भी उन्हें अभिव्यक्त नहीं कर पाती, उनके कंधे, उनके हाथ और उनकी अँगुलियों में दबी हुई सिगरेट उन्हें व्यक्त करती है।

ऑक्टेवियो पॉज़ कला और संस्कृति के पक्षधर हैं। दिल्ली में एक शाम शामलाल ने अपने घर पर एक छोटी-सी पार्टी का आयोजन किया था। पार्टी में पॉज़ के साथ मेक्सिको के प्रसिद्ध पत्रकार तमायो भी पधारे थे। तमायो पिकासो, ब्रॉक और बुफ़े तथा अन्य चित्रकारों के बारे में अपनी धारणाएँ बता रहे थे और अपने दिलचस्प संस्मरण सुना रहे थे। अचानक वहाँ एक अन्य विदेशी राजनयिक का आना हुआ। उनके आने से कोई फ़र्क नहीं पड़ता, अगर यह दिलचस्प बातचीत वह सिर्फ़ सुनते रहते। मगर वह बीच-बीच में अप्रासंगिक टिप्पणियाँ करते रहे। साहित्य तथा साहित्यकारों के विषय में कुछ हल्की बातें करने के उपरांत उन्होंने कहा, "साहित्य राजनीति से अलग नहीं रह सकता।" श्रीमती तमायो ने उनसे पूछा, "आर यू ए पॉलिटिशियन?" तमायो रसभंग से क्षुब्ध थे। मगर ऑक्टेवियो पॉज़ इस टिप्पणी से नाराज़ थे। राजनयिक राजनयिक कारणों से आम तौर पर इस प्रकार की बहस से बचते हैं। सामान्य स्थिति में ऑक्टेवियो पॉज़ ने इस टिप्पणी को हँसकर टाल दिया होता। मगर कला की यह अवमानना एक महान् चित्रकार की उपस्थिति में हुई थी और पाज़ के लिए यह बर्दाश्त कर सकना कठिन था। पॉज़ ने तर्क पर तर्क दोहराते हुए कुछ ही समय में आगन्तुक राजनयिक को निहत्था और बेबाक कर दिया।

ऑक्टेवियो पॉज़ की मान्यता है कि कला आदमी का सबसे क़ीमती आविष्कार है और राज्यसत्ताएँ कला को चेहरा बदलकर नये-नये ढंग से भ्रष्ट करने की कोशिश कर रही हैं।

भारत में रहते ऑक्टेवियो पॉज के अनेक मित्र बने - चित्रकार, कवि, उपन्यासकार, संगीतकार और सम्पादक। राजधानी में औरंगजेब रोड पर उनका निवास-स्थान कलाकारों का मिलनस्थल बन गया था। वह एक-एक को उनके नाम और काम से जानने लगे थे। कोई भी प्रमुख कला प्रदर्शनी नहीं, जिसमें पॉज़ न गए हों और अंग्रेज़ी, फ्रेंच और इस्पहानी में उपलब्ध भारतीय कविता का कोई भी अनुवाद नहीं, जिसे पॉज़ ने न पढ़ा हो।

वह सबसे अधिक प्रभावित थे भारतीय दर्शन और भारतीय संगीत से। भारतीय संगीत को वह विश्व सभ्यता की एक महान् उपलब्धि मानते थे। उनके पास शास्त्रीय संगीत की एक दुर्लभ लायब्रेरी थी। भारतीय मूर्तिकला पर ऑक्टेवियो पॉज़ ने अनोखी टिप्पणियाँ की हैं।

बहुत-से विदेशी आते और जाते हैं। लेकिन थोड़े-से लोग ऐसे हैं, जिन पर कि भारत अपनी अमिट छाप छोड़ जाता है। पॉज़ उन्हीं थोड़े-से लोगों में से हैं। भारत से लोटने के बाद उन्होंने भारत को लेकर दर्जनों कविताएँ लिखीं, जो उनके बाद के संग्रहों में शामिल हैं।

भारत में रहते हुए उनके जीवन की कुछ प्रमुख घटनाएँ घटीं - उन्होंने दूसरा विवाह किया और राजनयिक सेवा से इस्तीफ़ा दिया। त्यागपत्र के बाद वह कुछ वर्षों तक यूरोप और अमेरिका में अध्यापन करते रहे। फिर मैक्सिको जाकर 'प्यूरल' नामक एक पत्रिका का प्रकाशन किया।

ऑक्टेवियो पॉज़ अब बूढ़े हो चुके हैं। लेकिन रचना की दृष्टि से वह अब भी सक्रिय हैं और उनकी बौद्धिक क्षमताएँ अब भी बरकरार हैं। मेक्सिको के युवा लेखकों के आकर्षण और बहस का मुख्य विषय अब भी ऑक्टेवियो पॉज़ है। 1970 में मैं अमेरिका गया। तब मुझे पता नहीं था कि ऑक्टेवियो पॉज़ मेक्सिको लौट चुके हैं। लेकिन 1978 में अमेरिका-यात्रा के बाद मैं मेक्सिको जाकर उनसे मिलना चाहता था। कुछ कारणों से यह संभव नहीं हुआ। लेकिन प्रोग्रैम में मेरे एक भारतीय सहयोगी पार्थसारथी मेक्सिको गए और पॉज़ से मिले। ऑक्टेवियो पॉज़ ने भारत के विषय में, अपने मित्रों के बारे में उनसे देर तक पूछताछ की और मेरे संबंध में पूछा कि वह क्यों नहीं आये?

1963 में जब मैंने उनसे पहली बार बातचीत की, तब साहित्य में, विशेषकर पश्चिमी साहित्य में, 'इंगेज्ड आर्ट' और 'कमिटमेंट' को लेकर ज़ोर-शोर से बहस चल रही थी। भारतीय साहित्य में भी इसकी गूँज सुनायी पड़ रही थी। मैंने ऑक्टेवियो पॉज़ से बातचीत इसी सवाल को लेकर शुरू की।

इस पर उन्होंने कहा, "मैं यह सोचता हूँ कि, 'कमिटमेण्ट' एक साहित्यिक समस्या नहीं है।"

श्री. व. : कैसे?

ऑ.पॉ. : पश्चिम में यह प्रश्न दो महायुद्धों के बीच, कम्युनिस्ट पार्टियों की उठान के दिनों में और नात्शी ख़तरों के संदर्भ में उठाया गया था। मगर उस समय भी यह सवाल राजनीतिक कारणों से और राजनीति में पैदा हुआ था। मैं अब भी यही सोचता हूँ उस समय भी साहित्य को 'कमिटमेण्ट' के नाम पर राजनीति और शिविरों में घसीटा

गया था। साहित्य के लिए 'कमिटमेण्ट' या 'एन्टी-कमिटमेण्ट' जैसी बात कोई अर्थ नहीं रखती।

श्री.व. : आपकी बात स्पष्ट नहीं हुई। कमिटमेण्ट एक राजनीतिक ही क्यों, लेखक के लिए एक नैतिक सवाल भी हो सकता है। राजनीतिक और नैतिक दोनों ही धरातलों पर इसे उठाने की कोशिश पिछले दिनों सार्त्र ने की है।

ऑ.पॉ. : मगर अचानक यह प्रश्न साहित्यिक प्रश्न कैसे बन बैठा। सन् तीस से चालीस के बीच जब सारा यूरोप 'इन्गेज्ड' की बात कर रहा था, सार्त्र 'डिस-इन्गेज्ड कला' की बात कर रहे थे। और अब जब इंग्लैण्ड और फ्रांस के कुछ लेखकों को छोड़ पश्चिम के अधिकांश लेखकों के लिए यह प्रश्न कोई प्रश्न ही नहीं रहा, तब (जर्मन आधिपत्य के दिनों से) सार्त्र के लिए यह समस्या साहित्य की सबसे बड़ी समस्या बनी हुई है। मैंने अपने मित्र कामू से - जो इन्गेजमेण्ट में कतई विश्वास नहीं करते थे - इस पर बातें की हैं और सार्त्र से भी चार बार लम्बी बहसें की हैं। मुझे कहना ही पड़ेगा सार्त्र पर राजनीति सवार है। क्रांति के दिनों में वह क्रांतिकारी नहीं रहे। अब जब क्रांति मर चुकी है, वह क्रांति का ताज़िया अपने कंधों पर उठाये हुए हैं।

आपने सार्त्र की बात की है, तो मैं सार्त्र के साहित्य के बारे में भी आपको अपनी राय बता देना चाहता हूँ। पहली बात तो यह है कि सार्त्र और कॉमू दोनों ही महान् लेखक नहीं है। मगर कॉमू निस्संदेह एक अच्छे लेखक हैं। मगर यही बात मैं सार्त्र के विषय में नहीं कह सकता - केवल उनकी डिकेडेण्ट (ह्रासोन्मुख) अच्छी कहानियों को छोड़। सार्त्र के उपन्यास ख़राब हैं और उनका बाकी साहित्य भी विशेष महत्व नहीं रखता। मैं उन्हें एक महत्वपूर्ण रचनाकार नहीं, मगर मौलिक विचारक ज़रूर मानता हूँ और मेरे मन में अगर उनके प्रति आदर है तो वह उनके साहित्य के कारण नहीं बल्कि उनके आदर्शों के कारण है, जो सही या ग़लत जैसे भी हों, उनके अपने हैं।

श्री.व. : मगर ऐसा कह आप अपनी ही बात का विरोध कर रहे हैं। अभी आपने कहा कि कोई लेखक केवल अपनी प्रतिबद्धता के कारण महत्वपूर्ण नहीं हो जाता और अब आप यह कह रहे हैं कि आपके मन में सार्त्र के प्रति आदर उनके साहित्य नहीं आदर्शों के कारण है।

ऑ.पॉ. : नहीं, ऐसी बात नहीं। यह मेरा क़सूर नहीं कि सार्त्र की ईमानदारी और नीयत मेरे लिए आदर योग्य हो सकी, उनका साहित्य नहीं। इसके लिए मैं ज़िम्मेदार नहीं कि जितने बड़े उनके आदर्श हैं, उतना बड़ा उनका साहित्य नहीं। बल्कि मैं तो यह मानता ही हूँ और मैंने पहले भी कहा है कि आदर्श बड़ा हो तो ज़रूरी नहीं कि उस

आदर्श का दावेदार साहित्य भी बड़ा हो। कला के अपने प्रतिमान हैं। कोई भी आदर्श कला का प्रतिमान नहीं हो सकता।

श्री.व. : मगर ब्रेख्त को आप क्या कहेंगे, और मायकोव्स्की! जिनके लिए साम्यवाद और साहित्य, प्रतिमान और आदर्श दो अलग चीज़ें नहीं रहीं। दोनों इस तरह संगठित हो गए कि कला के लिए एक नया ही 'प्रतिमान' तैयार हो गया।

ऑ.पॉ. : बेहतर उदाहरण ब्रेख्त हैं। मगर मैं नहीं मानता कि ऐसा कोई नया प्रतिमान तैयार हुआ है। ब्रेख्त की कला का रहस्य साम्यवाद नहीं बल्कि ब्रेख्त के अंदर का विद्रोही है। स्वभाव में, रचना में यह विद्रोह ही लेखक को लेखक बनाता है, फिर इस विद्रोह की कर्मभूमि कुछ भी हो। विद्रोह अपने अंदर होता है, बाहर से उसे जुटाया नहीं जा सकता। मगर इससे भी बड़ा ख़तरा तब पैदा होता है, जब 'कमिटमेण्ट' को साहित्य के मूल्यांकन के लिए एक मानदण्ड मान लेने का आग्रह किया जाता है।

मार्क्स की दृष्टि से बॉल्ज़क जिन कारणों से बड़ा लेखक था, क्या सचमुच ही वे किसी लेखक के बड़े होने के निर्णयात्मक कारण हैं? किसी पाठक के लिए यह बात क्या महत्व रखती है कि बॉल्ज़क जनवादी था या प्रतिक्रियावादी? खजुराहो, साँची और कोणार्क के कारीगर और कलाकार, कलाकार थे या प्रचारक? धर्म अगर उनकी कला की परिणति है तो यह न उनका दोष है न उपलब्धि। वॉन गॉग किसके प्रति कमिटेड थे? और संगीत, आपका अपना शास्त्रीय संगीत, जो सभ्यता की सबसे बड़ी उपलब्धियों में से एक है, किससे प्रतिश्रुत है? कमिटमेण्ट हमेशा मनुष्य का मनुष्यता के प्रति, कलाकार का कला के प्रति होगा। संस्थाएँ, विचारधाराएँ, अमूर्त वस्तुएँ है। और महज़ विचारधारा की कसमें खाता हुआ, विचारधाराओं की बाइबिलें उठाता हुआ कोई लेखक न मनुष्यता के प्रति ज़िम्मेदार हो सकता है न कला के प्रति।

श्री.व. : मगर यह आप कैसे कह सकते हैं कि केवल वामपंथी लेखकों ने ही स्वाधीनता जैसे सवालों को केवल कुछ विशेष सामयिक राजनीतिक संदर्भों में रखकर देखा है। औरों की बात छोड़ दीजिए, क्या आप कह सकते हैं कि दार्शनिक यैस्पर्स ने भी जब स्वाधीनता की बात की है तो उसका कोई राजनीतिक संदर्भ नहीं रहा है?

ऑ.पॉ. : यैस्पर्स क्यों! अगर उदहारण ही लेना है तो, और बहस को और प्रमाणिक बनाना है तो हीडेग्गर का उदाहरण लिया जाय। फ्रेंच अस्तित्ववादी भी अस्तित्ववादी हैं और हीडेग्गर भी। लेकिन हीडेग्गर का दर्शन निर्विकार है। फ्रेंच अस्तित्ववादियों की तरह वह कुछ विशिष्ट संदर्भों का मुँह नहीं जोहते। स्वाधीनता और अस्तित्व, ये मनुष्य के बुनियादी सवाल हैं और हीडेग्गर ने उन्हें आधिभौतिक धरातल पर बुनियादी सवालों के ही रूप में उठाया है। समय ने उन्हें भ्रष्ट नहीं किया है। मैं आप -

जैसे नवयुवक लेखकों से, जो इस बात को ज़रूर ही और भी तीखे ढंग से अनुभव कर रहे होंगे, विशेष रूप से कहना चाहता हूँ कि विचारधाराएँ समाज के चेहरे पर पड़ा हुआ झूठा पर्दा हैं और धीरे-धीरे वह उतर रहा है। विचारधाराओं का युग समाप्त हो रहा है और अब हम यथार्थ को अधिक नज़दीक से देख सकते हैं।

श्री.व. : क्या आप यह कहना चाहते हैं कि विचारधाराएँ मनुष्य और मनुष्य के साक्षात्कार में रुकावट हैं?

ऑ.पॉ. : हाँ। शायद आपको नहीं मालूम होगा और मैं आपको बतलाना चाहता हूँ कि अपने अन्य सुर्रियलिस्ट दोस्तों की तरह मैं भी एक अर्से तक मार्क्सवादी रहा हूँ और अंत में मैंने पाया कि इतिहास ने हमें धोखा दिया और हमने अपने-आपको। ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जाने के बाद ही लेखक के सामने सबसे बड़ा संकट उपस्थित होता है। सबसे बड़ा संकट यही अनुभव है कि सोचने के लिए आगे क्या है? मगर यही एक और भी नयी सृष्टि की शुरुआत है। बात यह है कि मार्क्सवाद अपने चौथे कल्प में है। मार्क्स और एंगल्स ने उसकी परिकल्पना एक आलोचनात्मक दर्शन के रूप में की, लेनिन और ट्राटस्की ने उसे संघर्ष और कर्म के धरातल पर अधिष्ठित किया, स्तालिन ने उसे एक प्रतिक्रियावादी दर्शन और एक घटिया किस्म के जादू में बदल दिया और अब ख्रुश्चोव के ज़माने में वह सुव्यवस्था और प्रशासन होकर रह गया। साम्यवादी समाज के विधाता अपने समाज के मैनेजर होकर रह गए। साम्यवादी दुनिया वहीं पहुंची जहाँ अमेरिका। अंतर केवल इतना है कि अमेरिका में समृद्धि अभी भी सोवियत रूस से ज्यादा है। राजनीतिज्ञों और इतिहासकारों की बहुत-सी भविष्यवाणियाँ झूठी साबित होती हैं, क्योंकि वे सतह पर जो कुछ हो रहा है केवल उसे देखते हैं, देख पाते हैं। मगर लेखक भीतर को, भीतर के अविज्ञप्त सत्य को पहचानता है। तमाम इतिहासशास्त्रियों की तुलना में जार्ज आरवेल जैसे लेखक सत्य के अधिक नज़दीक हैं। मैं भारत के लिए, जिसकी कोई राजनीतिक परंपरा नहीं रही है, यह बात और भी आग्रह के साथ कह सकता हूँ कि यहाँ के लेखकों की कर्मभूमि राजनीतिक नहीं हो सकती।

भारत और भारतीय साहित्य के बारे में, श्री ऑक्टेवियो पॉज़ की राय जानना दिलचस्प होगा, यह सोच लेखक की ज़िम्मेदारी की इस बहस को यहीं रोककर मैंने पूछा, 'अगर भारतीय लेखक दिग्भ्रमित हैं तो आप क्या सोचते हैं, इसके कारण क्या हैं?'

ऑ.पॉ. : इसका मुख्य कारण यह है कि वे ब्रिटेन और अमेरिका को ही पश्चिम, बल्कि काफ़ी हद तक संसार मानकर चलते हैं। और अमेरिका और इंग्लैण्ड उनकी प्रेरणाओं के केंद्र बन गए हैं जबकि यह बात मुझे अजीब लगती है कि भारतीय समाज, जिसकी परम्पराएँ क्लासिक परम्पराएँ हैं, ब्रिटेन और अमेरिका के साहित्य के

साथ अपना रिश्ता कैसे कायम कर सकता है, जिसकी परम्पराएँ एण्टी-क्लासिक हैं। इंग्लैंड ने अपने सबसे बड़े जीनियस शेक्सपीयर के रूप में भी इक्सेण्ट्रिक पैदा किया, दाँते-जैसा क्लैसिसिस्ट नहीं। अंग्रेज़ी साहित्य में मिल्टन है, मगर सर्वान्तीज नहीं। यह सही है कि भारत में भी खजुराहों-जैसी धुरी से खिसककर एक अलग ही दुनिया में निकल आयी अपूर्व कलाएँ हैं। लेकिन भारतीय साहित्य की परंपराएँ केंद्रीय हैं और मेरा निश्चित मत है कि अमेरिका और इंग्लैण्ड का उत्केन्द्रित साहित्य उसक आदर्श नहीं हो सकता।

श्री.व. : क्या आप यह कहना चाह रहे हैं कि भारतीय लेखक का पश्चिमी साहित्य के सम्पर्क में आना ग़लत हुआ?

ऑ.पॉ. : नहीं, मैं यह बिलकुल ही नहीं कह रहा हूँ। इसके विपरीत मैं यह कह रहा हूँ कि भारतीय लेखक पश्चिमी साहित्य के संपर्क में पूरी तरह आये ही नहीं। मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसकी प्रतिध्वनि ग़लत न हो, इसलिए मैं पहले ही स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं हिंदुस्तान ही नहीं, हर देश के तथाकथित 'राष्ट्रीय साहित्य' से सबसे अधिक नफ़रत करता हूँ, हालाँकि मुश्किल यह है कि देशभक्ति, परम्परा और समाज के नाम पर हर देश में इस प्रकार का झूठा साहित्य पैदा होता है। मैं एक 'सुर्रियलिस्ट' कवि रहा हूँ और कम से कम मेरे लिए तो देश और राष्ट्र के नाम पर की गयी इस बकवास को साहित्य मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। मैं केवल यह कह रहा हूँ कि ब्रिटेन और अमेरिका संसार की खिड़कियाँ नहीं हैं।

श्री.व. : जैसे मुल्कराज़ आनन्द और राजा राव हिन्दुस्तान की खिड़कियाँ नहीं हैं।

ऑ.पॉ. : मैं जानता हूँ। मगर मैं अपनी बात केवल इन्हें ध्यान में रखकर नहीं कर रहा हूँ।

श्री.व. : ज़ाहिर है कि आप पिछले दिनों भारत के अनेक बुद्धिजीवियों के सम्पर्क में आये हैं। उनसे मिलकर आपके मन पर क्या प्रतिक्रिया हुई?

ऑ.पॉ. : मुझे लगा कि भारत में साधारण जनता की तो बात ही छोड़िए, बुद्धिजीवी कहलाने वाले वर्ग के बीच भी बौद्धिक वातावरण का अभाव है।

श्री.व. : शायद आप कहना चाहते हैं कि भारतीय बुद्धिजीवी काफ़ी हद तक छद्म हैं। अगर सचमुच ही ऐसा है तो इनके कारण - सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक - क्या हैं?

ऑ.पॉ. : कारण बहुत से हो सकते हैं। मगर एक कारण और भी हो सकता है - प्रतिभा का अभाव। मगर ये सब तो बाद की बातें हैं। मुझे तो सबसे अधिक हैरानी और

निराशा भारत के समाचरपत्रों और पत्र-पत्रिकाओं को देखकर होती है। छोटे-छोटे देशों के समाचारपत्र भी देश-विदेश के साहित्य और कला में गहरी दिलचस्पी रखते हैं। मगर यहाँ आकर मैंने देखा कि उन्हें राजनीति की ओछी से ओछी बातों में रुचि है, साहित्य से उन्हें कोई सरोकार नहीं। यहाँ तक कि उनके 'साप्ताहिक संस्करण' भी साहित्य और कला का मखौल जान पड़ते हैं। एक लोकप्रिय पत्र लोकरुचि को आधुनिक बनाने में कितना सहायक हो सकता है, इसका उन्हें अदांज़ ही नहीं।

श्री पॉज़ ने पास में पड़ा हुआ स्पेनिश भाषा का एक पत्र उठाया और फिर उसमें प्रकाशित रचनाएँ बताने लगे। उन्होंने बताया कि यह मेक्सिको का एक 'मनोरंजन-पत्र' है, मगर इसमें जिन रचनाओं से पाठकों का मनोरंजन किया गया है वे हैं डब्ल्यू.एच.ऑडेन की नवीनतम कविताओं के अनुवाद, सार्त्र का इण्टरव्यू, सिमन दे बुआ की पुस्तक की समीक्षा, और उन आधुनिकतम कलाकृतियों की प्रतिच्छवियाँ जिन्हें लेकर पिछले दिनों बहस होती रही है। फिर उन्होंने भारत में प्रकाशित एक लोकप्रिय अंग्रेज़ी साप्ताहिक उठाया और कहा इसे पढ़ने की ज़रूरत नहीं। इसका आवरण देखकर ही अनुमान किया जा सकता है कि इसके भीतर क्या होगा। उन्होंने कहा कि 'आप यह न समझें कि मैं यह सब भारत की निन्दा और अपने देश की प्रशंसा में कह रहा हूँ। कहना मैं यह चाहता हूँ कि भारत - जैसे देश में, जहाँ यह ज़रूरी था कि अधिकधिक बौद्धिक वातावरण तैयार किया जाता, यह नहीं हुआ। भारतीय भाषाओं के बारे में मैं नहीं जानता। लेकिन मैं सोचता हूँ साहित्य को हमेशा बदलती चलने वाली साहित्यिक पत्रिकाएँ यहाँ अधिक नहीं होंगी।

'मगर यह बातचीत पश्चिम से हटकर भारत पर आ गयी और आप पश्चिम के बारे में जानने को अधिक उत्सुक होंगे।' उन्होंने कहा।

श्री.व. : शायद हमारे देश के नवयुवक कवि पश्चिम की कविता के बारे में आपके विचार जानने को उत्सुक हों, खासकर उन देशों की कविता के बारे में जो अंग्रेज़ी के बावजूद अभी भी अंधेरे में पड़ी हुई है।

ऑ.पॉ. : व्यक्तिगत रूप से मुझे सबसे अधिक ब्रेताँ ने प्रभावित किया है। पुराने कवियों में मेरे सबसे प्रिय कवि मलार्मे हैं। मगर बाद के कवियों में एलुआर, नेरूदा, हेनरी मिशाँ और सेण्ट जॉन पर्स मेरी पसंद के कवि हैं और उनकी कविताओं में इतनी क्षमता है कि उन्हें दुबारा भी पढ़ा जा सकता है। शायद आपने पांश और चॉर का नाम न सुना हो। ये फ्रांस की युद्धोत्तर पीढ़ी के सबसे महत्वपूर्ण कवि हैं। आप इनकी कविताएँ ज़रूर पढ़ें। मैं सोचता हूँ पश्चिम की समूची कविता को नवजीवन देने में जितना बड़ा योगदान सिम्बलिस्ट और सुर्रियलिस्ट आंदोलन ने दिया है, अन्य किसी ने नहीं।

श्री.व. : अमेरिका के नवयुवक कवियों के बारे में आपके क्या विचार हैं?

ऑ.पॉ. : आपका मतलब बीट कवियों से है? हो सकता है वे आपके मनपसंद कवि हों। मगर जहाँ तक मैंने उन्हें पढ़ा है, उनकी कविताओं में मानवीय अपील तो है, मगर कला और कविता की दृष्टि से वे इतनी बड़ी नहीं कि दस साल से अधिक जीवित रहें। यही बात सोवियत कवि एव्तिशेंको और बोज्नेसेंस्की की कविताओं के बारे में भी कही जा सकती है।

श्री.व. : यह भविष्यवाणी आप कैसे कर सकते हैं?

ऑ.पॉ. : मैं भविष्यवाणी नहीं कर रहा हूँ। मगर कविता को देखकर उसकी उम्र का अंदाज़ लगाया जा सकता है। गिन्सबर्ग में मेरी दिलचस्पी है। उनका व्यक्तित्व मुझे लुभाता भी है। लेकिन उनकी कविताएँ भावुकतापूर्ण हैं और मुझे नहीं लगता वे कविता की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

श्री.व. : और फ्रांस का नया उपन्यास?

ऑ.पॉ. : बकवास है। मैंने आपसे अभी अस्तित्ववादियों की आलोचना करते हुए कई बातें कहीं हैं। मगर मैं एक बात कह देना चाहता हूँ कि मैं अस्तित्ववादियों के नीरस और ऊब से भरे हुए उपन्यास तो पढ़ सकता हूँ क्योंकि वे अपनी तमाम असमर्थताओं के बावजूद उपन्यास हैं। लेकिन रॉब्ब ग्रिये और उनके दोस्तों और प्रशंसकों का यह 'नया उपन्यास' मैं नहीं पढ़ सकता। यह कलाकारों का नहीं, टेकनीशियनों का साहित्य है।

श्री.व. : क्या आप यह कहना चाहते हैं कि फ्रांस में, जो पश्चिम के नये आंदोलन का अग्रदूत है, उपन्यास की स्थिति निराशाजनक है?

ऑ.पॉ. : निराशाजनक और आशाजनक जैसे शब्दों में इस स्थिति को नहीं तौला जा सकता। उपन्यास के बारे में मेरी धारणाएँ अलग हैं और हो सकता है आप उनसे कतई सहमत न हों। मैंने उपन्यास और उसकी संभावनाओं को लेकर कुछ समय हुए एक लेख लिखा था। मुझे लगता है उपन्यास की जीवनी-शक्ति ख़त्म हो रही है।

श्री.व. : कैसे?

ऑ.पॉ. : बात यह है कि उपन्यास का जन्म इतिहास की एक ख़ास अवस्था में, एक ख़ास ज़रूरत के कारण हुआ था। वह साहित्य का आदि और मूल रूप नहीं। साहित्य की आदि शक्ति ट्रेजेड़ी है। उपन्यास ट्रेजेडी और ट्रेजेडी के बीच की, एक अंतराल की, चीज़ है। उपन्यास समाज के नाम इतिहास का एक एजेण्ट है। अगर वह

ट्रेजेडी के स्थान को भर सकता तब तो कोई बात नहीं थी। मगर ट्रेजेडी के स्थान को केवल ट्रेजेडी ही भर सकती है। उपन्यास के जन्म में ही उसकी मृत्यु की संभावनाएँ थीं और जहाँ तक मैं सोच पाता हूँ, धीरे-धीरे उपन्यास के इतिहास में फिर से गुम होते जाने के लक्षण नज़र आ रहे हैं।

श्री.व. : कौन-से लक्षण?

ऑ.पॉ. : ये लक्षण प्रूस्त और ज्वायस हैं जो अंतिम महान् उपन्यासकार हैं। उनके उपन्यासों में उपन्यास अपनी पराकाष्ठा और साथ ही साथ अपनी तर्कसंगत परिणति पर पहुँच गया है। उन्होंने अपने युग की शंका, अविश्वास, यथार्थ, अयथार्थ सबको उनकी पूरी गरिमा और ग़रीबी के साथ रखा है। लेकिन आप सोचिए, उपन्यास के विकास की इस प्रक्रिया में भाषा कहाँ तक पहुँची, प्रूस्त बुद्ध तक पहुँचे जहाँ 'मैं' नहीं रह जाता और ज्वायस वेबल की मीनार तक। एक में 'मैं' का उन्मूलन हो गया, दूसरे में 'अर्जुन, अर्जुन है' की अर्थवत्ता रह गयी। आप यही देख लीजिए न कि फ्रांस की, जिसे आप 'नये से नये आंदोलन का अग्रदूत' कहते हैं, वास्तविक उपलब्धि उपन्यास नहीं, कविता है। आगे की अवस्थाएँ उपन्यास नहीं, ट्रेजेडी और महाकाव्य हैं।

यह सोचकर कि चित्रकला के बारे में उनके विचार जानना मनोरंजक होगा जब मैंने अमूर्त चित्रों के बारे में उनसे सवाल किया तो उन्होंने अपने तीन कमरों की दीवार पर लगे तीन अमूर्त चित्र मुझे दिखाये और कहा कि इनमें से एक कलाकृति एक भारतीय चित्रकार की है, दूसरी, एक इटैलियन चित्रकार की और तीसरी, एक फ्रेंच की। लेकिन अगर हस्ताक्षर मिटा दिये जायें तो मेरे लिए यह भी पहचानना मुश्किल होगा कि कौन किसकी है? मेरा मतलब यह नहीं कि कलाकृति में जातीय विशिष्टता का होना ज़रूरी है, बल्कि यह है कि उसमें कलाकार की मुहर होनी ज़रूरी है। फ़िलहाल अमूर्त कला की दुनिया में अत्यधिक नकल है और इसका कारण यही है कि उसकी खोज का क्षेत्र संवेदना नहीं, फार्म है। लेकिन इससे आप इस नतीजे पर न पहुँच जायें कि पश्चिम की कला में गतिरोध है या पश्चिम में सांस्कृतिक संकट है। गतिरोध नहीं है, गति है, भयानक गति है।

श्री.व. : मेक्सिको में कविता की क्या स्थिति है?

ऑ.पॉ. : वही, जो अन्यत्र है। वहाँ भी कविता 'अल्पमत' है। मगर यह 'अल्पमत' एक परंपरा है जिसे दुनिया के अन्य कवियों की तरह मेक्सिको के कवि भी जीवित रखे हुए हैं।

चार घंटों की इस बातचीत को समाप्त करते हुए श्री ऑक्टेवियो पॉज़ ने कहा, 'बात 'कमिटमेण्ट' से शुरू हुई थी और वहीं ख़त्म होनी चाहिए। ज़रूरी यह है कि लेखक अपने आपको पहचाने और स्वीकार करे। आप इस महानगर में अकेले रहते हैं, हो सकता है आप मित्रहीन हों, हो सकता है आपने प्रेम किया हो, अपने संघर्ष में टूट रहे हों, सहानुभूति के दो शब्द भी आपको न मिलते हों। मानवीय स्थितियाँ ये हैं या समाज और मनुष्यता के वे बड़े-बड़े नारे जिनका न साहित्य के लिए कोई अर्थ है न मनुष्य के लिए?'

चलते-चलते उन्होंने कहा, 'मैं चाहता हूँ भारतीय बुद्धिजीवियों और आपके देश के समाचारपत्रों को लेकर मैंने जो कहा है मेरी ओर से उसका उल्लेख आप अपने लेख में ज़रूर करें। मैं सचमुच ही चाहता हूँ कि जो बौद्धिक जड़ता मुझे यहाँ दिखायी पड़ रही है, जल्द से जल्द समाप्त हो?'

उनके इस्तीफे के बाद, मैंने उनसे इस्तीफे में उठाये गए कुछ नैतिक प्रश्नों पर बातचीत की।

'छात्र असंतोष' पर बात शुरू करते हुए उन्होंने कहा कि 'इसे पीढ़ियों के संघर्ष के रूप में देखना ग़लत है। दरअसल इसकी जड़ें दूसरी जगह हैं और यह किसी एक देश की समस्या न रहकर सारे संसार की समस्या हो गयी है। हम जिस संसार में रह रहे हैं, वह संभवतः ग़लत संसार है और जब और लोग मौन हैं, तब छात्र आगे बढ़कर इस ग़लत संसार का विरोध कर रहे हैं।'

श्री.व. : यह विरोध और किस चीज़ का संकेत है?

ऑ.पॉ. : जो कुछ पश्चिम में हो रहा है, उसका। यह बात हमको स्वीकार कर लेनी चाहिए कि सारी विचारधाराएँ विफल हो चुकी हैं। हम यह मानें या न मानें, छात्र इन तमाम विचारधाराओं को अपर्याप्त मानकर ठुकरा रहे हैं। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में क्रांति का जो अर्थ विकसित हुआ, वह झूठा पड़ चुका है। क्रांति का अर्थ मर चुका है। छात्र क्रांति के इसी अर्थ के विरोधी हैं। राजनीतिक क्रांति की अवधारणा पश्चिम की देन है। पूर्व में ऐसी कोई कल्पना नहीं की गयी - यहाँ क्रांति को धार्मिक या सांस्कृतिक संदर्भों में समझा गया। पश्चिम में तीन बड़ी राजनीतिक क्रांतियाँ हुईं : फ्रांस, अमेरिका और रूस की। तीनों ने अपने परिणामों में मनुष्यता के गहरे अर्थों को नष्ट किया, या अगर यह न भी कहा जाय तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पश्चिम की समस्त रजनीतिक क्रांतियाँ मनुष्यता की समग्र आकांक्षा को स्वरूप देने में नाकाम साबित हुई है। शायद इसका कारण ही यह है कि वे महज़ राजनीतिक क्रांतियाँ थीं।

श्री.व. : छात्र क्या करना चाहते हैं? क्या वे क्रांति के विरुद्ध क्रांति करना चाहते हैं?

ऑ.पॉ. : वे क्रांति से विद्रोह कर रहे हैं। जैसा कि मैंने कहा, क्रांति के अर्थ का अधूरापन वे अच्छी तरह पहचान चुके हैं। वे इस नतीजे पर पहुंचने के लिए विवश हुए हैं कि प्रत्येक समूह-क्रांति का स्वरूप राजनीतिक होगा जो अंत में सत्ता और जड़ता तक पहुँचेगा। समाज को बदलने के लिए 'विद्रोही' गहरे अर्थों और समग्र व्यक्तित्व की तलाश करता है। सजग व्यक्तित्व के लिए एकमात्र रास्ता रह गया है विरोध और विद्रोह का : राज्य के ग़लत निर्णयों का विरोध और समाज की खोखली बुनियाद से विद्रोह। हमारे युग का विद्रोह छात्र-आंदोलन के रूप में व्यक्त हो रहा है। यह विद्रोह पश्चिम की समस्त जीवन-पद्धतियों और समाज-व्यवस्थाओं के लिए, चाहे वे पूंजीवादी हो या समाजवादी, एक चुनौती है। इस विद्रोह ने, इन समाज-व्यवस्थाओं के सुख, सुविधा, समृद्धि और अवकाश को कटघरे में खड़ा कर दिया है।

श्री.व. : इसका अर्थ हुआ कि पश्चिमी समाज-व्यवस्थाएँ स्वयं अपने ही पैदा किये हुए सवालों से घिर गयी हैं।

ऑ.पॉ. : हाँ, छात्र उनकी परीक्षा ले रहे हैं और इस इम्तिहान में ये जीवन-पद्धतियाँ लगातार अनुत्तीर्ण हो रही हैं। छात्र आधुनिक पश्चिमी सभ्यता के उत्स की ओर जा रहे हैं। शायद इससे यह जाना जा सके कि क्या ग़लत था कि सब कुछ ग़लत हो गया।

श्री.व. : क्या सभी देशों में छात्र असंतोष के एक - जैसे कारण हैं?

ऑ.पॉ. : मौटे तार पर मुख्य चुनौती एक है। मगर अलग-अलग देशों की अलग-अलग परिस्थितियाँ हैं। अमेरिका, फ्रांस और पश्चिमी यूरोप में छात्र-अंसंतोष एक जैसे कारणों से है।

श्री.व. : क्या मेक्सिको का छात्र-आंदोलन, जिसके दमन के विरुद्ध आपने इस्तीफ़ा दिया, लगभग उन्हीं कारणों से पैदा हुआ है जिनसे पश्चिमी यूरोप या अमेरिका का आंदोलन?

ऑ.पॉ. : मेक्सिको के छात्रों का विद्रोह मध्यवर्ग के नैराश्य और आक्रोश को अभिव्यक्त करता है। यह सही है कि मेक्सिको की क्रांति इस अर्थ में सफल रही कि उससे स्थायित्व आया और आर्थिक प्रगति हुई। मगर उसी अनुपात में विषमता बढ़ी और लोगों के राजनीति में हिस्सा लेने की परिस्थितियाँ सिकुड़ती गयीं। मेक्सिको के छात्र-विद्रोह की मुख्य आकांक्षा है देश की राजनीति में अधिक से अधिक हिस्सेदारी। इसका

कारण यह है कि आज मेक्सिको की सत्ताधारी पार्टी सिण्डीकेट बनकर रह गयी है। उसने जनता को उसकी राजनीतिक हिस्सेदारी से वंचित कर दिया है। मेक्सिको की राजनीति को समझने के लिए इस पार्टी का इतिहास जानना ज़रूरी है। एक ज़माने में यह पार्टी 'राष्ट्रीय क्रांतिकारी पार्टी' कहलाती थी। उन दिनों वह वामपंथी पार्टी थी। दस साल बाद उसे 'मेक्सिको क्रांति की पार्टी' का नाम दिया गया। तब तक वह वामपंथी न रहकर महज़ एक राष्ट्रीय पार्टी बन चुकी थी। और अब वह अपने को 'प्रतिष्ठानों की क्रांतिकारी पार्टी' कहना पसंद करती है। 'प्रतिष्ठान' और 'क्रांति' को एक-दूसरे का दुश्मन बताने वाले बर्ट्रेण्ड रसेल इस पार्टी के अंतर्विरोध को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं। आज यह पार्टी समूचे मेक्सिको का राजनीतिक नियंत्रण किए हुए है। इस 'नियंत्रण' का स्वभाव तानाशाही से भिन्न है। इस नियंत्रण का संदर्भ पूँजीवादी है और इसमें साम्यवाद जैसी कठोरता नहीं है। यह लोकतंत्र के भीतर मुट्ठीभर लोगों की अपने को सत्ता में बनाये रखने की इच्छा का प्रतीक है। मेक्सिको के छात्रों ने इसी नियंत्रण से विद्रोह किया था।

श्री.व. : यानी कि वे सत्ता को बदलने की क्रांतिकारी इच्छा रखते थे।

ऑ.पॉ. : क्रांति की इच्छा नहीं, 'परिवर्तन' की इच्छा। मुझे शब्दों से खेलना पसंद नहीं। मगर 'क्रांति' और 'परिवर्तन' दोनों के अलग-अलग अभिप्राय हैं और दोनों को एक कर देखने से हम ग़लत नतीजों पर पहुँच सकते हैं। मैं पहले कह चुका हूँ छात्र 'क्रांति' नहीं 'परिवर्तन' चाहते हैं। वे समस्त क्रांतियों का पतन देख चुके हैं।

श्री.व. : मगर फ्रांस के छात्र आंदोलन के दर्शनकार मारकुस का कहना है कि छात्र बीसवीं सदी की भावी क्रांतियों के वाहक हैं और छात्र-आंदोलन के दौरान फ्रांस की कम्युनिस्ट पार्टी के विश्वासघात पर टिप्पणी करते हुए ज्याँ पाल सार्त्र ने भी कहा था कि क्रांति का अगला दस्ता अब पार्टी नहीं, छात्र हो गए हैं।

ऑ.पॉ. : यह मारकुस का भ्रम है। छात्र और बुद्धिजीवी दोनों में से कोई भी क्रांति का वाहक नहीं। जहाँ तक मज़दूर वर्ग का प्रश्न है, वह अब क्रांति की इच्छाएँ अर्जित नहीं करता - यह बात पश्चिमी समाज के अध्येता ज़्यादा अच्छी तरह समझेंगे। छात्र और बुद्धिजीवी दोनों केवल विरोध कर सकते हैं और विरोध करते हुए परिवर्तन ला सकते हैं।

श्री.व. : सत्ता और बलप्रयोग के समाने यह विरोध कैसे टिक सकता है? क्या वह महज़ सांकेतिक होकर नहीं रह जायेगा। क्या फ्रांस के छात्रों का ज़बर्दस्त आवेग फ्रांस में कोई बुनियादी परिवर्तन कर सका? बल्कि अड़े हुए लोकमत और जमी हुई सत्ता के आगे वह पराजित हुआ।

ऑ.पॉ. : मैं यह नहीं मानता कि फ्रांस के छात्रों का आवेग पराजित हो गया या कि अकारथ गया। उसने पश्चिमी समाज की जड़ों को हिला दिया। इतनी जल्दी हमें नतीजों पर नहीं पहुँचना चाहिए। प्रतीक्षा करनी चाहिए। मैं जो बात कहना चाहता हूँ वह यह है कि समाज के पास छात्रों के प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं। मारकुस हों या सार्त्र, उनके पास इस बात का क्या उत्तर है कि पश्चिम की समस्त राजनीतिक क्रांतियाँ, चाहे वे पूंजीवाद की हों या साम्यवाद की अंततः नौकरशाही राज्यतंत्र बनकर क्यों रह गयीं क्या कारण है कि लेनिन की संतान चेकोस्लोवाकिया में अपने टैंक लेकर जाती हैं और लिंकन के उत्तराधिकारी वीएतनाम पर अनन्तकाल तक बमबारी करते-से जान पड़ते हैं? पश्चिमी सभ्यता इतिहास की बहुत बड़ी दुर्घटना है। एशिया में मौतों का हिसाब रखने वाले पश्चिमी विशेषज्ञों से मैं यह कहना चाहता हूँ कि अगर भारत में हज़ार आदमी कालरा से मरता है, तो यह कोई संतोष का कारण नहीं - पश्चिम में कई कार-दुर्घटना में मरते हैं। भारत यदि भुखमरी के कगार पर खड़ा है तो पश्चिम परमाणु बमों के ढेर पर खड़ा है। इसलिए पश्चिमी सभ्यता का यह गर्व झूठा है कि उसने इतिहास के प्रश्नों को सुलझा लिया है। प्रश्न सुलझाने के बजाय उलझ गए हैं।

श्री.व. : क्या आप यह सोचते हैं कि मार्क्सवाद भी इतिहास के प्रश्नों को सुलझाने में विफल रहा?

ऑ.पॉ. : मुझे यहाँ स्वीकार कर लेना चाहिए कि मैं मार्क्स को पिछली एक शताब्दी का सबसे बड़ा दार्शनिक और द्रष्टा मानता हूँ। मगर इतिहास के विषय में मार्क्स के निष्कर्ष अधूरे हैं। मार्क्स ने वर्ग सत्ता की स्थापना का स्पष्टीकरण किया था। किंतु आगे चलकर वर्ग-सत्ता निर्मम राज्यसत्ता में परिणत हो गयी। आज मनुष्य के 'एलीनिएशन' के लिए राज्यसत्ताएँ जिम्मेदार हैं।

श्री.व. : आपकी बातों से लगता है कि मनुष्य अवसादग्रस्त है और रोशनी की कोई लकीर नज़र नहीं आती।

ऑ.पॉ. : रोशनी का झूठा दावा करने से बेहतर है यह स्वीकार करना कि अँधेरा है। छात्र या बुद्धिजीवी या कवि या कलाकार पैग़म्बर नहीं हैं। वे दुनिया को रास्ता नहीं दिखा सकते। मगर राजनेताओं ने संसार को जिस जहन्नुम में पहुँचा दिया है, उससे विद्रोह अवश्य कर सकते हैं। और पश्चिम के छात्र और बुद्धिजीवी यही कर रहे हैं।

श्री.व. : क्या भारत पर भी यह बात लागू होती है?

ऑ.पॉ. : विश्व-सभ्यताओं में भारत का एक अनोखा स्थान रहा है। उसने अपने दर्शन से संसार का पथ-प्रदर्शन किया। लेकिन भारत, राजनीतिक अर्थों में, कभी भी

महान् सत्ता नहीं रहा। वह हमेशा विचारों के स्तर पर जीवित रहा। दूसरे 'गुप्त युग' को छोड़ वह हमेशा विश्व-सांस्कृति के प्रवाह में रहा। मौर्यों ने पश्चिमी प्रभाव को उसी तरह स्वीकार किया जिस तरह कि आज के कांग्रेसी शासकों ने। बल्कि बहुत-सी बातों में मौर्य उस ज़माने के कांग्रेसी थे। मध्ययुग में भारत ने मुगल संस्कृति को आत्मसात किया। राजनीतिक अर्थों में यह भारत की विफलता है। लेकिन गहरे अर्थों में यही भारत के बने रहने का कारण है कि उसने अपने अस्तित्व के लिए राजनीति के स्तर पर नहीं बल्कि दर्शन के स्तर पर संघर्ष किया।

श्री.व. : क्या आप यह कहना चाहते हैं कि मनुष्य केवल दर्शन के स्तर पर बचा रह सकता है?

ऑ.पॉ. : बहुत हद तक। महान् राज्य बनने का कोई अर्थ नहीं रह गया है। एक तो अब भारत चाहकर भी महान् राज्य नहीं बन सकता। इसके लिए अब बहुत देर हो चुकी है। लेकिन अगर वह महान् राज्य बन भी जाता है तो क्या हो जाता। माओ त्से-तुंग वैसे घटिया कवि हैं, लेकिन अगर वह महा कवि होते, तब भी मैं यह कहने में संकोच नहीं करता कि उन्होंने चीन को नष्ट कर दिया। उसे केवल राजनीतिक स्तर पर जीवित रखकर। शायद इसमें कुछ चीन की परम्पराओं का भी दोष है। चीन की दार्शनिक सूक्तियों में भी राजनीति है और चीनी जब भी पीछे की ओर मुड़ते हैं तो इन सुक्तियों से केवल राजनीतिक अर्थ प्राप्त करने के लिए - लेकिन इसकी तात्कालिक ज़िम्मेदारी 'सांस्कृतिक क्रांति' के प्रवर्तक माओ त्से-तुंग पर है। भारत की परंपरा चीन से भिन्न है। अगर भारत पीछे की ओर मुड़ता है तो राजनीति या कौशल के लिए नहीं बल्कि मनुष्य के दर्शन के लिए।

श्री.व. : अर्थ और राजनीति की दुनिया में लड़खड़ाते हुए भारत से आप दर्शन के स्तर पर जीवित रहने का आग्रह कर रहे हैं?

ऑ.पॉ. : मैं संन्यास नहीं सिखा रहा हूँ और न ही यह आग्रह कर रहा हूँ कि भारत को राजनीति से संन्यास ले लेना चाहिए। मेरे कहने का मतलब केवल इतना है कि आज हमें एक ऐसी विश्व-सभ्यता की आवश्यकता है जो वैज्ञानिक आकांक्षा और कविता के आंतरिक अनुशासन का समन्वय हो। यह संभावना मुझे केवल भारत में नज़र आती है। हो सकता है इसमें सौ साल लग जायें। मगर भविष्य के लिए दृष्टि शायद भारत से ही मिल सकती है?

श्री.व. : अतीतोन्मुख भविष्यदृष्टि?

ऑ.पॉ. : जीवन-प्रवाह को अतीत और भविष्य में बांटकर नहीं देखा जा सकता। मेरे विचार में बौद्ध धर्म केवल अतीत की चीज़ नहीं, बल्कि आज की चीज़ है। मैं सभी धर्मतंत्रों में बौद्ध धर्म से सबसे अधिक प्रभावित हुआ क्योंकि वह अधिक से अधिक दर्शन और कम से कम धर्म है, जबकि इस्लाम अधिक से अधिक धर्म और कम से कम दर्शन है। जो धर्म जितना अधिक दर्शन होगा वह उतना ही कालजयी होगा और जो दर्शन जितना ही अधिक धर्म होगा वह उतना ही अधिक क्षणभंगुर होगा।

श्री.व. : बौद्ध धर्म अब भी जीवित है, यह आप किस आधार पर कह रहे हैं।

ऑ.पॉ. : साँची के स्तूप के आधार पर, भारत की उस समस्त कला के आधार पर जिस पर बौद्ध दर्शन की छाप है। मुझे भारत में सबसे अधिक उसकी कला-परम्पराओं ने प्रभावित किया। मुझ पर तीन कला-पद्धतियों ने गहरी छाप छोड़ी। मथुरा का बौद्ध शिल्प, महाबलिपुरम का मंदिर और कार्ला की गुफाएँ। खजुराहों की कला भ्रष्ट है। उसमें स्थापत्य की आकांक्षा कम है, यौनाचार की अतिरंजना अधिक है। इसके अलावा यहाँ की लोककला की परम्पराएँ बहुत महान् हैं। लोककला भारतीय जीवन का अविभाज्य अंग है। मुझे यह देखकर पीड़ा होती है कि भारतीय बुर्जुआ इस लोकसंस्कृति को नष्ट कर रहा है।

श्री.व. : केवल लोकसंस्कृति को या और भी बहुत कुछ को?

ऑ.पॉ. : सब कुछ को। मुझे सबसे अधिक घृणा यहाँ के अंग्रेज़ी पढ़े वर्ग से है, जो एक ओर साहित्य और संस्कृति का स्वाँग करता है, दूसरी ओर अपने ही देश की सांस्कृतिक आकांक्षाओं को नष्ट करता है। इसने कला को संग्रहालय की चीज़ बना दिया है। इसकी रुचि घटिया और भद्दी है। और यही यहाँ का शासक वर्ग बन बैठा है। यह पाखण्डी और नक्काल वर्ग है। इसने अंग्रेज़ी साहित्य का भी अधूरा अध्ययन किया है। शेक्सपीयर उसके लिए ड्राइंगरूम की सजावट की चीज़ है। जब तक यह वर्ग बना रहेगा तब तक भारत का साहित्य और कला विकसित नहीं हो सकते। बल्कि मैं तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि उसके रहते भारत राजनीतिक अर्थों में भी कभी स्वाधीन नहीं हो सकता। लोग यह बात भूल जाते हैं कि संस्कृति के माध्यम से भी शासन किया जाता है, संस्कृति की भाषा में भी राजनीति की इच्छाएँ व्यक्त होती हैं। ब्रिटेन और अमेरिका भारत के अंग्रेज़ीपरस्त शासक वर्ग के माध्यम से भारत में पूर्ववत् बने हुए हैं। भारतीयों को यह पहचानना होगा कि वे अभी एक दूसरे अर्थ में दास बनाकर रखे गए हैं।

अपनी बात जारी रखते हुए ऑक्टेवियो पॉज़ ने कहा, "वैसे मैं राजनीति से परहेज नहीं करता। मगर मैं यह मानता हूँ कि बुद्धिजीवी की राजनीतिक हैसियत में अकसर छल होता है - वह अकसर राजनेताओं का दास होता है। राजनीति को बदलने के

लिए राजनीति से विद्रोह और समाज को बदलने के लिए समाज की आलोचना, गहरी शंका आवश्यक होती है। यहाँ आकर मैंने पाया कि अधिकतर राजनीतिज्ञ अबौद्धिक हैं और अधिकतर बुद्धिजीवी राजनेताओं के दास हैं। मैं स्वामिनाथन और शामलाल से इसलिए प्रभावित हुआ कि उनमें शंका की प्रवृत्ति है और अलोचनात्मक दृष्टि है। वे प्रतिष्ठित मूल्यों से उदासीन हैं। एक और आदमी ने मुझे बहुत प्रभावित किया। नीरोद चौधरी। हालाँकि नीरोद चौधरी खब्ती है, मगर मेरी राय में वह बहुत बड़ा लेखक है। वह दक्षिणपन्थ का वाल्टेयर है, हालाँकि मुझे भारत में वामपन्थ के वाल्टेयर की प्रतीक्षा है। मुझे भारत के राजनीतिज्ञों से बहुत उम्मीदें नहीं। मगर यहाँ के कवियों और कलाकारों से बहुत आशाएँ हैं। उनमें विरोध की प्रवृत्ति है और जूझने का एक अनोखा संकल्प है। उन्हें केवल इतना ध्यान रखना होगा कि किसी भी कलाकार का संकल्प उसके अपने माध्यम से व्यक्त होता है। दूसरों के माध्यम से नहीं। भारत के कवि और कलाकार क्या करते हैं, इसके बारे में मुझे उत्सुकता बनी रहेगी।'